Contribution of Panditaraja Jagannatha

To

Sanskrit Poetics

संस्कृत काव्यशास्त्र को पण्डितराज जगन्नाथ का योगदान

[इलाहाबाद विश्वविद्यालय की डी०फ़िल उपाधि के लिए प्रस्तुत शोध प्रबन्ध]

लेखक

कमलेशदत्त त्रिपाठी

एम० ए० व्याकरणाचार्य, धर्मशास्त्राचार्य

निर्देशक

डा० चण्डिकाप्रसाद शुक्ल

एम० ए०, डी० फ़िल, साहित्याचार्य

निवेदन

संस्कृत काव्यशास्त्र और साहित्य के अध्येता के मन में पण्डितराज जगन्नाथ के नाम के साथ एक धुरंधर पण्डित, गम्भीर किन्तु तीक्ष्ण आचार्य, मृद्वीकारसभरी-माधुरीसिक्तवाक् कवि, विद्रोही और किम्वदन्तियों में लिपटे व्यक्तित्व की मूर्ति उभरती है। प्रतीत होता है, रत्नसानु के मूल से लेकर मलयवलयित पयोधि के कूल तक के काव्य-रचना विदग्ध कवियों और शास्त्रावगाहन-निष्णान्त पण्डितों को बलात् अपनी आचार्यता और काव्यचातुर्य मनवा देने के लिए कोई दृप्त, आश्वस्त विद्वान् ललकार रहा है। उसके शब्दों में ओज है और उसकी चेष्टा में निर्भयता। यह व्यक्तित्व अनायास ही अपनी स्वच्छन्दता और कविता में बाण, अपनी ललकार में भवभूति, अपने वैदुष्य में, गर्वोक्ति में उदयनाचार्य और अपनी आचार्यता में आनन्दवर्धन और अभिनव सरीखे आचार्यों की याद दिलाता है।

मेरे मन में पण्डितराज का यह चित्र छात्र जीवन के आरम्भिक दिनों से ही अंकित था और यह मेरे लिये अत्यन्त सौभाग्य का विषय था, जब संस्कृत एवं पालि भाषाओं के तत्कालीन विभागाध्यक्ष और हमारे परम श्रद्धेय, पूज्य-चरण, गुरुवर्य डा० बाबूराम जी सक्सेना ने मेरे स्नातकोत्तर उपाधि के प्राप्त करते ही मुझे अनुग्रह-पूर्वक पण्डितराज जगन्नाथ पर अनुसन्धान करने के लिये प्रेरित किया। उन जैसा गम्भीर प्रतिभाशाली आचार्य मुझे पण्डितराज जगन्नाथ सरीखे पारदृश्वा आचार्य की रचना पर अनुसन्धान कार्य करने का पात्र समझे, इससे मेरा भाग्योदय ही व्यक्त होता है। आचार्य महिम के शब्दों में —" महतां संस्तवश्च गौरवाय ॥" मैं उनके प्रति अपने सश्रद्ध प्रणति निवेदित करता हूं, उनके आभार से तो मैं कहां मुक्त हो सकता हूं।

इस गुरुतर कार्य को करने का प्रोत्साहन और निर्देश मुझे आदरणीय गुरुवर डा० चण्डिकाप्रसाद जी शुक्ल से सर्वदा मिलता रहा। उनके सानुग्रह निर्देश के बिना मुझ से कुछ न हो पाता। उनके प्रति मैं अपना हार्दिक आदर व्यक्त करता हूं।

हमारे विभाग के वर्तमान अध्यक्ष परमादरणीय पं० सरस्वती-प्रसाद चतुर्वेदी के प्रति मेरा हार्दिक आभार है जिन्होंने अपने अलंघ्य आदेश से मुझे यथासमय यह प्रबन्ध प्रस्तुत करने के लिये प्रेरित किया है।

मैं उन विद्वानों के प्रति अपने मन की हार्दिक कृतज्ञता व्यक्त करता हूं जिनकी रचनाओं से मैं अत्यन्त लाभान्वित हुआ हूं और जिनके चरणों में बैठकर मुझे यत्किंचित ज्ञान हुआ है।

अन्त में मैं अपने आत्मीयों के लिए किन शब्दों में अपना आदर, अपना स्नेह और अपने मन की वह कोमल भावनाएं व्यक्त करूं, यह मैं समझ नहीं पा रहा हूं। उनकी चिन्ता और उनके सहयोग से ही मैं कुछ कर पाया हूं।

१५ सितम्बर, १९६६

——— कमलेशदत्त त्रिपाठी

भूमिका

मेरे शोध का अधिकृत विषय `कान्ट्रीब्यूशन आफ पण्डितराज जगन्नाथ टु संस्कृत पोइटिक्स` निश्चित किया गया, जिस शीर्षक का हिन्दी-रूपान्तर मैंने `संस्कृत काव्यशास्त्र को पण्डितराज का योगदान` किया है। पण्डितराज के काव्यशास्त्रीय आचार्य रूप का विवेचन मेरे अध्ययन का विषय रहा है। यद्यपि पण्डितराज जगन्नाथ के सम्बन्ध में कार्य पिछले पचीस-तीस वर्षों में किया गया है और पण्डितराज के व्यक्तित्व, स्थितिकाल और कृतित्व पर विद्वानों ने प्रकाश डाला है, अनुसन्धानपत्रिकाओं में लेख लिखे गये हैं, किन्तु स्वतंत्र ग्रन्थ के रूप में श्री वी० रामास्वामी शास्त्री के `जगन्नाथ पण्डित,`[1] डा० प्रेमस्वरूप गुप्त के रसगंगाधर का शास्त्रीय अध्ययन (अलंकार भाग छोड़ कर)[2] तथा डा० आर्येन्द्र शर्मा द्वारा सम्पादित `पण्डितराज-काव्य-संग्रह`[3] के अतिरिक्त अन्य कोई रचना हमारी जानकारी में नहीं आयी है। पण्डितराज के व्यक्तित्व, स्थितिकाल और कृतित्व का परिचयात्मक विवेचन श्री शास्त्री ने अपनी रचना में भलीभांति कर दिया है। डा० आर्येन्द्र शर्मा पण्डितराज की काव्य रचनाओं का जितना आधिकारिक, प्रामाणिक और सुसम्पादित संस्करण प्रदान किया है, वह पण्डितराज के सम्बन्ध में किये जाने वाले कार्यों में निकष-सा है। डा० प्रेमस्वरूप गुप्त ने पण्डितराज के काव्यशास्त्रीय योग-

---

१. वी०ए० रामास्वामी शास्त्री — जर्नल, अन्नामलाई युनिवर्सिटी, वाल्यूम २, पृ० २०१—२०८, वाल्यूम ३, पृ०—१०६-११६, २२६—२४४, वाल्यूम ४, पृ० १४६-२६२-२७४।

पुस्तकाकार, जगन्नाथ पण्डित, १९४२ ई०, अन्नामलाई नगर।

२. रसगंगाधर का शास्त्रीय अध्ययन — अलीगढ़, १९६२

३. पण्डितराजकाव्यसंग्रह — डा० आर्येन्द्र शर्मा, हैदराबाद, १९५८ ई०

दान को अत्यन्त योग्यता और गंभीरता से प्रस्तुत किया है और इसमें सन्देह नहीं कि उन्होंने पण्डितराज की दार्शनिक चेतना को सही पहचानकर रसगंगाधर को प्रामाणिक रूप से मूल्यांकित किया है, किन्तु प्रथमत: उनके निष्कर्षों में मतभेद की गुंजायश है[1], दूसरे उनका प्रबन्ध पण्डितराज द्वारा विवेचित दो तिहाई रसगंगाधर ग्रन्थ का अर्थात् अलंकार भाग का स्पर्श ही नहीं करता। सत्य तो यह है कि विद्वानों ने पण्डितराज के योगदान को मूल्यांकित करते हुए उनके अलंकारविवेचन की मुक्तकण्ठ से प्रशंसा की है।[2] डा० शिवप्रसाद भट्टाचार्य जैसे वरिष्ठ विद्वान् ने स्वीकार किया है कि आधुनिक विद्वानों ने उनके अलंकार विवेचन की उपेक्षा की है।[3] अत: पण्डितराज के काव्यशास्त्रीय योगदान पर समग्र और गंभीर आलोड़न की आवश्यकता बनी ही रही है। इस स्थिति में हमारे शोध-प्रबन्ध का क्षेत्र और विवेचन की आवश्यकता स्पष्ट और असन्दिग्ध है। संस्कृत काव्यशास्त्र की सुदीर्घ परम्परा आचार्य भारत से आरम्भ होकर पण्डितराज के समय तक सुप्रतिष्ठित और अत्यन्त समृद्ध हो गयी। विभिन्न सम्प्रदायों और उनके व्याख्याता आचार्यों की इस समृद्धि शृंखला में रचनाएं विद्यमान हैं।

पण्डितराज की विवेचन पद्धति और हमारी शोध दृष्टि :—

पण्डितराज इस लम्बी शृंखला में बहुत परवर्ती आचार्य हैं, किन्तु अपनी विशिष्ट एवं स्वतंत्र विवेचन पद्धति, विवेच्य विषय के प्रति मौलिक दृष्टि और स्वयं सुदीर्घ परम्परा के दायस्वरूप उनको विशिष्ट स्थान बन गया है। उनकी शैली की विशिष्टता की ओर ध्यान दिलाते हुए श्री गिरिधरशर्मा चतुर्वेदी ने कहा है —

---

१. डा० हरवंशलाल शर्मा, प्राक्कथन, पृ० २, रसगंगाधर का शास्त्रीय अध्ययन।
२. पं० गिरिधरशर्मा चतुर्वेदी, रसगंगाधर, भूमिका, पृ०-२
३. रसगंगाधर एण्ड इट्स कान्ट्रीब्यूशन टू संस्कृत पोइटिक्स, स्टडीज इन इण्डियन पोइटिक्स, पृ० १४

न्यायमीमांसादिशास्त्रसरणिमनुसरन्ती येयं विवेचनापद्धति: श्रीमदभिनव गुप्तपादाचार्यैरलंकारशास्त्रे इ्ंकुरिता, वाग्देवतापरावतारै: श्रीमम्मट भट्टै: कन्दलिता, श्रीमदप्पयदीक्षितप्रभृतिभि: पुष्पिता, सेयं पण्डितराजेति यथार्थ विरुदेन श्री जगन्नाथत्रिशूलिना फलवत्तामापादितेति नास्त्यत्र संशयावसर: ।[१]

पण्डितराज की इस विवेचन पद्धति को अलंकार-विवेचन की परिपम्बसरणि में देखने के पर्याप्त कारण है ।

पण्डितराज ने काव्यशास्त्र के इतिहास में निर्णीत से समझे जा चुके प्रश्नों को फिर से उठाया, उन पर किये गये समस्त प्राचीन विचारों का उपस्थापन और मथकर नवीन समाधान प्रस्तुत किये । शाब्दीव्यंजना स्थल पर यिका गया विचार और रसों की संलक्ष्यक्रमता के सम्बन्ध में उठाये गये प्रश्न इसके उदाहरण हैं । प्राचीन आचार्यों के लक्षणों की परीक्षा और विश्लेषण कर नवीन परिभाषाएं प्रदान कर विषय का असन्दिग्ध और स्पष्ट स्वरूप उपस्थित करने में उनकी समता नहीं है, उपमा, समासोक्ति और पर्यायोक्त का लक्षण एवं स्वरूप विवेचन इसका साक्षी है ।

यद्यपि भामह और दण्डी तथा उद्भट जैसे आचार्यों ने अपने उदाहरण प्रस्तुत कर काव्यशास्त्रीय विवेचन प्रस्तुत किये और विद्याधर, विद्यानाथ, कविकर्णपूर तथा जीव गोस्वामी के उदाहरण भी पण्डितराज के सम्मुख प्रस्तुत थे [१] किन्तु पण्डितराज द्वारा केवल अपने औरनूतन उदाहरणों का महत्व कुछ दूसरा ही है । पण्डितराज के स्वनिर्मित उदाहरणों के सम्बन्ध में सजग हैं ।[२] उनके ललित, सुभग, अम्लान और अभिव्यक्ति लावण्य से ओतप्रोत उदाहरण उनके आलोचन अभिन्न अंग हैं । कहीं उन्होंने स्वसिद्धान्त को हस्तामलक कर देने के लिये इनका प्रयोग किया है । प्रतीप अलंकार विवेचन के प्रसंग

---

१. प्रारम्भिकवक्तव्यम् – गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी, रसगंगाधर, पृ० १

२. शिवप्रसाद भट्टाचार्य – स्टडीज़ इन इण्डियन् पोइटिक्स, पृ० ११-१२

३. निमग्य नूतनमुदाहरणानुरूपं काव्यं मयाभि निहितं न परस्य किंचित ।
किं सेव्यते सुमनसां मनसापि गन्ध:, कस्तूरिकाजननमोभृतामृगेण ।।
— रसगंगाधर, प्रस्तावनाश्लोक, पृ०३

में उपमान की अद्वितीयता के गर्व को हरने के लिये उसके किसी दूसरे के प्रदर्शन में यदि द्वितीय प्रतीप माना जाय, तो उसके तिरस्कार की तरह पुरस्कार में भी कोई नवीन अलंकार माना जा सकता है।' किन्तु उदाहरण के बिना इसकी उपपत्ति कोई नहीं दे पाया। पण्डितराज अपने उदाहरणों के द्वारा यह स्पष्ट कर दिया। इसी तरह समासोक्ति में भी प्रकृत के अप्रकृतव्यवहारसमारोप ही दीक्षित मानते हैं, किन्तु पण्डितराज ऐसा उदाहरण प्रस्तुत करते हैं कि समसमारोप मानने के अलावा दूसरा चारा नहीं है।[१]

इसीलिये अन्य आलंकारिकों के मत परीक्षण के समय वे उनके प्रदत्त अलंकारों की भी परीक्षा करते हैं और उनसे आलोचन प्रक्रिया को स्पष्ट करते हैं।

पण्डितराज ने अन्य विद्वानों के स्ववचनविरोधी मतों को उपस्थित कर भी उनके वचनों की परीक्षा की है। शोभाकर का उपमेयोपमा सम्बन्धी तथा अप्पय का अनुज्ञा और तिरस्कार में विवेचित कथन इसके उदाहरण हैं।

रुय्यक, जयरथ, शोभाकर और जयरथ के मतों को उपस्थित करते हुए उन्होंने प्राय: अपने शब्दों में उनका अनुवाद और उपस्थापन किया है। किन्तु इस अनुवाद और उपस्थापन में वे मूलग्रन्थ के भाव को और भी प्रामाणिकतापूर्वक उपस्थित करते हैं, कभी कभी उसे उसी दिशा में पल्लवित भी कर देते हैं। वामनाभिमतगुणों के लक्षणों का उपस्थापन इसका उदाहरण है। वे इसमें निजी रुचि अरुचि का भी पुट देते हैं और यह उनके विवेचन की प्रभावशालिता बढ़ाती है। उनका कटाक्ष और आक्रमण भी एक आकर्षक साहित्यिक आस्वाद को उत्पन्न करता है।

अपनी विचारसरणि में 'मनन' का उपयोग भी स्वयं पण्डितराज

---

१. उपोद्घात—भट्ट मथुरानाथ शास्त्री—रसगंगाधर, पृ० १६

घोषणा करते हैं —

> निमग्नेन क्लेशैर्मननजलधेरन्तरुदरं
> मयोन्नीतो लोके ललितरसगंगाधर मणिः ।
>
> हरन्नन्तर्ध्वान्तं हृदयमधिरुढो गुणवता-
> मलंकारान् सर्वानपि गलितगर्वान् रचयतु ।।[१]

मननजलधि के भीतर पैठ कर मैंने रसगंगाधर रूप ललितमणि निकाली । आन्तरिक अन्धकार को दूर कर, गुणीजन के हृदय पर विराजती यह सारे ...कार ग्रंथों के गर्व को दूर दे ।' उन्होंने अपने को 'मननतरितीर्णि' भी कहा । ...पि बहुत से आचार्यों ने अपने मनन और विचार का दावा किया है, किन्तु ...डतराज के विचारपद्धति में यह मनन और चिन्तन अनुस्यूत हो कर आया है । मनन उनकी बहुमुखी प्रतिभा और नैयायिक शैली के कारण 'नामूलकथन' ...र नानपेक्षित' भाषण का सुन्दर फल दे गया है । यद्यपि न्याय की इस ...र्किक, विश्लेषणात्मक और द्वन्द्वात्मक पद्धति के कारण बोध में कठिनता ...श्य आयी है, किन्तु वह ऐसा जटिल नहीं है कि दर्जनों टीकाकार उसके मर्मो- ...टन के अपेक्षित हो । न तो वह मम्मट की भाँति अत्यन्त सूक्ष्म सूत्र शैली ...र कुन्तक की भाँति वाग्जाल का प्रयोग करते हैं । उनके विवेचन में स्पष्टता, ...अल्पता, किन्तु विशदता सर्वदा विद्यमान् रहती है ।

विषय को स्पष्ट करने के लिये और प्रक्रिया को प्रदर्शित करने के ...ो तथा बात को अचूक ढंग से कहने के लिये पंण्डितराज ने परिष्कार की शैली ...र शाब्दबोध का सहारा लिया है । यह अलंकार शास्त्र के लिये सर्वथा नवीन ...ग था । व्याकरण, न्याय और मीमांसा के अपने गंभीर ज्ञान का उपयोग ...डतराज काव्यशास्त्रके सिद्धान्तों को उद्भाषित करने में करते हैं ।

श्री वी०रामास्वामी शास्त्री ने पण्डितराज की विचारसरणि की

---

१. रसगंगाधर, पृ० २-३ ।

ा भूरि-भूरि प्रशंसा की है।[१]

नारी दृष्टि :—

पण्डितराज ने जिस प्रकार काव्यशास्त्र के व्यापक पक्षों पर र्युक्त पद्धति से निरूपण किया, उससे विषय की विशालता और गंभीरता ष्ट है। हमने इस सारे विषय को एक प्रबन्ध में समेटने के लिये एक दृष्टि शेष से कार्य किया है। विषय-विवेचन का वही क्रम अपने स्वीकार किया , जो हमारे आचार्य ने रखा है। प्रबन्ध लेखन की सुविधा के लिये कहीं-कहीं धारण परिवर्तन किया गया है। विवेच्य विषय की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि र सामान्य दृष्टिपात करते हुए विचार तत्व के विकास में पंडित राज के गदान को निरूपित करने का प्रयत्न किया गया है। पण्डितराज ने विवेचन अपने उदाहरणों और अन्य आचार्यों के विवेचन का भाग प्रचुर है, किन्तु ध की सीमा को ध्यान में रख कर ग्रन्थ के उदाहरण भाग का परीक्षण ड़ दिया गया है, क्योंकि उसे करने पर शोध का कलेवर अत्यधिक बढ़ जाता। के अतिरिक्त पण्डितराज के अभिमत समस्त सैद्धान्तिक पक्ष पर विचार कर े से काव्यशास्त्र में उनके योगदान पर प्रकाश डालने का हमारा उद्देश्य पूरा ोता है जहां सैद्धान्तिक विवेचन के सर्वथा अविभाज्य अंग बनकर उदाहरण आये , वहां उदाहरणों का विवेचन भी यथा स्थान और उचितरूप में हमने अवश्य या है।

. His innate independence in the treatment of subject matter in poetics, his harmonization of some of the old theories with the new ones, his argumentation of those theories in a logical method and above all, his own original, apt illustrations, those echo and reverberate and the polemical yet self-confident sentiments of the famous poet critic Bhavabhuti in his Malatimadhava."

—Journal of Annamalai University, Vol. III, No. 2, p. 229.

पण्डितराज के मत को उपस्थित करते समय उन्हें हमने अपनी भाषा
उपस्थित किया है। पण्डितराज के मूल शब्दों के लिये ग्रंथ का सन्दर्भ पाद-
प्पणी में दे दिया गया है। विचार समुपस्थित करते समय पूरा का पूरा
का उद्धरण भी एक तो दुहराने के भय से और दूसरे स्थानसंकोच के कारण
ं दिये गये हैं। किन्तु आवश्यक स्थलों पर मूल अंशों के उद्धरण में भी कोई
चि नहीं किया है। पण्डितराज के विशिष्ट योगदान को आकलित करने की
टा की गयी है। पण्डितराज के काव्यकी महान् रचना `रसगंगाधर` पर ही
रा विवेचन केन्द्रित है। `चित्रमीमांसाखण्डन` का भी उपयोग कर लिया
ा है, किन्तु एक तो वह `रसगंगाधर` के अंश का ही संकलन है, दूसरे अत्यन्त
है, अतः उसके पृथक् निर्देश की आवश्यकता का अनुभव नहीं किया है।

यद्यपि हमारा शोध-विषय पण्डितराज के द्वारा किये गये काव्य-
स्त्रीय योगदान तक ही सीमित है, किन्तु विषय के उपस्थापन और आचार्य
प्रति श्रद्धा के कारण हम पूर्व विद्वानों की रचना के आधार पर पण्डितराज
व्यक्तित्व, कृतित्व और स्थितिकाल से सम्बद्ध संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत कर
हैं।

पण्डितराज जगन्नाथ ने सौभाग्य से अपने सम्बन्ध में कुछ उल्लेख किया
। वे वेंगीनाडु (वेंगिनाटीय)[१] कुल के तैलंग ब्राह्मण थे। उनके पिता पेरु भट्ट
ा पेरमभट्ट थे और माता लक्ष्मी नाम्नी थीं। पण्डितराज अपने पिता को
हागुरु` कहते हैं और उनसे उन्होंने समस्त शास्त्र अधिगत किये।[२] उनके पिता
स्वयम् काशी में ज्ञानेन्द्रभिक्षु से ब्रह्मविद्या, महेन्द्र से कणाद और अक्षपाद

पण्डितराज काव्य संग्रह, भूमिका, पृ० - ७

`तं वन्दे पेरुभट्टाख्यं लक्ष्मीकान्तं महागुरुम्।` — रसगंगाधर, पृ० २

`श्रीमत्पेरमभट्टसूनुरनिशं -प्राणाभरण- ५३, पण्डितराज का० सं०, पृ० १२०

गम्भीर वाणी, खण्डदेव से मीमांसा और शेष से [1] व्याकरण का अध्ययन
ा था । [2] पण्डितराज ने स्वयं शेषवीरेश्वर से व्याकरण पढ़ा । [3]

पण्डितराज ने अपनी रचनाओं में ' दिल्ली नरपति, दिल्लीश्वर,
ीधरा वल्लभ तथा नामत: जहांगीर (१६०५-१६२७ ई०), शाहजहां (१६२८-
६ई०) आसफखां (नूरजहां का भाई, जिसकी मृत्यु १६४१ ई० में हुई)
पुर के जगत्सिंह (१६२८-१६५६ ई०) और कामरूप के प्राणनारायण
सम्का नरेश --१६३३- १६६६) का उल्लेख किया है । दिल्लीश्वर आदि
षण शाहजहां (अथवा । और जहांगीर ?) का उल्लेख करते प्रतीत होते
एक श्लोकमें उन्होंने नेपाल के किसी अज्ञात राजा की प्रशंसा की है । [4]

इन संरक्षकों की तिथि के आधार पर यह माना जा सकता है कि
ितराज की साहित्यिक क्रियाशीलता १६२०- १६६० तक थी । [5]

पण्डितराज ने अप्पय दीक्षित की आलोचना रसगंगाधर और चित्र-
ांसा खण्डन में की है । भट्टोजिदीक्षित की आलोचना में रसगंगाधर और
रमा कुच मर्दन में की गई है । अप्पय दीक्षित का जन्म १५२० (या १५२३ई०)

श्री पी०वी० काणे के अनुसार ये शेष शेषवीरेश्वर हैं, किन्तु डा० आर्येन्द्र
शर्मा का यह सुझाव कालक्रम को ध्यान में रखते हुए अत्यन्त तर्क सम्मत प्रतीत
होता है कि यहां ये शेष भट्टोजि के गुरु शेष श्रीकृष्ण ही हैं', वे
पण्डितराज के पिता के भी समसामयिक रहे होंगे ।

— पादटिप्पणी २, भूमिका पं०कास
पृ० ७

रसगंगाधर भूमिका श्लोक २
पण्डितराज काव्य संग्रह, भूमिका, पृ० ७
पण्डितराजकाव्य संग्रह भूमिका, पृ० ७-८
पण्डितराज काव्य संग्रह, भूमिका, पृ० ८

और मृत्यु १५६३ (या १६२६ ई० में हुई ज्ञात होती है। भट्टोजि दीक्षित की साहित्यिक गतिविधि १५८० से १६३० तक मानी जाती है। ये तिथियां पण्डितराज की साहित्यिक गतिविधि की तिथियों से संगत होती हैं जो निश्चय ही दीक्षित वय से पर्याप्त कनिष्ठ थे।[१]

लवंगी सम्बन्धी श्लोकों को प्रामाणिक मानते हुए यह कहा जा सकता है कि पण्डितराज मुग़ल दरबार में किसी मुसलमान लड़की के प्रेम मे पड़े।[२]

भामिनी विलास में पण्डितराज के कथन से पता चलता है कि उन्होंने अपनी नवीन वयस् मुग़ल दरबार में बितायी और बाद का जीवन मथुरा या बनारस में। परम्परा के अनुसार उनके जीवन का अन्तिम भाग बनारस में बीता

अत: साक्ष्य से यह स्पष्ट है कि पण्डितराज जहांगीर, जगत् सिंह, शाह जहां और प्राणनारायण इन चार शासकों की राजसभाओं में रहे। जहांगीर का शासन काल १६०५--१६२७ ई० तक है और शाहजहां ने १६२८ में उससे उत्तराधिकार प्राप्त किया। जगत्सिंह भी १६२८ में उदयपुर के शासक बने। शाहजहां ने लगभग ३० वर्षों तक शासन किया। १६५८ ई० में उसकी मृत्यु के बाद उत्तराधिकार का संघर्ष आरम्भ हुआ। एक छोटे से अन्तराल (१६५६-१६६१ ई०) को छोड़ कर, जब कि वे बंगाल के प्रशासक मीरजुमला के हाथों पड़ने से बचने के लिए भूटान भाग गये थे। शेष १६३३ से १६६६ तक के पूरे काल तक प्राणनारायण ने शासन किया। अतएव डा० आर्येन्द्र शर्मा के अनुसार इसकी समस्त संभावनाएं हैं, कि पण्डितराज ने अपने साहित्यिक जीवक के आरंभिक ५ वर्ष जहांगीर की

---

१. पण्डितराज काव्यसंग्रह, पृ० ८ .

२. डा० आर्येन्द्र शर्मा इन श्लोकों को प्रामाणिक मानते हैं। महामहोपाध्याय काणे इस कहानी को गलत और उनके द्वारा फैलायी मानते हैं जो पण्डितराज की आक्रामक वाणी के शिकार हुए थे किन्तु पण्डितराज के व्यक्तित्व से इस कहानी का विरोध नहीं प्रतीत होता।

१. इन श्लोकों पर पूर्ण सूचना के लिए देखिए —

३. पण्डितराज काव्यसंग्रह, भूमिका, पृ० ६

राजसभा में बिताए । १६२७ में उसकी मृत्यु के बाद आगरा में स्थिति व्यवस्था पूर्ण नहीं थी इसलिए संभवत: पण्डितराज उदयपुर जगतसिंह की राजसभा में चले गए । अन्यथा जगतसिंह की प्रशस्ति लिखने का कोई अवसर न होता । आगरा में स्थिति ठीक हो जाने और शाहजहां के शासक हो जाने पर पण्डितराज कदाचित् शाहजहां का निमंत्रण प्राप्त कर मुगलदरबार में लौट आए । स्पष्टत: वे १६५८ ई० में शाहजहां की मृत्युतक आगरा में रहे । डा० आर्येन्द्र शर्मा के अनुसार रसगंगाधर, चित्रमीमांसा खण्डन और आसफविलास इसी काल में लिखे गये । बड़े सुरक्षित ढंग से यह माना जा सकता है कि लगभग १६५८ में वे प्राणनारायण की राजसभा में चले गए । किन्तु वहां वे ज्यादा दिन नहीं रह सके क्योंकि १६५६ ई० में प्राणनारायण को स्वयं भूटान भाग जाना पड़ा । आसाम की राजसभा के पण्डितराज काशी चले आए, ऐसा प्रतीत होता है । वहां उन्होंने देवचिन्तन में अपना शान्त जीवन बिताया ।[१]

डा० आर्येन्द्र शर्मा का मत है कि पण्डितराज ने मथुरा की अपेक्षा काशी में ही अपने अन्तिम दिन बिताये । इसकी पुष्टि परम्परा से ही नहीं हो जाती बल्कि इसलिए भी संभावित प्रतीत होती है क्योंकि यह कठिन लगता है कि वे उस आगरा के समीपवर्ती प्रदेश (मथुरा) में लौटे हों जहां राजनीतिक स्थितियां इतनी अनिश्चित थीं । इसके पर्याप्त प्रमाण हैं कि उनके पिता की शिक्षा बनारस में हुई और वे यहां रहे । पंण्डितराज ने भी अपना बाल्यकाल बनारस में ही बिताया होगा और तब यह स्वाभाविक ही होगा कि वे मथुरा की अपेक्षा कमोवेश अपने घर-सरीखे बनारस को ही लौटते । डा० शर्मा के अनुसार हम यह भी मान सकते हैं कि उन्होंने इसी काल में मनोरमा कुच मर्दन और 'शब्द कौस्तुभ-शाणोत्तेजन' इसी काल में लिखा । मथुरा की अपेक्षा बनारस में व्याकरण के लिखने के लिए आवश्यक स्फूर्ति और वातावरण भी मिला होगा । यह स्पष्ट है कि भामिनी विलास की कृति संकलित तब हुई होगी जब पण्डितराज

---

१. पण्डितराज काव्य संग्रह, भूमिका, पृ० ६-१०

राजसभाओं के जीवन को समाप्त कर चुके थे ।[१]

डा० आर्येन्द्र शर्मा के अनुसार पण्डितराज ने अपनी तेरह रचनाएं जिस क्रम से की वह निम्नलिखित है —

प्रथम काल :— शाहजहां के दरबार में पांच लहरियां और जगदाभरण ।
द्वितीयकाल:— आसफ विलास, रसगंगाधर और चित्रमीमांसा खण्डन् ।
तृतीयकाल— प्राणनारायण की राजसभा में प्राणाभरण ।[२]
चतुर्थ :— वाराणासी का स्थिति काल — मनोरमा कुचमर्दन, शब्दकौस्तुभ शाणोत्तेजन और भामिनी विलास ।[३]

पण्डितराज की जन्म और मृत्यु की ठीक ठीक तिथि निश्चित नहीं की जा सकती । यह परम्परा यदि हम स्वीकार करलें कि वे वृद्ध होकर मरे । हम मोटे तौर पर उनकी जन्मतिथि १५६० ई० के लगभग और मृत्यु १६७० ई० के लगभग मान सकते हैं ।[४]

डा० आर्येन्द्र शर्मा के इस विवरण में कठिनाई से ही कोई स्थल मिलेगा जहां मतभेद हो सकता हो । सामान्यरूप से पण्डितराज के जीवन के सम्बन्ध में ये तथ्य निर्विवाद रूप से स्वीकार किए जा सकते हैं ।

कृतित्व :—

पण्डितराज उपर्युक्त रचनाओं के अतिरिक्त कोई आख्यायिका भी लिखी थी , जो अप्राप्य है ।[५] डा० आर्येन्द्र शर्मा ने उन अन्य ग्रन्थों का भी उल्लेख

---

१. पण्डितराजकाव्य संग्रह, भूमिका, पृ० १०
२. प्राणाभरण और जगदाभरण वस्तुत: एक ही रचनाएं हैं इस एक रचना का उपयोग पण्डितराज ने दो संरक्षकों और संभवत: तीसरे शाहजहां (और जहांगीर भी) की स्तुति के लिये की है किन्तु इसे दाराशिकोह की प्रशंसा में लिखित कदापि नहीं मानते । देखिए पंडित०का०सं०,भूमिका, पृ० ४-५ तथा पाद टिप्पणी १ .
३. पण्डितराज काव्य संग्रह—भूमिका, पृ० १०
४. ,, ,, पृ० ११ ५. रसगंगाधर, पृ० ५८

किया है, जो पण्डितराज के नाम से कहे जाते हैं :-

(१) काव्यप्रकाश टीका ।

(२) शब्दकौस्तुभ शाणोत्तेजन

(३) रतिमन्मथ नाटक

(४) वसुमतीपरिणय नाटक

(५) अल्लोपनिषद्

(६) स्फुट रचनाएं ।[१]

स्वयं डा० शर्मा ने पण्डितराज की उपलब्ध काव्यरचनाओं का, जिनमें अन्योक्तियां भी सम्मिलित हैं, एकत्र प्रामाणिक संस्करण उपस्थित कर अत्यन्त महत्वपूर्ण कार्य किया है और पण्डितराज के अध्येताओं को लाभान्वित किया है।

पण्डितराज द्वारा भट्टोजिदीक्षित के खण्डन के लिये लिखे गये ग्रन्थ `मनोरमा कुचमर्दन` के कुछ एक विषयों की विवेचना श्री क्षितीशचन्द्र चटर्जी ने एक लेख में की है। उन्होंने बताया है कि मनोरमा कुचमर्दन में प्रदर्शित की गयी बहुत सी अशुद्धियां `शब्दकौस्तुभ` की हैं, `मनोरमा` की नहीं।[२]

संस्कृत काव्यशास्त्र की उनकी महान् रचना रसगंगाधर है और उसी के अप्पयदीक्षित के खंडन परक अंशों का संकलन चित्रमीमांसा खण्डन` में किया गया है। स्पष्टत: यह रस गंगाधर के बाद की रचना है। यह आश्चर्यजनक है कि श्री दे ने चित्र मीमांसा खण्डन में उल्लिखित` उदाहरणालंकार` प्रकरण को[३] ` रसगंगाधर` के उपलब्ध वर्तमान संस्करण में अप्राप्य कहा है,[४] किन्तु ऐसा है नहीं

---

१. पण्डितराज काव्य संग्रह- भूमिका, पृ० ७

२. `जगन्नाथ एण्ड भट्टो जि `क्षितीशचन्द्र चटर्जी, कलकत्ता ओरियन्टल जर्नल, वाल्यूम, ३, नं० ३, पृ० ४१-४२

३. चित्रमीमांसा खण्डन, पृ० १२

४. हिस्ट्री आफ संस्कृत पोइटिक्स, भाग १, पृ० २३३, पादटिप्पणी - २

५. रसगंगाधर, पृ० २८१- २८६

रसगंगाधर के संस्करणों में पाठों की अशुद्धि एक समस्या रही है, किन्तु उसकी ओर महामहोपाध्याय गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी ने पर्याप्त संकेत कर दिया था। श्री शिवप्रसाद भट्टाचार्य ने भी रसगंगाधर और नागेश की गुरुमर्मप्रकाश व्याख्या के पाठ दोषों की सूची दी है।[२] उन्होंने रसगंगाधर के टीकाकारों तथा रसगंगाधर के संभावित आकार का भी विवरण दिया है।[३] इस विवरण में हम `रसगंगाधर` के हिन्दी अनुवादक श्री पुरुषोत्तम चतुर्वेदी,[४] मराठी अनुवादक श्री रा०व० आठवले[५] तथा कन्नड़-अनुवादक श्री टी०जी० सिद्धप्पराध्या का नाम और जोड़ना चाहते हैं।[६] इनके अनुवादों से मूल समझने में बहुमूल्य सहायता रसगंगाधर के अध्येता को प्राप्त होती है।

पण्डितराज : आलोचक :— पण्डितराज ने पूर्वाचार्यों के सिद्धान्तों और कथनों का बहुश: मतोपस्थापन और आलोचन किया। भरत से लेकर अप्पय दीक्षित तक आचार्य उनकी प्रखर प्रतिभा से आलोचित हुए हैं। अप्पय दीक्षित और भट्टोजि-दीक्षित तो उनके कटाक्ष और कठोर वाणी के भी आखेट बनें हैं। किन्तु इनके अतिरिक्त उद्भट, वामन, आनन्दवर्धन, मम्मट और उनके टीकाकार,[७] रुय्यक, शोभाकर, जयरथ, विश्वनाथ आदि प्रमुख काव्यशास्त्रीय आचार्यों के मतों पर विचार करते हुए पण्डितराज की वाणी गम्भीर नीर-क्षीर विवेकिनी और अत्यन्त संयत रही है। सारी की सारी काव्यशास्त्रीय परम्परा में उक्त, अनुक्त और दुरुक्त पर चिन्तन करते हुए उन्होंने अपने निष्कर्षभूत मत उपस्थित किये।

---

१. रसगंगाधर—प्रारंभिक वक्तव्य, पृ० २-४

२. रसगंगाधर एण्ड इट्स कान्ट्रीब्यूशन—पृ० २२, स्टडीज इन इण्डियन पोइटिक्स

३. भट्टाचार्य ने रस गंगाधर के नाम और उसके वर्गीकरण `आनन` की व्यंजना के आधार पर इस ग्रन्थ के अलंकार के संबंध में अपना मत दिया है।

४. नागरीप्रचारिणीसभा, काशी

५. तिलक महाराष्ट्र विद्यापीठ, पूर्णे

६. बंगलोर, १९६५

७. रसगंगाधर एण्ड इट्स कान्ट्रीब्यूशन, पाद टिप्पणी ६६, पृ० १९

प्राचीन सिद्धान्तों की पुनर्व्याख्या करते समय उनकी दृष्टि सर्वदा विमल रही है —

मुनवचनानुपालनस्य सम्भव उच्छृंखलताया अनौचित्यात् ।'[१]

नह्याभासरूप एव निषेध आक्षेप इत्यस्ति वेदस्याज्ञा । नापि प्राचामाचार्याणाम् । न चापि युक्तिः । येनध्वनिकारोक्तमुपेक्ष्य तदुक्तं श्रद्दधीमहि ।
प्रत्युत वैपरीत्यमेवौचितम् । ध्वनिकृतामालंकारिकसरणिव्यवस्थापकत्वात् । न ह्यस्मिन् शास्त्रे आक्षेपादिसंकेतग्राहकं प्रमाणान्तरमस्ति, ऋते प्राचीनवचनेभ्यः ।
अन्यथा सकलविपर्यासापत्तेः ।'[२]

पण्डितराज जहां एक ओर प्राचीन आचार्यों के वचनों के यथा सम्भव अधिकाधिक अनुपालन की दृष्टि से सम्पन्न हैं, वहीं वे 'मुकुलितलोचन' होकर वे 'राजाज्ञा' का पालन युक्ति के मूल्य पर नहीं करते । अतएव निःसंकोच होकर उन्होंने अमरुक जैसे कवि और आनन्दवर्धन जैसे आचार्य में भी दोष दिखलाये । काव्यशास्त्र के समस्त सम्प्रदायों और व्याकरण , न्याय, मीमांसा आदि के अपने गंभीर अध्ययन का उपयोग कर उन्होंने साहित्यशास्त्र के आधारभूत पक्षों की जो व्याख्या प्रस्तुत की, उससे वे ध्वनि मार्ग के श्रेष्ठ और अन्तिम महान् व आचार्य सिद्ध होते हैं । उन्होंने ध्वनिकार,[३] अभिनव गुप्त,[४] और आचार्य मम्मट[५] को जिन श्रद्धाभरे शब्दों में उल्लिखित किया है और सारे विवेचन में ध्वनि मार्ग की संगति का जो प्रयास किया है, उससे उनका ध्वनिमार्गानुसरण स्पष्ट प्रतिभासित हो जाता है । फिर भी उनका स्वतंत्र दृष्टिकोण है और गुण-विवेचन इसका एक उदाहरण है । हमने अपने अध्ययन में पण्डितराज की इस स्वतंत्र दृष्टि के आकलन का विनीत प्रयास किया है ।

---

१. रसगंगाधर, पृ० ११६
२. ,, पृ० ५६६
३. ,, पृ० ५६६
४. 'अभिनवगुप्तापादाचार्यः ।' – रसगंगाधर, पृ० ८८
५. रसगंगाधर, पृ० ६१३

पण्डितराज अपने समग्र वैदुष्य और काव्यशास्त्र की अपनी पुनर्व्याख्या से इस शास्त्र के सर्वोच्च आचार्यों की श्रेणी में विराजते हैं। उन्होंने न केवल प्राचीन मतों का विश्लेषण किया है अपितु नवीन मान्यतायें स्थापित की हैं और इस प्रकार वे आनन्दवर्धन और अभिनव गुप्तपादाचार्य सरीखे महान् आचार्यों के समकक्ष स्थित होते हैं। केवल मार्मिक आचार्य ही नहीं, सिद्धकवि का[1] उनका अपना रूप भी उन्हें अपूर्व गौरव प्रदान करता है।

---

१. "मधुररसव्यंजकेष्वपि पद्येषु माधुर्यप्रतिकूलतया सर्वैरालंकारिकैरभिमतानां वर्णानां नितान्तमभावो यत्र भवेत्, तादृशानि पद्यानि—संस्कृतभाषायां सन्ति न वेत्यस्मां-न्यत्र गोष्ठ्यामेकदा विचार: प्रावर्तत। तदा-क्रियमाणेऽन्वेषणे महाकवीनामपि सुवर्णमस्मिन्निकषे न किट्टकालिमादिदोषशून्यमवातरत्, पण्डितराजस्य तु सन्ति तथाविधानि पद्यानि येषां रेखात्रापि न मनागपि मलिनायते। अलंकारशास्त्रमार्मिको विद्वान् यदि कविर्भवेत् कीदृशा स भवेदिति पण्डितराजनिदर्शनेनैवानुभातुंशक्यते।"

—रसगंगाधर, प्र०१

विषयानुक्रमणिका

प्रथम अध्याय

काव्य

काव्यलक्षण

काव्य के लक्षण का निर्धारण साहित्यशास्त्र के आचार्यों की प्राचीन
मस्या रही है। बहुधा काव्यलक्षण प्रस्तुत करते समय लक्षणकार ने अनावश्यक
वषयों का काव्य की परिभाषा में आकलित कर लिया। बहुत से लक्षण तो
णनमात्र हैं। फिर भी काव्य की चर्चा और लक्षण निर्धारण का प्रयास भरत-
नि से ही आरम्भ हो जाता है। भरत का मुख्य विवेच्य नाट्य है और इसलिए
नकी काव्य परिभाषा इस दृष्टि से प्रभावित है। काव्य का लक्षण यह है :—
जो मृदु एवं ललितपदों से समृद्ध, गूढ़ शब्दार्थ से रहित, जनपदों में सरलता से
मझ में आने वाला, युक्तियुक्त, नृत्य प्रयोग के योग्य, बहु-रसमार्ग-समन्वित,
न्धियों के प्रयोग से युक्त हो, वह नाटक प्रेक्षकों के लिये शुभकाव्य है।"[1] स्पष्ट-
या यह लक्षण वर्णनात्मक और नाटक रूप में निर्मित काव्य के लिए लिखा गया
। किन्तु परवर्ती आचार्यों ने ऐसे लक्षण किये, जो दृश्य-श्रव्य दोनों प्रकार के
ाव्यों के लिये हैं, और कम से कम स्वरूपत: तर्कानुमोदित हैं। ऐसी परिभाषाओं
ो मुख्यत: दो वर्गों में विभक्त किया जा सकता है। प्रथमत: ऐसी परिभाषाएं
ो काव्य में शब्द और अर्थ दोनों को समान महत्व देती हैं और द्वितीय ऐसी जो
वल शब्द प्राधान्यमुखेन कही गयी हैं। शब्द और अर्थ को समभूमिक प्रतिष्ठा देकर
ो परिभाषायें दी गयी हैं, उनमें मुख्य ये हैं :—

मृदुललितपदाढ्यं गूढशब्दार्थहीनं,
जनपदसुखबोध्यं युक्तिमन्नृत्ययोज्यम्।
बहुकृतरसमार्गं सन्धिसन्धानयुक्तं,
स भवति शुभकाव्यं नाटकप्रेक्षकाणाम्॥

—नाट्यशास्त्र, १६- १२८

१. शब्दार्थौ सहितौ काव्यम् ।[१] (भामह)

शब्द और अर्थ का साहित्य काव्य है ।

२. काव्यशब्दोऽयं गुणालंकारसंस्कृतयोः शब्दार्थयोर्वर्तते ।
भक्त्या तु शब्दार्थमात्रवचनो गृह्यते । (वामन)[२]

यह काव्य-शब्दगुण तथा अलंकार से संस्कृत शब्द तथा अर्थ के लिए ही प्रयुक्त होता है । परन्तु लक्षणा से केवल शब्दार्थमात्र में भी काव्य शब्द प्रयुक्त किया जाता है ।[३]

३. "ननुशब्दार्थौ काव्यम् ।" (रुद्रट)[४]

निश्चय ही शब्द और काव्य है ।

४. "शब्दार्थौ सहितौ वक्रकविव्यापारशालिनि ।
बन्धे व्यवस्थितौ काव्यम् तद्विदाह्लादकारिणि । (कुन्तक)[५]

शब्द और अर्थ मिल कर काव्य (कहलाते) हैं, जो काव्यमर्मज्ञों के आह्लाद-कारक सुन्दर (वक्र) कविव्यापार से युक्त रचना (बन्ध) में व्यवस्थित हों ।[६]

५. "तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलङ्कृती पुनः क्वापि ।" (मम्मट)[७]

दोषरहित, गुणसहित, कहीं कहीं अनलंकृत भी शब्द और अर्थ काव्य कहलाते हैं ।

६. "अत्रैव अदोषौ सगुणौ सालङ्कारौ च शब्दार्थौ काव्यम् ।"
— हेमचन्द्र

---

१. काव्यालंकार, १-१६
२. काव्यालंकारसूत्रवृत्ति, १-१-१
३. काव्यालंकारसूत्रवृत्ति, दिल्ली १९५४
४. काव्यालंकार, २-१
५. वक्रोक्तिजीवित, १-७
६. हिन्दी वक्रोक्तिजीवित, दिल्ली, १९५५
७. काव्यप्रकाश, १-२

दोषरहित, गुणसहित, अलङ्कारसहित शब्द और अर्थ काव्य हैं।

७. "साधुशब्दार्थसन्दर्भं गुणालङ्कारभूषितम् ।
स्फुटरीतिरसोपेतं काव्यं कुर्वीत कीर्तये ।।"

— वाग्भट [१]

सुन्दर शब्दार्थसन्दर्भयुक्त गुण और अलंकार से भूषित, स्पष्ट रस और रीति से समन्वित काव्य की यश के लिये रचना चाहिए।

८. "गुणालंकारसहितौ शब्दार्थौ दोषवर्जितौ ।
.... काव्यं काव्यविदो विदुः ।।

— विद्यानाथ [२]

काव्यवेत्ता गुण और अलंकार से युक्त दोष से वर्जित शब्द और अर्थ को काव्य कहते हैं।

६. "शब्दार्थौ निर्दोषौ सगुणौ प्रायः सालङ्कारौ काव्यम् ।" — वाग्भट [३]
निर्दोष, गुणसहित प्रायः अलङ्कारयुक्त शब्द और अर्थ काव्य हैं ।

काव्य के लक्षण में शब्द और अर्थ को समान स्थान देने वालों के अतिरिक्त शब्द को प्रधान स्थान देने वालों का संप्रदाय भी अर्वाचीन नहीं है। किन्तु यह बात उल्लेखनीय है कि काव्यादर्श और अग्निपुराण में शब्दप्राधान्यमूलक काव्य-लक्षण देने के बाद भी परवर्ती प्राचीन आचार्यों में शब्दार्थ के समप्राधान्य में ही काव्य कहने की परिपाटी अधिक प्रिय रही। शब्दप्राधान्यमूलक काव्यपरिभाषा की प्रवृत्ति अपेक्षाकृत अर्वाचीन आचार्यों में ही अधिक प्रिय रही। इन मतों के अतिरिक्त आचार्य कुन्तक ने किन्हीं लोगों के दो मतों का उल्लेख किया है कि

---

१. वाग्भटालंकार, पृ० ५
२. प्रतापरुद्रयशोभूषण, पृ०
३. काव्यानुशासन, पृ० १४

कविकौशल से कल्पित सौन्दर्यातिशय सम्पन्न केवल शब्द ही काव्य है और रचना वैचित्र्य से चमत्कारकारी अर्थ ही काव्य है।[१] इन दोनों ही मतों का कुन्तक ने खण्डन किया है। शब्दप्राधान्यवादी लोगों के काव्यलक्षण देख लेने पर ही इन लक्षणों की मीमांसा हो सकती है। इन आचार्यों ने काव्यलक्षण में शब्द को ही प्रधान स्थान दिया है :—

१. " संक्षेपाद्वाक्यमिष्टार्थव्यवच्छिन्ना पदावली।
काव्यं स्फुरदलङ्कारं गुणवद्दोषवर्जितम् ॥"

— अग्निपुराण[२]

संक्षेप में इच्छित अर्थ से व्यवच्छिन्न (विशिष्ट) पदावली से युक्त, स्फुरित अलंकारों से समन्वित गुणयुक्त और दोषरहित वाक्य काव्य है।

२. " शरीरं तावदिष्टार्थव्यवच्छिन्ना पदावली।"

— दण्डी[३]

अभिलषित अर्थ से व्यवच्छिन्न पदावली (काव्य का) शरीर है।

३. " निर्दोषा लक्षणवती सरीतिर्गुणभूषिता।
सालङ्कार रसानेकवृत्तिर्वाक्काव्यनामभाक् ॥"

— जयदेव.[४]

निर्दोष, लक्षणयुक्त, रीतिसम्पन्न, गुणों से भूषित, अलंकारयुक्त अनेक रस से युक्त वाणी काव्याभिधेय है।

४. " वाक्यं रसात्मकं काव्यम्।"

— विश्वनाथ महापात्र[५]

---

१. वक्रोक्तिजीवितम्, १-७
२. अग्निपुराण अ० ३६५ ६-७
३. काव्यादर्श, १-१०
४. चन्द्रालोक, १- ७
५. साहित्यदर्पण, पृ० २७

रसात्मक वाक्य काव्य है।

५. आस्वादजीवातु: पदसन्दर्भ: काव्यम्।"

—— चण्डीदास[१]

रसरूपजीवन वाला पदसन्दर्भ ही काव्य है।

६. "काव्यं रसादिमद्वाक्यं श्रुतं सुखविशेषकृत।"

—— शौद्धोदनि[२]

सुश्रुत होने पर सुख विशेष पहुंचाने वाला रसादियुक्त वाक्य काव्य है।

शब्दमात्र को काव्यपद का प्रवृत्ति-निमित्त मानने वाले और शब्द-अर्थ दोनों को काव्यपदार्थ मानने वालों के पीछे परंपराएं विद्यमान हैं। इसके अतिरिक्त कुन्तक ने जिन अर्थमात्र को काव्य मानने वालों का उल्लेख किया है उनका भी अपना आधार है। शब्द को प्रधान मान कर ही मंत्रों ब्राह्मणों के पाठमात्र से सुकृत की प्राप्ति और उच्चारण की तनिक सी अशुद्धिमात्र से प्रत्यवाय की सृष्टि का सिद्धान्त संगत हो सकता था। वेद के शब्द को ही प्रधान न माना जाता, तो वेदार्थ को अन्य शब्दों में कह देने से भी उतने ही पुण्य की प्राप्ति संभव होती, किन्तु ऐसा स्वीकार नहीं किया गया। इसके विपरीत इतिहासादि में अर्थ का प्राधान्य ही स्वीकार किया गया। दुर्गाचार्य ने तो अर्थ को ही प्रधान माना ——

"अर्थो हि प्रधानम्, तद्गुण: शब्द:।"[३]

इसके अतिरिक्त शब्द और अर्थ के समप्राधान्य का सिद्धान्त भी प्रचलित

---

१. काव्यप्रकाशदीपिका, पृ० १३

२. अलंकारशेखर, पृ० २

३. दुर्गाचार्य —यास्क, पृ० ३ वेंकटेश्वर स्टीम प्रेस, बम्बई

रहा ही है। कालिदास ने अर्द्धनारीश्वर के उपमानस्वरूप `वागर्थ` को प्रस्तुत करके उस विचारधारा को स्पष्ट कर दिया। शिव को अर्थ और शिवा को शब्द- मानने की परिपाटी शैवों के यहां प्रिय रही है।[१]

इन परंपराओं की भूमिका पर काव्यपदार्थ में शब्द, अर्थ और शब्दार्थोभय को आकलित करने के निकाय का चल पड़ना स्वाभाविक है। किन्तु अर्थमात्र को काव्य मानने का संप्रदाय कुन्तक के उल्लेख में उपलब्ध है। शब्द को काव्य पदार्थ मानने वाले आदि आचार्य दण्डी के बाद इस मत का समर्थन लम्बे समय तक किसी शक्तिशाली आचार्य ने नहीं किया यह स्पष्ट है। शब्द और अर्थ उभय को काव्य स्वीकार कर अनेक महान् आचार्यों ने इसका प्रतिपादन किया, भले ही काव्य लक्षण के अन्य पक्षों में उनमें मतभेद ही रहा हो।

आचार्य भामह द्वारा प्रवर्तित `शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्` सिद्धान्त शब्द और अर्थ के `साहित्य` का संकेत कर चुका था। बाद में इस साहित्य शब्द की (जो काव्य[२] और काव्यशास्त्र[३] दोनों ही अर्थों में भी व्यापक रूप से प्रयुक्त हुआ है) भोज और कुन्तक ने पृथक् पृथक् मीमांसा की। प्रथमतः `साहित्य` शब्द और अर्थ के अनादि और प्रसिद्ध सहस्वरूप और सम्बन्ध के लिए प्रयुक्त हुआ। भोज ने साहित्य का सामान्य अर्थ ग्रहण करते हुए, दोषहान, गुणादान अलंकारयोग और रसावियोग को भी साहित्य में परिगणित किया। भोज ने अभिधा, विवक्षा तात्पर्य, प्रविभाग इन चार केवलशक्तियों और व्यपेक्षा, सामर्थ्य, अन्वय एवम् एकार्थीभाव इन चार सापेक्षशक्तियों सहित आठ शब्दसम्बन्धशक्तियों को भी साहित्य मानते हुए उपर्युक्त चतुर्विध साहित्य को मिलाकर बारह प्रकार का साहित्य माना। कुन्तक ने साहित्य का प्रथम अर्थ सामान्य वाच्य-वाचक सम्बन्धों

---

१. कालिदास—रघुवंश, सर्ग १—१

शिवलीलार्णव, १—१५

`भोजाय शृंगारप्रकाश` में उद्धृत

`अर्थः शम्भुः शिवा वाणी`, लिङ्गमहापुराणम्।

विश्वेश्वरकृत कवीन्द्रकण्ठाभरण—पृ० ५२ पर उद्धृत।

२. साहित्यसंगीतकलाविहीनः —नीतिशतक, भर्तृहरि

—देखिए अगले पृ० पर

को मानते हुए भी स्पष्ट कर दिया कि काव्यशास्त्र में साहित्य का अर्थ 'विशिष्ट साहित्य' ही है। विशिष्ट साहित्य से उनका आशय वक्रता से विचित्रगुणों तथा अलंकारों की सम्पत्ति का परस्पर स्पर्धाधिरोहण ही है। इसीलिए उनके मत में सर्वगुणायुक्त और मित्रों के समान परस्पर संगति शब्द और अर्थ-- दोनों एक दूसरे के लिए शोभाजनक होते हैं और वही काव्य पदवाच्य होते हैं।[१] वास्तव में शब्द और अर्थ दोनों में से किसी एक के साहित्य का अभाव होने पर दूसरे का साहित्य विरह स्वयं ही आ जाता है। इसलिए समर्थ शब्द के अभाव में अर्थ स्वरूपत: स्फुरित होने पर भी निर्जीव-सा ही रहता है। शब्द भी वाक्योपयोगी-- अर्थ के अभाव में अन्य अर्थ का वाचक होकर वाक्य का व्याधिभूत प्रतीत होता है।[२] काव्य में शब्दार्थोभय के प्राधान्य के पक्ष में महिम भट्ट ने भी बलवती युक्ति दी। चूंकि उभयौचित्य से ही रसपरिपोष होता है, अत: रसप्रधान सर्गबन्धादिकाव्य को उभयप्रधान ही होना चाहिए --

" त्रिविधं हि शास्त्रम् शब्दप्रधानम् , अर्थप्रधानम् उभयप्रधानंचेति । तत्र शब्दप्रधानं वेदादि, अध्ययनादेव अभ्युदयश्रवणात्, मनागपि पाठविपर्यासे प्रत्यवाय-श्रवणाच्च। अर्थप्रधानमितिहासपुराणादि, तस्य अर्थवादमात्ररूपत्वात्। उभय-प्रधानं सर्गबन्धादिकाव्यम् तस्य रसात्मकत्वात रसस्य च उभयौचित्येन परिपोष-दर्शनात्। काव्यस्यापि शास्त्रत्वं प्रतिपादितमेव।"[३]

शब्द और अर्थ को काव्यपद वाच्य ध्वनिविरोधी आचार्यों ने ही

पिछले पृष्ठ का शेष-- ३. पदवाक्यप्रमाणेषु तदेतत् प्रतिबिम्बितम्। यो-च यो योज्यतिसाहित्ये तस्य वाणी प्रसीदति ।। -- 'अभिधावृत्तिमातृका-मुकुलभट्ट, पृ० २१-- २२

' साहित्यं श्रीमुरारे : प्रतीहारेन्दुराज

' शब्दार्थयोर्यथावत्सहभावेन विद्या साहित्यविद्या' - काव्यमीमांसा, पृ० ५

---

१. वक्रोक्तिजीवित, पृ० २५-२६
२. ,, पृ० ३६
३. व्यक्तिविवेक, पृ० ४२२

नहीं स्वयम् ध्वनि के प्रतिष्ठापकों ने भी स्वीकार किया था।[१] आचार्य मम्मट ने भी स्वभावत: ध्वनिमार्ग के अविरुद्ध इस मत को स्वीकार किया। उन्होंने वामन के लक्षण की आलोचना की और वामन का शब्दार्थ को 'गुणसहित' कहना तो पसन्द आया किन्तु अलंकारों परक आग्रह उन्हें अभिप्रेत नहीं रहा। अत: 'अदोष सगुण और कहीं अनलंकृत भी शब्दार्थ को काव्य कहा। उन्होंने इस बात की आवश्यकता नहीं समझी कि काव्य पद का अर्थ शब्दार्थोभय को क्यों माना जाय और यह कि इसे भी प्रमाण पुष्ट करने की आवश्यकता है। वाग्भट ने पूर्ववर्ती शब्दार्थोभयवादियों का सब कुछ एकत्र ग्रहण कर लिया। हेमचन्द्र के पास मम्मट के अनुवाद के अतिरिक्त कुछ नहीं है। नागेश ने भी पण्डितराज-मत का खंडन कर शब्दार्थोभयकाव्यवाद के सिद्धान्त की ही स्थापना की।

जयदेव, शौद्धोदनि और विश्वनाथ ने एक बार पुन: शब्दमात्र को काव्य कहा। जयदेव ने जहां आंख मूंद कर निर्दोष, सरीति, लक्षणवती, गुणभूषिता, सालङ्कारा, रसानेकवृत्ति ये सारे विशेषण काव्यवाक् के लिए एकत्र कर लिए, शौद्धोदनि और विश्वनाथ ने रस अथवा रसादिमद्वाक्य को काव्य स्वीकार किया। किन्तु शब्दमात्र को काव्य मानने के पक्षपाती आचार्यों में पण्डितराज जगन्नाथ ने प्रथम बार सारे पक्षों पर युक्तियुक्त विचार कर काव्य का लक्षण निर्धारित करने की चेष्टा की। उन्होंने अनुभव किया कि कवि और सहृदय दोनों के लिए काव्य की व्युत्पत्ति आवश्यक है। काव्य के निरूपण के लिए उसके विशेषणभूत गुणों और अलंकारों आदि का विवेचन किया जाता है, किन्तु यह काव्यत्व असंदिग्ध रूप से क्या है, इस बात का विवेचन करने के लिए काव्य के लक्षण का निर्धारण आवश्यक है।

पण्डितराज से पूर्व के लक्षण विवेचन में काव्यता शब्द में है या अर्थ में अथवा दोनों में —इसका नक्शा सामने आ जाता है, किन्तु इसका

---

१. 'शब्दार्थशरीरं तावत्काव्यम्' — ध्वन्यालोक-लोचन, पृ० ८६

एक दूसरा पहलू भी है। भामह से लेकर ध्वनिकार से पूर्व के आचार्य काव्य में मुख्य तत्व का विवेचन करते समय अपनी दृष्टि काव्य के बाह्य रूप पर ही केन्द्रित रखते हैं। भामह से पूर्व `अन्य` शब्द से उल्लिखित आचार्य अर्थालंकार को मुख्य तत्व मानते हैं, तो `परे` शब्द से अभिहित आचार्य शब्दालंकार को। भामह को शब्द और अभिधेय दोनों के अलंकार इष्ट हैं।[1] दण्डिन् भी काव्य में मुख्य तत्व अलंकार ही मानते हैं। यद्यपि वे उसमें रस और भाव की अवस्थिति भी स्वीकार करते हैं।[2] किन्तु उनका `रस` `रसवद` अलंकार ही है। उनका रस ध्वनिवादियों के `रस` से भिन्न है। उनका रस भावात्मक ही नहीं है, बल्कि अलंकार से भी रस उत्पन्न होता है।[3] वामन गुणविशिष्ट पद रचना अर्थात् रीति को काव्य की आत्मा मानते हैं। उन्होंने गुण और अलंकार से संस्कृत शब्दार्थ को काव्य मानते हुए अलंकार को `सौन्दर्य` के धरातल पर रखा,[4] काव्य के प्रति इस बाह्योन्मुख अथवा शरीरोन्मुख दृष्टिकोण के बाद ध्वनिवादी आचार्यों का सूक्ष्म चिन्तन सामने आता है। वे काव्य की आत्मा `ध्वनि` को प्रतिपादित करते हैं, फलत: एक ओर काव्य लक्षण में `रस` को आत्मस्थानीय मानते हुए काव्यलक्षण की रचना होती है और रस को सर्वप्रथम स्थान दिया जाता है तो दूसरी ओर अलंकार पर बल दिया जाता है।

इस प्रकार काव्य लक्षण का एक पहलू है काव्यशरीर में शब्द, अर्थ या शब्दार्थ को प्राधान्य देने का और दूसरा पहलू है अलंकार रीति, वक्रोक्ति ध्वनि या रस को मुख्य तत्व मानने का। इस भूमिका में पंडितराज का काव्य-लक्षण आया।

पंडितराज ने काव्य का लक्षण करते हुए कहा कि रमणीय अर्थ का प्रतिपादक शब्द काव्य है। इस लक्षण में `शब्द` पद का निवेश साभिप्राय

---

१. काव्यालंकार, १-१५,१६

२. काव्यादर्श, १।१८,१६

३. `कामं सर्वोप्यलङ्कारो रसमर्थे निषिञ्चति ,

—काव्यादर्श- १।६२

४. काव्यालंकार- १।१,२

५. `रमणीयार्थप्रतिपादक: शब्द: काव्यम् ।` - रसगंगाधर, पृ० - ४

है, अर्थात् यदि केवल यही लक्षण करें कि 'रमणीय अर्थ का प्रतिपादक काव्य है' तो रमणीय अनुराग आदि अर्थ का प्रतिपादक रमणी-कटाक्ष आदि भी काव्य हो जायगा, अतः 'शब्द' का निवेश आवश्यक है। वाच्य, लक्ष्य और व्यंग्य-ये तीनों ही अर्थ प्रतिपाद्य हो सकते हैं। इसलिए वाचक, लक्षक और व्यंजक -इन विशेष शब्दों को न रख कर प्रतिपादक शब्द रखा। अर्थ में रमणीय विशेषण लगाने का फल है कि रमणीय शब्द का प्रतिपादन करने वाले व्याकरण और अरमणीय अर्थ का बोधन करने वाले 'घटमानय' इत्यादि वाक्यों में लक्षण की अतिव्याप्ति नहीं होती।[1]

रमणीयता भी अनुगत है, किसी को कुछ भला लगता है और किसी अन्य को कुछ अच्छा प्रतीत होता है, इसलिए रमणीयता का निर्णय करने में अव्यवस्था हो सकती है, अतः पंडितराज ने स्वतः रमणीयता का निर्वचन किया — 'और रमणीय है लोकोत्तर आनन्द के जनकज्ञान की गोचरता। (अर्थात् जिस अर्थ के ज्ञान से लोकोत्तर आनन्द की अनुभूति हो वह अर्थ रमणीय है।) अब फिर से यही प्रश्न उठ खड़ा होता है कि यदि लोकोत्तर आनन्द को जिस किसी तरह अथवा सातिशय रूप में स्वीकार कर लें, तो फिर अव्यवस्था ही आ पड़ेगी और यदि निरतिशय आनन्द स्वीकार करें तो ब्रह्मानन्द ही काव्यानंद बन जायेगा,[2] अतः लोकोत्तरत्व का निर्वचन भी आवश्यक हो गया। लोकोत्तरत्व है आनन्दनिष्ठ जातिविशेष, जिसका अन्य नाम चमत्कार भी है और जिसमें एक मात्र प्रमाण सहृदय का अनुभव ही है। इस लोकोत्तरत्व में सातिशय और निरतिशय का प्रश्न नहीं है, आनन्द में स्थित ही जाति विशेष है और भावितान्तःकरण सहृदय को जिसमें 'लोकोत्तरत्व' की अनुभूति हो वही लोकोत्तर है। साहित्य के सन्दिग्ध स्थलों के निर्णय के लिए सहृदय[3] सदा ही अन्तिम प्रमाण माना गया है।

---

१. गुरुमर्मप्रकाश— नागेश, रसगंगाधर, पृ० ४

२. गुरुमर्मप्रकाश— नागेश, रसगंगाधर, पृ० ४-५

३. 'येषां काव्यानुशीलनाभ्यासवशाद्विशदीभूते मनोमुकुरे वर्णनीयतन्मयीभवनयोग्यता ते स्वहृदयसंवादभाजः सहृदयाः।' —लोचन, ध्वन्यालोक, पृ० ३८-३९

चमत्कार नामक और लोकोत्तरत्व जाति से अवच्छिन्न अथवा विशिष्ट लोकोत्तर आनन्द का कारण पुन: पुन: अनुसन्धानरूप धारावाहिक भावनाविशेष —शब्दबोधात्मक अनुभव ही है। किसी भी काव्य-वाक्य को सुनते ही शक्तिस्मरणादि शब्दबोध सामग्री से प्रथमत: वाच्यार्थ बोध होता है, तदुत्तर यदि अन्य अर्थ भी रहा, तो दूसरी वृत्तियों से उसका भी बोध होता है, जो सहृदयों को भला प्रतीत होता है, अत: सहृदयजन उसका पुन: पुन: बोध करना चाहते हैं और बार बार उन शब्दों को पढ़ते हैं। इस तरह सम्पन्न बोधधारा सहृदय को लोकोत्तर आनन्द का लाभ कराती है। जहाँ व्यंग्यार्थ नहीं होते वहाँ विलक्षण वाच्यार्थ का धारावाहिक बोध ही आनन्द सृष्टि करता है।

'तुम्हें पुत्र लाभ हुआ है,' तुम्हें धन दूंगा' इन वाक्यों से भी आह्लाद मिलता है, किन्तु यह आह्लाद लोकोत्तर नहीं है, अत: इसे काव्य नहीं कह सकते।

इस प्रकार काव्य का परिष्कार शैली में लक्षण हुआ— 'चमत्कार को उत्पन्न करने वाली भावना के विषयभूत अर्थ के प्रतिपादक शब्द को काव्य और तादृश शब्दत्व' को काव्यत्व कहते हैं।' इस प्रथम लक्षण में 'ज्ञान' शब्द न रख कर ज्ञानधारावाचक 'भावना' पद रखने का अभिप्राय है कि कभी-कभी ज्ञातव्य विषयक ज्ञान सामग्री से होने वाला ज्ञान अकस्मात विषयान्तरोद्बोधक सामग्री के जुट जाने से उदासीन वस्तु को भी विषय बना लेता है अर्थात् ज्ञातव्य और उदासीन दोनों का एक ही ज्ञान हो जाता है। और यह ज्ञान 'समूहालम्बनात्मक ज्ञान' कहलाता है। ऐसा हो सकता है कि 'नि:शेषच्युतचन्दनम्' आदि काव्यार्थ विषय चमत्कारी ज्ञान में उद्बोधकान्तरसमवधान से 'घट' रूप अर्थ का प्रतिपादक 'घट' इत्याकारक ज्ञान भी भासित हो उठे, अब यदि लक्षण में 'ज्ञान' शब्द ही रखें तो ज्ञान का विषयभूत 'घट' इत्याकारक अर्थ भी काव्य कहलाएगा, किन्तु 'भावना' पद के निवेश से यह दोष दूर हो जाता है, क्योंकि

१— 'इत्थं च चमत्कारजनकभावनाविषयार्थप्रतिपादक शब्दत्वम् ... काव्यत्वमिति।'

-------- रसगंगाधर, पृ० ५

एक बार भले ही अकस्मात् अन्य उद्बोधक के कारण काव्यार्थ ज्ञान में उदासीन अर्थ भासित हो जाय, किन्तु ज्ञानधारा में उसका भासित होना असंभव है। अकस्मात जुड़नेवाला उद्बोधकान्तर, सतत नहीं जुड़ सकता। किन्तु यदि यही आग्रह किया जाय कि उद्बोधकान्तर निरन्तर जुड़ सकता है, तो प्रस्तुत लक्षण का परिष्कार इस तरह कर लिया जाये - 'जिस शब्द से प्रतिपादित अर्थ के विषय में होने वाला भावनात्व चमत्कार जनकता का अवच्छेदक हो अर्थात् जिस शब्दानुपूर्वी से प्रतिपादित अर्थविषयिणी भावना अवच्छेद का वच्छेदेन (अन्यून- अनधिक अर्थात् सम्पूर्ण रूप में) चमत्कारजनक हो उस शब्दानुपूर्वी को काव्य कहते हैं।' 'निःशेषच्युतचन्दनम्' इत्यादि काव्यवाक्य और 'घटः' से प्रतिपादित अर्थ विषयक-भावना एक होने पर भी चमत्कारजनकतावच्छेदकता तो 'निःशेषच्युतचन्दनम्' इत्यादि वाक्य में ही है, अतः वही काव्य कहला सकता है। किन्तु इस परिष्कृत लक्षण में भी 'जिस' और 'उस' शब्दों का प्रयोग किया गया है, जिनका अर्थ अननुगत है अतः इन शब्दों से घटित लक्षण भी अननुगत होगा। दूसरे काव्यपद के शक्यतावच्छेदक के बड़े हो जाने से गौरव भी होगा। इस आपत्ति को दूर करने के लिए पंडितराज ने काव्य का परिनिष्ठित लक्षण इस प्रकार किया 'जिस शब्द अथवा जिन शब्दों का चमत्कारत्व के साथ अपने (चमत्कारत्व) से युक्त (चमत्कार) की जनकता के अवच्छेदक अर्थ की प्रतिपादकता रूपी सम्बन्ध हो, वे शब्द काव्य हैं।[१] यहां यद्यपि चमत्कारजनकता भावना में रहती है, तथापि उसे विषयता सम्बन्ध से अर्थगत मानलिया गया है।[2]

पंडितराज के इस लक्षणाविवेचन से कुछ तथ्य विशेष सामने आते हैं। काव्य के सामान्य लक्षण से यह स्पष्ट हो जाता है कि काव्यता उसी शब्द में होगी, जो रमणीय अर्थ का प्रतिपादक है। इस रमणीय अर्थ के प्रतिपादन कीप्रक्रिया में असाधारण कारण अथवा करण शब्द ही होते हैं। शब्दवृत्तियाँ

---

१. हिन्दी रसगंगाधर, पृ० ११-१२

२. 'यत्प्रतिपादितार्थ-विषयकभावनात्वं चमत्कारजनकतावच्छेदकम् तत्त्वम्। स्वविशिष्टजनकतावच्छेदकार्थप्रतिपादकतासंसर्गेण चमत्कारत्ववत्त्वमेव वा काव्यत्वमिति फलितम्।' — रसगंगाधर, पृ० ५-६

द्वारा प्रतिपादित अन्य सामान्य -- रमणीयार्थ तक पहुंचने वाले मध्यवर्ती वाच्य, लक्ष्य और कभी कभी व्यंग्य -- अर्थ रमणीयार्थप्रतिपादन में अवान्तर रूप से आया करते हैं।" अत: रमणीय अर्थ के प्रतिपादन का अर्थ है, भाषा के सामान्यत: उपलब्ध अर्थों द्वारा सहृदय की चेतना में रमणीय अर्थ का समर्पण।"[१] पण्डितराज की दृष्टि में यह स्पष्ट है कि काव्य में रमणीय अर्थ का सद्भाव अनिवार्य है, किन्तु उसके प्रतिपादन में करणरूप से शब्द तथा अवान्तर रूप से अन्य अर्थ भी कार्य करते हैं। किन्तु यह स्मरणीय है कि पंडितराज ने यह अवान्तरता शब्दबोध प्रक्रिया की दृष्टि से ही बतायी है, अन्यथा ध्वनिकाव्य के लक्षण में और शाब्दी तथा आर्थी व्यंजना आदि की मान्यता में इन अर्थों की प्रधान भूमिका से वे अन्य ध्वनिवादी की भांति भली तरह परिचित हैं। इसी प्रसंग में उन्होंने रमणीयता का विवेचन करके उसकी `ज्ञानगोचरता` और `अनुभव सार्थकता` को भी बता दिया। आशय यह है कि रमणीय वस्तु हमारे ज्ञान का विषय बन कर हमें आनन्द का अनुभव कराती है। उसका कारण ज्ञानधारारूप और पुन: पुन: अनुसन्धानात्मक `भावनाविशेष` है। यह रमणीयता लोकोत्तर आह्लादजनक ज्ञानगोचरता है अर्थात् सांसारिक आह्लाद से भिन्न काव्यानन्द `लोकोत्तर` अर्थात् `चमत्कारत्ववान्` होता है। काव्यआह्लाद में विद्यमान यह `चमत्कारत्व` जाति विशेष रूप है अर्थात् यह `धर्म` न होकर जाति रूप है। अत: अनेकानुगत एक और नित्य है। अन्य सभी सविशेष `अपर` सामान्य के समान यह जातिविशेष चमत्कार भी विविध होते हुए भी विविध आह्लादों में एकाकारा अनुगतप्रतीति भी कराता है।[२] इस `लोकोत्तरत्व` जिसका दूसरा नाम

---

१. रसगंगाधर का शास्त्रीय विवेचन, पृ० ३५

२. ,, ,, ,, पृ० ३७

चमत्कार' के स्वरूप के सम्बन्ध में पण्डितराजाभिमत उत्तर यही है।[१]

इस प्रकार पण्डितराज ने रमणीयता का आह्लादजनक बोध और उसका लोकोत्तरत्व अथवा चमत्कारत्व से सम्बन्ध स्थिर कर परिष्कृत द्वितीय लक्षण में चमत्कारजनक 'भावना' विषयक अर्थ के प्रतिपादक शब्द को काव्य बताया। फिर वे 'चमत्कारजनकतावच्छेदक भावनात्व' पर काव्यलक्षण को ले आते हैं। इन दोनों कथनप्रकारों से वे चमत्कारजनक भावना, भावना का विषय अर्थ और उस अर्थ के प्रतिपादक शब्द फिर शब्द से प्रतिपादित अर्थ, अर्थ विषयक चमत्कारजनकतावच्छेदक की उद्देश्यताविधेयता से अनुभव प्रक्रिया को अत्यन्त स्पष्ट भी करते हैं।

किन्तु इस परिष्कृतलक्षण में अनुगतता रह गयी है अत: परिनिष्ठित लक्षण में वे उसे दूर करते हैं और चमत्कार को उद्देश्य बनाकर फलित अथवा निष्कर्षभूत लक्षण करते हैं। उद्देश्यता विधेयता में अन्तर करते हुए लक्षण प्रस्तुत करने में जहां उनका अभिप्राय काव्यलक्षण को निर्दुष्ट रूप में रखना है वहीं काव्यशरीर और काव्यात्मा का स्पष्ट निदर्शन भी करा देना है। वे एक ओर रमणीयता से काव्यात्मा का स्वरूप स्पष्ट दिखला देते हैं और दूसरी ओर रमणीयार्थप्रतिपादकता करणात्वेन शब्द में दिखा कर काव्य के माध्यम रूप में शब्द के यथोचित स्थान को प्रदर्शित करने का प्रयत्न करते हैं।

---

१. अभिनव गुप्त ने चमत्कार की यह व्युत्पत्ति और स्वरूप बताया है —

'चमदिति वा आन्तरस्पन्दान्दोलनोदितपरामर्शमयशब्दनाव्यक्तानुकरणम्। काव्यनाट्यरसादावपि भाविचिन्तवृत्यन्तरोदयनियामक विघ्नरहित आस्वादो रसनात्मा चमत्कार इति उक्तमन्यत्र।'

(ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी। अभिनव गुप्त)
२ उ०, ४ वि०, पृ० २५१।

रुय्यक ने चमत्कार का स्वरूप इस प्रकार समझाया —

'आलेख्यलेखादौ सन्तमसावस्थिते.
प्रदीपादिना प्रकाशिते झटिति
अद्भुतार्थप्रकाशनात्मचमत्कारो जायते। तद्वद्वादो।' (— रुय्यक: व्यक्तिविवेक टीका, पृ०५३१, रसगंगाधर का शास्त्रीय अध्ययन में — पृ० ३८ पर उद्धृत

पंडितराज ने काव्य की यह परिष्कृत परिभाषा उपस्थित कर के शब्दार्थोभयकाव्यवादियों के मत की परीक्षा करना उचित समझा । 'प्राच: के नाम से शब्दार्थोभयकाव्यवादियों का उल्लेख करते हुए उनके लक्षण के मुख्य आधार को पहले लिया है । उन्होंने तर्क उपस्थित किया कि शब्द और अर्थ दोनों ही काव्य नहीं कहे जा सकते, क्योंकि इसमें कोई प्रमाण नहीं है । प्रत्युत 'काव्य ज़ोर से पढ़ा जा रहा है, ''काव्य से अर्थ समझा जाता है,' 'काव्य' सुना, पर अर्थ समझ में नहीं आया' इत्यादि सार्वजनिक व्यवहार से एक प्रकार का शब्द ही काव्य सिद्ध होता है, अर्थ नहीं । यदि शब्द मात्र में काव्यपद के व्यवहार में लक्षणावृत्ति के आश्रय की बात उठायी जाय, तो स्पष्ट उत्तर है कि यदि काव्य शब्द कार्य शब्दार्थोभय दृढ़तर प्रमाण से सिद्ध होता, तो मुख्यार्थबाध की स्थिति आने पर लक्षणा का आश्रय हो भी सकता था, किन्तु वही प्रमाण तो नहीं है । विपक्षी मम्मटभट्ट आदि के व्यवहार को तो उनसे ही विवाद के अवसर पर प्रमाण नहीं माना जा सकता । इस तरह स्पष्ट है कि शब्द और अर्थ दोनों को ही काव्य मानने में कोई प्रमाण नहीं है । अत: 'शब्दविशेष ही काव्य है' -इस बात का निवारण कौन कर सकता है ? इसी से 'शब्दमात्र को काव्य मानने में कोई साधक युक्ति नहीं है, अत: दोनों को काव्य मानना चाहिए' यह तर्क भी असिद्ध हो जाता है । इस तरह शब्द विशेष को ही काव्य कहना सिद्ध हुआ उसी को लक्षण बनाने की आवश्यकता है न कि स्वकल्पित काव्यपदार्थ के लक्षण बनाने की । यही बात वेद, पुराण आदि के लक्षणों में भी समझनी चाहिए अर्थात् उनको भी शब्द रूप मान कर ही लक्षण करना चाहिए ' नहीं' तो यही दुरवस्था होगी ।[1]

जो लोग यह कहते हैं कि आस्वाद का उद्बोधकत्व ही काव्य का प्रयोजक है और वह यूं कि शब्द और अर्थ दोनों में समानरूप से रहता है अत: दोनों ही काव्य हैं, उनकी बात ग़लत है, क्योंकि ध्वनिकार आनन्दवर्धनादि समस्त आलंकारिकों ने राग को रस व्यंजक माना है फिर तो रसोद्बोधक होने

---

१. 'तदेवं शब्दविशेषस्यैव काव्यपदार्थत्वे सिद्धे तस्यैवलक्षणं वक्तुं युक्तम् , न तु स्वकल्पितस्य काव्यपदार्थस्य । एवमेव च वेदपुराणादिलक्षणेष्वपि गति: ।'

के कारण राग भी काव्य है । यही नहीं । नाट्य के सारे नृत्य, वाद्य, नेपथ्य आदि सारे अंग भी काव्य कहलाएंगे । अतः "जो रसोद्बोधन में समर्थ हो वही काव्यलक्षण का लक्ष्य है" यह कथन भी खंडित हो गया :——

"एतेन रसोद्बोधसमर्थस्यैवात्र लक्ष्यत्वमित्यपि परास्तम् ।"[1]

इसके अतिरिक्त यह भी प्रश्न है कि काव्य "पद का प्रवृत्ति-निमित्त शब्द और अर्थ में व्यासक्त रूप में है अथवा प्रत्येकपर्याप्तरूप में ? यदि आप कहें कि शब्द और अर्थ दोनों सम्मिलित रूप में काव्य कहलाते हैं, तब तो एक और एक मिल कर योगरूप में "दो" बनता है अर्थात् दो सम्मिलित एकों को "दो" कहते हैं, किन्तु "दो" के अवयव किसी "एक" को "दो" नहीं कहा जा सकता, उसी प्रकार श्लोक के वाक्य को काव्य नहीं कह सकते क्योंकि वह तो काव्य का अवयव शब्द मात्र है ।[2] यदि शब्द और अर्थ प्रत्येक को पृथक पृथक काव्य मानते हैं "एक पद्य में दो काव्य रहते हैं" यह व्यवहार होने लगेगा । इसीलिए वेदपुराणादि लक्षणों की ही भांति काव्य लक्षण को भी शब्दनिष्ठ ही मानना चाहिए ।

काव्य के लक्षण में "शब्दार्थौ" के साथ सगुण, सालंकार और अदोष का विशेषण रूप में सन्निवेश उचित नहीं है, क्योंकि यदि ये शर्तें अनिवार्य मानली जांय, तब तो "उदितं मण्डलं विधोः" इस दूती, अभिसारिका, विरहिणी आदि से कथित अभिसार, विधिनिषेध, जीवनाभावादि व्यंग्य-अर्थों से सम्पन्न वाक्य और "गतो स्तमर्कः" आदि वाक्यों में लक्षण की अव्याप्ति ही होगी ।

यदि विपक्षी इसे काव्य नहीं मानता, तब तो काव्यरूप में उसके अभिमत को भी अकाव्य कहा जा सकता है, क्योंकि जिस "चमत्कारित्व" को काव्य कहा जाता है, वह दोनों में समान रूप से विद्यमान है । इसके अतिरिक्त गुणत्व और अलंकारत्व अननुगत हैं अर्थात् गुण और अलंकारों की संख्या और स्वरूप अन्तिम रूप से निश्चित ही नहीं है, अतः लक्षण में उनका सन्निवेश करने से लक्षण भी अननुगत ही रह जायेगा ।

यदि काव्य अथवा रस के धर्मों का नाम गुण और काव्य के शोभाकर धर्मों का नाम अलंकार है — इस तरह गुणत्व और अलंकारत्व का

---

१. रसगंगाधर, पृ० ७   २. तुलनीय—काव्यप्रकाशदीपिका, पृ० १२

अनुगम स्वीकार भी कर लें तब भी ' अदोषौ ' पद का सन्निवेश तो अनुचित ही है, क्योंकि ' दुष्टं काव्यम् ' --यह व्यवहार ही असिद्ध हो जाता है। इस व्यवहार से तो स्पष्ट ही है कि काव्य अदोष को ही नहीं, सदोष को भी कहते हैं, भले ही वह दुष्टंकाव्य निम्नकोटि का ठहरे। 'यदि' दुष्टं काव्यम् ' व्यवहार में लक्षणा का आश्रय लेने की दलील दी जाय तो वह भी व्यर्थ है, क्योंकि लक्षणा के लिए मुख्यार्थबाध आवश्यक है, वह यहां पर है ही नहीं।

यदि यह तर्क दिया जाय कि जैसे एक पेड़ की जड़ पर पक्षी बैठा है, पर डाली पर नहीं, तब उस पेड़ में एक स्थान पर पक्षी का संयोग है अन्यत्र अभाव। सर्वत्र संयोग रहित होने पर भी, एक स्थान पर संयोग होने के कारण उस वृक्ष को ' संयोगी ' कह सकते हैं, उसी प्रकार अन्य स्थानों पर दोषरहित होने के कारण काव्य कहा जा सकता है और एक स्थान पर दोष होने के कारण दोष भी, तो यह उचित नहीं, क्योंकि जिस प्रकार वृक्ष के सम्बन्ध में यह प्रतीति होती है कि वृक्ष मूल में पक्षीसंयोगी है, शाखा में नहीं, उसी प्रकार यह प्रतीति नहीं होती कि पद्य पूर्वार्द्ध में काव्य है उत्तरार्द्ध में काव्य नहीं। अतः यह दृष्टान्त यहां लग ही नहीं सकता। इसके अतिरिक्त शौर्य आदि जैसे आत्मा के धर्म है और हार आदि शरीर के शोभा कारक हैं उसी प्रकार काव्यात्मा के धर्म गुण और काव्य शरीर के उपस्कारक अलंकारों को काव्यशरीर के घटक नहीं मान सकते अर्थात् काव्य रूपलक्षण बनाने में उनको सम्मिलित नहीं कर सकते।[१]

इस प्रकार पंडितराज जगन्नाथ ने ' रमणीय अर्थ के प्रतिपादक शब्द ' को काव्य मानने के पक्ष में कई महत्वपूर्ण युक्तियां दीं --

१. ' काव्य ज़ोर से पढ़ा जाता है, ' काव्य से अर्थ ज्ञात होता

---

१. रसगंगाधर, पृ०४-८

है, ` काव्य सुना, अर्थ समझ में नहीं आया ` आदि विश्वजनीन व्यवहार शब्द-विशेष को काव्य सिद्ध करता है, शब्दार्थयुगल को नहीं ।`

२. शब्दार्थयुग में काव्यशब्द की शक्ति के प्रमापक वृद्धतर प्रमाण का अभाव है, अत: शब्दमात्र में काव्यपदव्यवहार में मुख्यार्थबाध नहीं होगा, फिर लक्षणा भी संभव नहीं है ।

३. यही गति वेदपुराण के लक्षणों में भी है ।

४. शब्दार्थोभय में आस्वादोद्बोधन समान होने से ही दोनों को काव्य नहीं कहा जा सकता, क्योंकि यह तत्व तो रागों में और अन्य नाट्यांगों में भी है, और फिर तो वे भी काव्य हैं ।

५. यदि शब्द-अर्थ दोनों `काव्य` पद के शक्यतावच्छेदक हैं, तो व्यासज्यवृत्ति से या प्रत्येकपर्याप्त रूप में ? व्यासज्यवृत्ति से मानने पर ` श्लोक-वाक्य काव्य नहीं है` यह व्यवहार भी होने लगेगा, जो होता नहीं । शब्द और अर्थ पृथक् पृथक् प्रत्येक पर्याप्तरूप में प्रवृत्तिनिमित्त हों, तो एक ही काव्य में शब्द एक काव्य होगा और अर्थ दूसरा ।

६ प्राचीन आचार्यों के लक्षणों में `अदोष` , `सगुण`, `सालंकार` शर्तें भी सन्निविष्ट कर लेने पर तो गुणरहित, अलंकार रहित और दोषयुक्त, किन्तु व्यंजना संपन्न काव्य काव्य ही नहीं हो सकता ।

७. गुणत्व और अलंकारत्व अननुगत हैं और इन अननुगत विषयों को लक्षण में कैसे लिया जा सकता है ।

८. काव्यपद का सदोष में भी प्रयोग होता है, अत: मुख्यार्थ-बाध के अभाव में `दुष्टं काव्यम्` में लक्षणा नहीं मानी जा सकती ।

९. काव्य को किसी अंश में काव्य और किसी भाग में अकाव्य नहीं कहा जा सकता, जैसा ` मूले महीरुहो विहङ्गमसंयोगी न शाखायाम्` इत्यादि व्यवहार है, क्योंकि इस तरह का सार्वजनीन अनुभव काव्य के सम्बन्ध

में नहीं है।

१०. जैसे शौर्य आदि आत्मा के गुण हैं और हार आदि शरीर के शोभाधायक हैं, ये शरीरमूल नहीं हैं, उसी प्रकार गुण और अलंकारों को काव्यशरीरघटित नहीं कह सकते।

पंडितराज के इन तर्कों का खंडन बाद के विद्वानों ने किया है। नागेश ने इनमें से कई तर्कों का खंडन किया है। उनके तर्क हैं--

१. जिस तरह 'काव्य सुना' -- यह व्यवहार होता है, उसी प्रकार 'काव्य समझा'- यह भी व्यवहार होता है और समझना अर्थ का होता है, शब्द का नहीं। अतः व्यवहार के बल पर शब्दार्थोभय काव्य हैं।
२. काव्यधर्मत्व अथवा रसधर्मत्व गुण और काव्यशोभाधायकत्व अलंकारत्व है, अतः गुण और अलंकार अननुगत नहीं हैं।
३. वैदादि भी केवल शब्द को ही नहीं कहते, शब्द-अर्थ दोनों को कहते हैं, तभी 'तदधीते तद्वेद' सूत्रस्थ पतंजलिभाष्य की संगति होती है।
४. शब्द-अर्थ दोनों आस्वादोद्बोधक हैं, अतः दोनों काव्य हैं। शब्दार्थ में विशिष्ट प्रकार का आस्वादोद्बोधन है, वही काव्य है, रागादि नहीं। शब्दार्थ में विशिष्टता चमत्कारि बोध जनकज्ञान की विषयता का अवच्छेदक धर्मवत्त्वरूप है।
५. शब्द-अर्थ दोनों ही 'काव्य' शब्द के प्रवृत्तिनिमित्त व्यासज्यवृत्ति से हैं। शब्दमात्र में काव्य के व्यवहार में लक्षणा मान ली जायेगी।
६. 'अदोषौ' आदि का सन्निवेश काव्य सामान्य के लक्षण में नहीं है, अपितु काव्यविशेष के लक्षण में है।[१]

---

१. गुरुमर्मप्रकाश, रसगंगाधरः, पृ० ७-८ अष्ट संस्क०, १६४७, काव्य० १२

पंडितराज जगन्नाथ के तर्कों का उत्तर प्रसिद्ध विद्वान् गंगाधर शास्त्री ने भी दिया है। नागेशभट्ट के इस कथन पर कि सामान्यलक्षण में `अदोषौ, `सगुणौ, `सालंकारौ` का निवेश नहीं होना चाहिए, (यही पंडितराज का अभिमत है।) और इस तरह कोई भी दोष नहीं है, गंगाधर शास्त्री ने अपनी टिप्पणी दी है —

` यहां यह समझना चाहिए। `तददोषौ शब्दार्थौ`, `अदोषं गुणवत्काव्यम्` इत्यादिकों में प्रदर्शित दोष, भाव, गुण और अलंकार का काव्य के सामान्यलक्षण में उद्देश्यतावच्छेदककोटि में प्रवेश नहीं ही है। उद्देश्यता तो शब्दार्थ में ही है, न कि शब्दमात्र में। लोकोत्तरवर्णनानिपुण-कवि-कर्मता के दोनों में समान होने के कारण शब्दमात्र में कविसंरम्भ गोचरता नहीं है क्योंकि कवि की उच्चारण-कर्मता शब्द में, कवि समवेत रस बोध की औपयिकसामग्री की संघटन विषयक ज्ञान-कर्मता अर्थ में है। अर्थपद से वाच्य-लक्ष्य-व्यंग्यात्मक त्रिविध की ही विवक्षा, तीनों के ही निरूपण के कारण सारे आलंकारिकों द्वारा अवश्य ही स्वीकार्य है, अत: निरुक्तज्ञानकर्मता के कारण सर्वविधव्यंग्य का काव्यत्व दुर्निवार्य है। इस तरह कविकर्तृक रस-विषयक ज्ञान की औपयिक सामग्री के संघटन विषयक ज्ञान का विषयत्वभूत काव्यत्व शब्दार्थ में अनुगत है। `अर्थस्य व्यंजकत्वे तु शब्दस्य सहकारिता`, `अर्थोऽपि व्यंजकस्तत्र सहकारितया मत:` इत्यादि के अनुसार दोनों की ही निरुक्त (पूर्वोक्त) सामग्री घटकता का उपपादन भली भांति हो गया है। इस प्रकार लास्यांगों के काव्य कहलाने की आपत्ति भी नहीं है। क्योंकि उसकी कविकर्तृकनिरुक्त ज्ञानविषयता का अभाव है। और विषयान्तर में व्यासक्त सामाजिकों के मन की उस(काव्य) विषय के प्रति अभिमुखता (और विषयान्तर के प्रति) परिहार पूर्वक काव्यार्थ-भावना-प्रवणता के संपादक होने से रसोद्बोध के प्रति परम्परया प्रयोजक होने पर भी (पूर्वोक्त प्रदर्शित सामग्री घटकता का (लास्यांगों में) अभाव ही है। इसीलिए अर्थदोष अर्थगुण अर्थालंकार, अर्थशक्तिमूल-ध्वनियों के का निरूपण का भी औचित्य है। शब्दमात्र को काव्य मानने पर तो शब्दगत दोष-गुण-अलंकार-ध्वनियों के निरूपण का ही औचित्य होने के कारण और

अत्यधिक अर्थगत उन (दोषगुणालंकारध्वनियों) के निरूपण की अति-प्रसक्ति के कारण उनका निरूपण तो उन्मत्तप्रलाप ही होगा । यह नहीं कहा जा सकता कि अर्थगत दोषगुणालंकारध्वनियों के उत्तम आदि काव्यपदार्थ में परिगणित न होने पर भी उनकी रसोपयोगिता मात्र से निरूपण का औचित्य है, क्योंकि काव्यांग-निरूपण की प्रतिज्ञा करके उनके निरूपण की असंगति का समाधान दुष्कर है । प्रत्युत आपके प्रतिपादित ढंग से तो लाव्यांगों के निरूपणापत्ति का दोष तुम्हारे ही मत में है (क्योंकि रसोपयोगी तो वे भी हैं) और `काव्यं श्रुतम्` इत्यादि प्रतीतियों में भी, शब्दार्थोभय में काव्यत्व महाभाष्यकारादिकथित होने के कारण, `काव्यं पठति` इत्यादि प्रतीतियों के भांति भाक्त प्रयोग ही है ।

इसी से `काव्यं रसात्मकं वाक्यम्` -- इस प्रकार शब्दमात्र में काव्यसामान्यलक्षणयोगिता की प्रतिज्ञा करते हुए, स्वतः आगे `दृश्यश्रव्यत्व-भेदेन पुनः काव्यं द्विधा मतम्` इत्यादि कह कर पूर्वापरविरोध का भी विचार न करने वाला तज्जातीय दर्पणग्रन्थ भी चिन्त्य ही है --यह सहृदयजन विचार करें ।`[१]

महामहोपाध्याय गोकुलनाथ ने भी पण्डितराज के प्रतिपादित तर्कों पर इस प्रकार प्रहार किया --

` यद्यपि अर्थ कविकर्म नहीं है,तथापि यहां प्रथमप्रकाश्यत्व ही कविकर्म कहा जाता है । अन्यथा शब्दनित्यतावाद में मौनी के द्वारा लिख कर के ज्ञापित किये शब्द में भी कवि कर्मता न हो और विनिगमक न होने के कारण अर्थ विशेषावलम्ब शब्द की भांति शब्दविशेषावलम्ब अर्थ भी लोको-त्तरचमत्कारव्यंजक होने से काव्य है --इसलिए दोनों का प्राधान्येन निर्देश है ।

---

१. रसगंगाधरः--टिप्पणी--गंगाधर शास्त्री `मानवल्ली, पृ० १०, बनारस संस्कृत सीरीज, पृ० ३३, बनारस--१८८६.

'काव्यं शृणोति' इस व्यवहार, से तो अर्थांश में भी शब्दबोधार्थक 'श्रु' का प्रयोग उपपादित किया जा सकता है, जैसे 'आत्मा श्रोतव्यः' । जो तो 'शरीरं तावदिष्टार्थव्यवच्छिन्ना पदावली'. वचन है वहाँ व्युत्क्रेद समुच्चय ही है, 'अवच्छिन्नत्व' नहीं, क्योंकि कोई विनिगमक नहीं है ।' रसवत् शब्दार्थोभय काव्य है । वहाँ गीतादि में अतिव्याप्ति के वारण के लिए अर्थ, तथा अभिनेयार्थवारण के लिए शब्द भी ग्रहण किया गया ।" [१]

पंडितराज ने प्राचीनकाव्यलक्षणों में से दो प्रतिनिधिभूत लक्षणों को उठा लिया और उसकी आलोचना की । प्रथमतः मम्मट का और द्वितीय विश्वनाथ का । मम्मट के लक्षण की आलोचना निरन्तर होती रही और उनके टीकाकारों तथा परम्परागत पण्डितों ने मम्मट का बचाव किया है और इसी दौर में शब्दार्थोभयप्राधान्यमुखेन कृत लक्षण की भी रक्षा की गयी है । यद्यपि यह सही है कि पण्डितराज के द्वारा प्रस्तुत सब तर्क सर्वथा अखण्ड-नीय नहीं हैं, किन्तु उससे अधिक यह सत्य है कि काव्यलक्षण के सम्बन्ध में पंडितराज के दृष्टिकोण को समझने की चेष्टा भी नहीं की गयी है ।

मम्मट के लक्षण की आलोचना करते हुए पण्डितराज ने व्यवहार के आधार पर शब्दविशेष को काव्य कहा है, उसके उत्तर में नागेश ने समानान्तर व्यवहार प्रस्तुत कर तर्क को खण्डित करने की चेष्टा की, किन्तु व्यवहार की साक्षी देने का पंडितराज का आशय ही है कि काव्य के लक्षण में शब्दप्राधान्य इसलिए होना चाहिए क्योंकि यहाँ चमत्कार सृष्टि का चरम माध्यम शब्द होता है । यदि संगीत में रमणीयार्थ की सृष्टि का प्रतिपादन के माध्यम' स्वर' हैं और यदि चित्र में रेखाएं और रंग रमणीयार्थ के प्रति-पादन के माध्यम हैं, यद्यपि रमणीयार्थता की उपस्थिति सर्वत्र समान है, किन्तु माध्यम भेद से कला की विधा का भेद हो जाता है, ठीक उसी प्रकार शब्द

---

१. रसगंगाधर, पृ० ६८, 'चन्द्रिका', पंडित बदरीनाथ झा द्वारा उद्धृत ।

के माध्यम को अनिवार्यत: स्वीकार करने के कारण काव्य की परिभाषा में शब्दमुखता होनी चाहिए । इसी बात का संकेत काव्य की समानता शब्दप्रधान वेदादि से करते हुए पंडितराज ने किया । वेदादि के वर्णित अर्थ को यदि शब्दान्तर में कह दिया जाय, तो क्या फर्क पड़ता है, किन्तु वेद के उन्हीं शब्दों में पुण्यजनकता मान कर शब्दप्राधान्य माना गया है । अत: मन्त्रादि के जप में अर्थज्ञान के बिना भी शब्दग्रहण मात्र से पुण्य की प्राप्ति होती है । आशय इतना है कि वेदादि में तत्तद् शब्द के माध्यम से पुण्यसृष्टि आदि होती है, उन शब्दों को नहीं बदला जा सकता ठीक उसी प्रकार काव्य में शब्दमाध्यम को नहीं छोड़ा जा सकता । दोनों में अन्तर इतना अवश्य है कि काव्य में कभी वे ही शब्द अनिवार्य होते हैं, कभी नहीं भी होते । अत: माध्यम के रूप में शब्द का जो महत्व है, उसे ध्यान में रख कर पण्डितराज का `शब्दविशेष` को काव्य कहना उचित ही है । इसका यह आशय नहीं है कि उन्होंने केवल शब्द को काव्य कहा है या अर्थ को काव्यशरीर में उन्होंने गिना नहीं` रमणीयअर्थ के प्रतिपादनजनितवैशिष्ट्य को स्वीकार कर, `शब्दार्थौ यत्र गुणीभावितात्मानौ कमप्यर्थमभिव्यंक्त: कह कर तथा अर्थचमत्कृति-सामान्यशून्य एवं शब्दचमत्कृतियुक्त को अधमाधम ही नहीं काव्य कह कर उन्होंने वाच्य अर्थ के महत्व को ध्वनि-संप्रदाय के अनुकूल ही स्वीकार किया है । शब्द के महत्त्व को इतने ही अंश में उन्होंने स्वीकार किया है कि काव्य में वाच्यार्थ के व्यंजक होने की दशा में भी वाच्यार्थ के लिए भी वाचक शब्द अपरिहार्य है, अत: माध्यम होने का गौरव शब्द को मिलना चाहिए ।` अर्थस्य व्यंजकत्वे तु शब्दस्य सहकारिता` कह कर मम्मट ने इसी ओर संकेत किया है । आखिरकार वह वाच्य शब्दप्रमाणवेद्य ही तो है ।[१] यद्यपि जहां शब्द व्यंजक रहता है, वहां अर्थ भी सहकारी माना गया है, इसलिए अर्थ के महत्व का निषेध कौन कर सकता है, क्योंकि अर्थ की यह सहकारिता तो रंग, रेखा और स्वर के व्यंजक रहने पर भी समान रूप से रहेगी, किन्तु काव्य में

---

१. काव्यप्रकाश— उल्लास ३, का-२३

शब्दप्रमाणापेक्षता रखने के कारण काव्यलक्षण में इसका निर्देश होना सर्वथा न्यायोचित है। अत: महामहोपाध्याय गंगाधर शास्त्री द्वारा पंडितराज को शब्दमात्र काव्यवादी मानकर उनके लक्षण में दोष दिखलाना बहुत ठीक नहीं है। पण्डितराज द्वारा अर्थगत गुणालंकारध्वनि आदि के विवेचन में कहीं कोई असंगति नहीं है क्योंकि वे 'शब्दविशेष' को काव्य कहते हैं और वैशिष्ट्य रमणीयार्थ प्रतिपादनमूलक ही है। अत: उनके मत में रागादि के विवेचन की आपत्ति का प्रसंग ही कहां है? इसी तरह शब्दप्राधान्यमुखेन काव्य लक्षण लिखने वाला यदि काव्य को 'दृश्य' और 'श्रव्य' भेद में बांटता है तो उसका इतना ही आशय होता है कि यदि 'दृश्य' काव्य में वाणी का आश्रय न लिया जाय तो फिर उसको नृत्य ही कहना उचित होगा। चूंकि शब्दप्रयोग पुर:सर ही वह रूपित भी होता है, अतएव उसे दृश्यकाव्य कहना सर्वथा उचित है। इसी प्रकार महामहोपाध्याय गोकुलनाथ शास्त्री ने भी जो पंडितराज की आलोचना की वह भी ठीक नहीं है, क्योंकि पंडितराज शब्दमात्र को काव्य कहते ही नहीं।

शब्द अर्थ दोनों में विशिष्ट आस्वादोद्बोधकत्व मानने वाले नागेश इस वैशिष्ट्य के आधार पर शब्दार्थोभय का सन्निवेश समुचित मानते हैं, पंडितराज भी अर्थ में इस विशिष्ट आस्वादोद्बोधकता को अस्वीकार कहां करते हैं। फिर भी 'शब्द' को काव्य कहने से उनका यही आशय प्रतीत होता है कि शब्द में एक वैशिष्ट्य और है और वह काव्य की शब्दमाध्यमता है। अन्तत: काव्य में शब्द का आश्रय ही तो उसका अन्य कलाओं (Arts) से भेदक है।

शब्द-अर्थ दोनों की व्यासज्यवृत्ति से काव्यपद का प्रवृत्तिनिमित्त मानने में रूढ लक्षणा को प्रमाणित करने का प्रमाण नागेश के पास नहीं है।

मम्मट के लक्षण में 'अदोषौ' 'सालंकारौ' आदि पदों के सन्निवेश पर, भले ही उन्हें किसी किसी प्रकार अनुगत मान लिया जाय, यदि काव्य विशेष और काव्यसामान्य की कल्पना करनी पड़े तो यही इस सन्निवेश की कठिनाई बता देती है। इसी तरह उद्देश्यतावच्छेदक और विधेयतावच्छेदक

कोटि की कल्पना भी ।

इस तरह काव्यलक्षण के प्रसंग में मम्मट के लक्षण की आलोचना एक विशेष दृष्टिकोण से की गयी है ।

किन्तु आचार्य मम्मट जैसे महान् ध्वनिवादी ने अपनी परिभाषा में 'शब्दार्थौ' पद रख कर रमणीय व्यंग्य अर्थ के प्रतिपादन में वाच्य आदि अर्थ की भूमिका स्पष्ट की थी । यह बात तो माननी ही पड़ेगी कि जहाँ वाच्यादि अर्थ से व्यंग्य अर्थ का प्रतिपादन होता है, वहाँ उनकी भूमिका शब्द से कम नहीं, बल्कि उपायभूत और अधिक महत्वपूर्ण है ।[१] अतएव रमणीयार्थप्रतिपादन में प्रतिपादक अर्थ को 'द्वार' अथवा 'अवान्तरव्यापार'[२] मात्र ही मान कर उसकी इस भूमिका को तिरोहित करना ठीक नहीं । पण्डितराज ने ध्वनि-काव्य की परिभाषा में "शब्दार्थौ यत्र गुणीभावितात्मानौ" कह कर इस तथ्य को स्वीकार किया है । अभिव्यंजक के रूप में अर्थ को स्वीकार कर उसके महत्त्व को तो वे स्वीकार करते ही हैं । फिर 'काव्य' पद के प्रवृत्तिनिमित्त के विवेचन में और मम्मट के काव्यलक्षण की आलोचना में उनके 'शब्द' पर बल और 'वेद' से उसकी तुलना से यही प्रतीत होता है कि काव्य की शब्दमाध्यमता को वे स्पष्टतः वे बताना चाहते हैं । तब उनके लक्षण में उपर्युक्त स्थिति में 'वाच्यादि' की भूमिका को ध्यान में रख कर उनका ग्रहण कहाँ है ? प्रतीत होता है, जिस प्रकार आचार्य आनन्दवर्द्धन ने "योऽर्थः सहृदयश्लाघ्यः काव्यात्मेति व्यवस्थितः । वाच्यप्रतीयमानाख्यौ तस्य भेदावभौ स्मृतौ ।"- कारिका में प्रथमतः 'सहृदयश्लाघ्य' अर्थ के साथ-साथ वाच्यको भी परिगणित कर,[३] फिर

---

१. "आलोकार्थी यथा दीपशिखायां यत्नवान् जनः ।
तदुपायतया तद्वदर्थे वाच्ये तदादृतः ।।" ध्वन्यालोक, १-९

२. रसगंगाधर का शास्त्रीय अध्ययन, पृ० ३५

३. अभिनवगुप्तपादाचार्य ने इस रहस्य को बड़ी स्पष्टता से कहा- "तेनात्र विभक्तता न भासते । न तु वाच्यस्यैव सर्वथानवभासः । अतएव तृतीयोद्योते घटप्रदीपदृष्टान्तबलाद् व्यङ्ग्यप्रतीतिकाले पि वाच्यप्रतीतिर्न विघटते ।"
—लोचन, ध्वन्यालोक, पृ० ६८१ (मद्रास)

दोनों के भेद को स्पष्ट कर दिया , उसी प्रकार पंडितराज ने भी प्रथमत: रमणीयार्थ में ही इन अर्थों को क्रोडीभूत कर फिर काव्यभेद विवेचन के द्वारा इन अर्थों के स्तरभेद को अत्यन्त स्पष्ट कर दिया । अर्थालंकारों को शब्दालंकारों से श्रेष्ठता प्रदान करने में भी यही दृष्टि है । गुण-विवेचन तथा आर्थी व्यंजना के निरूपण द्वारा उन्होंने रमणीयार्थप्रतिपादन में अर्थ के इस विशिष्ट महत्त्व को स्वीकार किया ।

विश्वनाथ ने 'रसात्मकता' की जो अपरिहार्य शर्त लगा दी है, उससे निश्चय ही वस्तुध्वनि और अलंकारध्वनि प्रधान काव्य को काव्य मानने में कठिनाई होगी । आनन्दवर्द्धन तथा अभिनवगुप्तपादाचार्य की 'ध्वनि' में तो वह कठिनाई नहीं आ पाती ।

इस समस्त विवेचन को ध्यान में रखते हुए पण्डितराज के काव्य-लक्षण में योगदान का मूल्यांकन यदि हमें अभीष्ट हो तो उनकी सूक्ष्मेक्षिका स्पष्ट हो जाती है । एक ओर उन्होंने काव्य में शब्द की विशिष्ट भूमिका पर सही दृष्टि डाली, दूसरी ओर काव्य की केवल शरीरकेन्द्रित और केवल आत्म-केन्द्रित परिभाषाओं को उचित सन्तुलन प्रदान कर काव्य के प्रति एक बहुत ही सन्तुलित दृष्टि दी । निश्चय ही संस्कृत काव्यशास्त्र में काव्य की अनेक परि-भाषाएं हुई हैं, किन्तु यदि कोई परिभाषा अधिक से अधिक विविध काव्य-राशि को अपने अंक में सही ढंग से समेट सकती है, तो वह पंडितराज की काव्य-परिभाषा ही कही जा सकती है ।

काव्यहेतु

काव्यस्वरूप के निर्धारण के अनन्तर काव्य के हेतु का प्रश्न विचारणीय है। प्राचीन आचार्यों ने काव्यहेतु के सम्बन्ध में अपने विचार आरंभ से ही रखे हैं। काव्य के हेतु प्रतिभा अथवा शक्ति व्युत्पत्ति तथा अभ्यास इन्हीं तीन तत्वों के विवेचन के सन्दर्भ में अनेक पक्ष संस्कृत काव्यशास्त्र के इतिहास में उभरे हैं। प्रमुख मतभेद इस बात को लेकर रहा है कि क्या काव्य का हेतु केवल शक्ति अथवा प्रतिभा है अथवा प्रतिभा के साथ-साथ अन्य अनिवार्य हेतु भी हैं अथवा प्रतिभा अनिवार्य हेतु नहीं है।

काव्य-हेतु के सन्दर्भ में आचार्य भामह ने संकेत किया कि गुरू के उपदेश से तो जडधी भी शास्त्र पढ़ने में समर्थ है, किन्तु काव्य तो किसी ही प्रतिभा-सम्पन्न में उदित होता है।[१] वामन ने भी प्रतिभा को कवित्व का बीज स्वीकार किया है। जिसके बिना काव्य बनता ही नहीं और यदि निष्पन्न भी हो तो उपहास योग्य ही हो जाता है।[२] इस प्रकार स्पष्ट है कि भामह और वामन दोनों ही ने यद्यपि प्रतिभा के महत्व की प्रतिष्ठा की है और दोनों ने ही उसे काव्य का मूलकारण माना है, किन्तु काव्य के अन्य साधनों की चर्चा भी उन्होंने साथ ही साथ की है।

भामह ने स्पष्टशब्दों में कहा है कि काव्यजन को व्याकरण, छन्द, शब्द-अर्थ, इतिहासाश्रित कथायें, लोक व्यवहार, युक्ति कलाएं- इनको जानना

---

१. काव्यालंकार:, भामह, १।५, बालमनोरमा सीरीज़, पृ० ५४, मद्रास १९५६ ई०

२. हिन्दी-काव्यालंकार-सूत्रवृत्ति-वामन, १।३।१६, हिन्दी अनुसन्धान परिषद् ग्रन्थमाला-१, दिल्ली, १९५४ ई०

चाहिए । शब्द और अर्थ जानकर, तद्वेता का आराधन कर और अन्य रचनाओं को देखकर काव्यक्रिया के प्रति आदर करना चाहिए ।"[1] स्पष्टत: भामह ने प्रतिभा को काव्य का प्रधान हेतु मानते हुए भी काव्यसर्जन के लिए उन साधनों को भी आवश्यक माना , जिन्हें बाद में 'निपुणता' और 'अभ्यास' के नाम से बताया गया ।

वामन ने भी यद्यपि स्पष्ट शब्दों में प्रतिभा को कवित्व का बीज बताया तथापि उन्होंने प्रतिभा को वांछित गौरव नहीं दिया । उन्होंने काव्य के अंगों का निरूपण करते हुए लोक, विद्या और प्रकीर्ण इन तीन अंगों को माना है । लोक से तात्पर्य लोकव्यवहार, विद्या से अभिप्राय शब्दस्मृति, अभिधानकोश, छन्दोविचिति, कलाशास्त्र, कामशास्त्र, और दण्डनीति से तथा प्रकीर्ण से अभिप्राय लक्ष्यज्ञान, अभियोग, वृद्धसेवा, प्रतिभान और अवधान से है ।[2] काव्य के अंग शब्द से वामन का अभिप्राय काव्य के अवयव से नहीं है, अपितु उनका अभिप्राय काव्य के साधनों से है ।[3] स्पष्ट है कि भामह और वामन ने प्रतिभा के महत्त्व को स्वीकार कर भी अन्य कारणता को भी प्रस्तुत कर दिया था ।

आचार्य दण्डी ने काव्यहेतु के सम्बन्ध में असंदिग्ध और स्पष्ट शब्दों में अपना मत रखा —" नैसर्गिक प्रतिभा, प्रचुर, निर्मल श्रुत और अमन्द अभियोग काव्य सम्पत्ति के कारण है ।"[4] अभियोग का अर्थ पुन: पुन: अनुसंधान

---

१. काव्यालंकार—भामह— १।६-१०

२. काव्यालंकार सूत्र—वामन— १।३।२,१।३।३, १।३।११ , हि०अ०प०ग्रन्थमाला

३. हिन्दी काव्यालंकार सूत्र—अनु० आचार्य विश्वेश्वर, पृ० ३६

४. काव्यादर्श—दण्डी १।१०३

है।[१] इस तरह दण्डी ने नैसर्गिक प्रतिभा, अनल्प निर्मल शास्त्र श्रवण और अमन्द अभ्यास को ही काव्यहेतु स्वीकार किया है।

रुद्रट ने केवल शक्ति को ही काव्य का कारण माना।[२] राजशेखर ने किन्हीं श्यामदेव के मत का उल्लेख किया है जिनके अनुसार काव्यकर्म में कवि की समाधि अर्थात् मन की एकाग्रता ही परम उपाय है। उन्होंने ही आचार्य " मगल के मत में 'अभ्यास' (व्युत्पत्ति) को काव्य रचना में परम व्यापार मानने के मत का उल्लेख किया ।

कवेः संव्रियते शक्तिर्व्युत्पत्त्या काव्यवर्त्मनि ।
वैदग्धीविंतद्भितानां देया शब्दार्थगुम्फना ।। "

(काव्य - पृ० ३८

राजशेखर ने केवल शक्ति को ही काव्य का कारण माना।[३] किन्तु मम्मट ने काव्यहेतु के विवेचनप्रसंग में कहा " शक्ति, लोकव्यवहार तथा काव्यादि के विमर्श से उत्पन्न निपुणता, काव्यज्ञों की शिक्षा से अभ्यास उस(काव्य) के उद्भव का कारण है।" मम्मट ने स्पष्ट कर दिया कि ये तीनों समस्तरूप में एक होकर कारण हैं, अलग-अलग नहीं।[४]

मम्मट ने काव्य का हेतु प्रतिभा को बताते हुए-कहा कि उसका कारण प्रतिभा है, व्युत्पत्ति भूषण और अभ्यास उसकी उत्पत्ति को बढ़ाता है[५]। आचार्य हेमचन्द्र ने भी काव्य का हेतु केवल प्रतिभा को ही माना है।[६] पीयूषवर्षी जयदेव ने सदृष्टान्त स्पष्ट किया — " व्युत्पत्ति और अभ्यास सहित प्रतिभा

---

१. बीकानेर राजकीय पुस्तकालयस्थित 'काव्यादर्शव्याख्या उद्धृत— हिन्दी रसगंगाधर —पुरुषोत्तम चतुर्वेदी, पृ० १४ ,सूर्यकुमारी पुस्त०, १६, ना०प्र०सभा,काशी
२. काव्यालंकार,पृ०
३. काव्यमीमांसा-राजशेखर, पृ० ४३, हरिदास संस्कृत ग्र०मा०, १४,बनारस,१६५१
४. काव्यप्रकाश, मम्मट, १।३ संपा० वामनाचार्य झलकीकर, भा०ओ०रि०रि०,पूना
५. वाग्भटालंकार, पृ०
६. काव्यानुशासन, हेमचन्द्र, पृ० ४, काव्य—७० बम्बई, १६०१ ई०

कविता का हेतु है जैसे मिट्टी और जल से सम्बद्ध बीजोत्पत्ति लता का ।"

पण्डितराज ने इस परम्परा में अपना मत [१] जोड़ा । विवेचन-पुर: सर उन्होंने कहा कि काव्य का हेतु एक मात्र प्रतिभा है । प्रतिभा ही वह तत्व है जिसके रहने पर काव्य की रचना करना संभव है और जिसके अभाव में काव्य का सर्जन संभव नहीं ।

प्रतिभा का स्वरूप-- काव्य के हेतु का युक्तियुक्त निर्णय तभी संभव है, जब प्राचीन आचार्यों की प्रतिभा की स्वरूपविषयक धारणा स्पष्ट कर ली जाय । प्रतिभा के स्वरूप के सम्बन्ध में भामह और मौन हैं किन्तु दण्डी ने उसे `पूर्ववासनागुणानुबन्धि` और `अद्भुत` माना है । [२] काव्य का कारण भी वह `नैसर्गिकी` प्रतिभा को मानते हैं । स्पष्टत: दण्डी प्रतिभा को पूर्ववासना के गुणों से सम्बद्ध मानते हैं और ऐसी अद्भुत एवं नैसर्गिक प्रतिभा ही काव्य का हेतु है । वामन भी प्रतिभा को `जन्मान्तरागत कोई संस्कार विशेष` मानते हैं । रुद्रट शक्ति की परिभाषा यों करते हैं -- " जिसके होने पर अच्छी तरह एकाग्र किये गये मन में अनेक प्रकार के अर्थों की स्फूर्ति होती है और अक्लिष्ट पद उद्भासित होते हैं वह शक्ति है ।" वह शक्ति दो प्रकार की होती है, प्रथम सहजा और द्वितीय उत्पाद्या । उत्पाद्या तो उत्कृष्ट व्युत्पत्ति से उत्पन्न होती और सहजा के सम्बन्ध में कुछ कहना ही नहीं है, वह तो ईश्वरदत्त अथवा अदृष्टजन्य ही होती है । अभिनव गुप्त ने भी प्रतिभा को `अनादिप्राक्तनसंस्कार` [३] माना है । भट्टतौत ने कहा है" अतीतविषया स्मृति होती है, मति आगामिगोचरा होती है, बुद्धि तात्कालिकी कही गयी है,

---

१. चन्द्रालोक, जयदेव

२. काव्यादर्श-- दण्डी १।१०३

३. `अनादिप्राक्तनसंस्कारप्रतिभानमय: ` -- अभिनवभारती

प्रज्ञा त्रैकालिकी समझी जाती है।' नव-नव उन्मेषशालिनी प्रज्ञा को प्रतिभा कहा गया है।'[१] अभिनवगुप्त ने इस परिभाषा को और भी विस्तृत किया — 'प्रतिभा अपूर्ववस्तुनिर्माणक्षम प्रज्ञा को कहते हैं।'[२] कवि प्रतिभा इसी का एक विशेष प्रकार है जिसके द्वारा सहृदय कवि 'रसावेश-वैशद्यसौन्दर्यकाव्यनिर्माण' की क्षमता प्राप्त करता है।[३] राजशेखर ने प्रतिभा उसे बताया है जो 'शब्दग्राम, अर्थसार्थ, अलंकारतन्त्र, उक्तिमार्ग और ऐसी अन्य वस्तुओं को हृदय में प्रतिभासित करती है।'[४] महिम भट्ट ने कहा 'रसानुकूल शब्द-अर्थ के चिन्तन में तल्लीन समाहित चित्त कवि की प्रज्ञा ही, जबकि वह शब्द-अर्थ के वास्तविक स्वरूप का स्पर्श करती हुई सहसा उद्दीप्त हो उठती है, प्रतिभा कहलाती है।'[५] हेमचन्द्र भी 'नवनवोल्लेखशालिनी प्रज्ञा' को प्रतिभा मानते हैं।[६] यह प्रतिभा द्विविध होती है सहजा और औपाधिकी। उदित आवरण के क्षय या अनुदित आवरण के उपशम से जो प्रकाश का आविर्भाव होता है वही सहजा प्रतिभा है और मन्त्र देवतादि के अनुग्रह से उत्पन्न औपाधिकी। यद्यपि यहाँ भी आवरणक्षयोपशम निमित्त है, किन्तु मन्त्र-देवतानुग्रहरूप उपाधि स्पष्ट है, अतएव इसे औपाधिकी कहते हैं।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि दण्डी प्रतिभा को 'पूर्ववासनागुणानुबन्धिनी' और 'नैसर्गिकी' मानते हैं। रुद्रट के अनुसार प्रतिभा में कवितानुकूल शब्दार्थ स्फुरित और प्रदीप्त होते हैं, अतः वह एक प्रकार का संस्कार ही

---

१. काव्यकौतुक-भट्टतौत
२. 'प्रतिभा अपूर्ववस्तुनिर्माणक्षमा प्रज्ञा' - लोचन, पृ० १२
३. 'तस्या विशेषो रसावेशवैशद्यसौन्दर्यकाव्यनिर्माणक्षमत्वम्।' (ध्वन्यालोक लोचन, पृ० २९
४. काव्यमीमांसा — पृ० ४३, चौ०सं०विद्याभवन, बनारस
५. व्यक्तिविवेक — महिमभट्ट, पृ० ३९०-९१
६. काव्यानुशासन पृ०

होगा । वामन, और मम्मट स्पष्ट रूप से प्रतिभा को संस्कार विशेष मानते हैं । इन आचार्यों की संस्कार की धारणा क्या है ? नागेश ने `संस्कारविशेष` की व्याख्या इस प्रकार की है — `देवताराधनादि से उत्पन्न विलक्षण अदृष्ट इससे काव्यनिर्माण हो सकता है—इसे योग से शक्ति कहा जाता है ।`[१]

दण्डी प्रतिभा को नैसर्गिक मानते हैं । यह `अदृष्ट` नहीं हो सकता, क्योंकि `अदृष्ट` तो पुरुष के कर्म से उत्पन्न होता है, वह नैसर्गिक कैसा ? दूसरे अदृष्ट `पूर्ववासनागुणानुबन्धि` नहीं हो सकता, वह तो पूर्वकर्मों का फल है, वह पूर्वजन्म के संस्कार के गुणों का अनुगामी नहीं अपितु जनक होगा । अतः दण्डी के मत से `प्रतिभा` एक प्रकार की बुद्धि हो सकती है, संस्कार अथवा अदृष्ट नहीं ।

रुद्रट प्रतिभा को सहज और व्युत्पत्तिलभ्य दो प्रकार की मानते हैं । सहजप्रतिभा अदृष्टजन्य हो सकती है, किन्तु व्युत्पत्ति से तो अदृष्ट प्राप्ति हो नहीं सकती, अतः व्युत्पत्तिलभ्य प्रतिभा अदृष्टजन्य नहीं हो सकती । रुद्रट के मत में प्रतिभा सहज ही नहीं व्युत्पत्तिलभ्य भी है । किन्तु वामन और मम्मट के मत में प्रतिभा पूर्वजन्मीयवासनारूपिणी ही प्रतीत होती है ।[२]

प्रतिभा के स्वरूप के सम्बन्ध में इन मतभेदों का सुन्दर समाधान अभिनवगुप्त के विवेचन में हुआ है । उन्होंने प्रतिभा को `अनादिप्राक्तनसंस्कार` कह कर भी यह स्पष्ट कर दिया है —(१) प्रतिभा प्रज्ञा का ही एक रूप है । (२) इसका कार्य है नव-नव रूपों का उन्मेष । (३) प्रतिभा का एक विशिष्ट स्वरूप है कविप्रतिभा, जिससे कवि काव्यसृष्टि करता है ।

काव्य निर्माण में अनुकूलपदयोजना द्वारा रमणीयार्थोपस्थापन

---

१. उद्योत - नागेश, पृ०

२. हिन्दी रसगंगाधर, सं० पुरुषोत्तम चतुर्वेदी - भूमिका, पृ० १६- २० नागरी प्रचारिणी सभा, काशी ।

ही कवि का व्यापार है। यह बुद्धि से ही सम्पाद्य है, न कि अदृष्ट अथवा संस्कार से। अदृष्ट और संस्कार बुद्धि को वैसी बनाने में कारण हो सकते हैं। इस तरह काव्य का कारण "नवनवोन्मेषशालिनी" बुद्धि होगी। अदृष्ट अथवा संस्कार उसका कारण हो सकता है, साक्षात् काव्य का नहीं।

पण्डितराज जगन्नाथ ने इसीलिए प्रतिभा को "काव्य घटना के अनुकूल शब्द और अर्थ की उपस्थिति" ही माना। तद्गत काव्यकारणतावच्छेदक (कारण में विद्यमान मूल धर्म) प्रतिभात्व जातिविशेष और नागेश के अनुसार नीलघटत्व आदि की तरह सखण्डोपाधि है।[१]

प्रतिभा का स्वरूप-विवेचना करते हुए डा० प्रेमस्वरूप गुप्त ने "प्रतिभात्व" को अपर सामान्य का विशेष रूप माना। उन्होंने "प्रतिभात्व" को अपरसामान्य का विशेषरूप माना। उन्होंने प्रतिभात्व को "प्राणप्रद" सिद्ध के रूप में स्वीकार किया, जो उचित ही है।

" उपाधि एवं वाखण्डम् " की व्याख्या करते हुए उन्होंने यह मत व्यक्त किया कि प्रतिभात्व को जातिविशेष मानकर पंडितराज ने उसके "कारणात्मक पक्ष" का ही अधिक उद्घाटन किया। उसके चेतनात्मक मूल रूप पर प्रकाश डालने के लिए पंडितराज ने प्रतिभात्व की वेदान्ती व्याख्या की और उसे "अखण्ड उपाधि" का तात्पर्य "प्रतिभा का मूल रूप निर्विकल्पात्मक चेतना" माना। यह स्थिति विकल्प या विलक्षणताओं की दृष्टि से अव्यक्त अथवा अनुन्मीलित है। विभिन्न रूप अदृष्टों से अथवा व्युत्पत्ति अभ्यास से इसका उन्मीलन होता है। फलत: प्रतिभात्व विशिष्ट प्रतिभा उन्मीलित अवस्था में आता है। यह उन्मीलित अवस्था उन्मीलक कारणों की विविधरूपता के कारण विविधरूपा ही होती है, तथा तदनुरूप उसका कार्य काव्य सर्जन भी विविधरूप में होता है। सखण्ड उपाधि अथवा सविकल्पात्मक प्रतिभा के विलक्षण रूपों में प्रतिभा का यह मूलरूप अखण्ड उपाधिस्वरूप प्रतिभात्व ही सन्निविष्ट रहता है।"

---

१. "नीलघटत्वादिवत्सखण्डोपाधिरेवेति वार्थ:।" अखण्डम् " इति" पाठस्तु चिन्त्य एव।" —— मर्मप्रकाश, पृ० ६

इस तरह उन्होंने `प्रतिभा` को तो सखण्ड उपाधि और `प्रतिभात्व` को अखण्ड उपाधि` मान कर नागेश का खण्डन किया । नागेश ने `नीलघटत्वादिवत्सखण्डोपाधिरेवेति वार्थः । अखण्डम् इति पाठस्तु चिन्त्य एव कह कर प्रतिभात्व को `नीलघटत्व` की भांति सखण्ड उपाधि माना । वे कहना चाहते हैं, प्रतिभा को काव्यघटनानुकूलशब्दार्थोपस्थिति कहा गया है । शब्द तथा अर्थ की यह उपस्थिति चेतना की सविकल्पक स्थिति में ही हो सकती है। वह नीलघटत्व आदि के समान विशेषणाविशेष्यावगाही ज्ञान के क्षेत्र में रहती है । अत: उसे भी नीलघटत्वादि के समान सखण्ड उपाधि ही कहना चाहिए । `अखण्ड` पाठ उचित नहीं ।`

डा० गुप्त पाठान्तर के प्रश्न को अस्वीकार करते हुए उत्तर देते हैं -`नागेश की आलोचना का कारण स्पष्ट है । पण्डितराज के अनुसार `प्रतिभात्व` अखण्ड उपाधि है, `प्रतिभा सखण्ड । नागेश दोनों की स्पष्ट चेतना न रखने के कारण एक की आलोचना दूसरे पर आरोपित करत देते हैं। वे अदृष्टादि प्रयोजकों द्वारा अनुन्मीलित प्रतिभात्व को प्रतिभा के मूलरूप को, नहीं समझ सके । और उसका मूल कारण था पण्डितराज की दार्शनिक पृष्ठ-भूमि को निर्धारित करके न चलना ।`[१]

पण्डितराज ने प्रतिभा के इस लक्षण की प्रेरणा एक ओर भट्टतोत से ग्रहण की तो दूसरी ओर राजशेखर से । काव्यघटन के अनुकूल शब्द-अर्थ की उपस्थिति रूप प्रतिभा ही काव्य का हेतु है । उस प्रतिभा का हेतु कभी तो देवता और महापुरुषों आदि की प्रसन्नता आदि से प्राप्त अदृष्ट हो सकता है और कभी विलक्षण व्युत्पत्ति और अभ्यास । किन्तु ये तीनों सम्मिलित रूप में कारण नहीं हैं, क्योंकि बालकों और अबोधों को भी केवल महापुरुष के अनुग्रह से ही प्रतिभा की उत्पत्ति होती है । यहां भी पूर्वजन्म के विलक्षण व्युत्पत्ति और अभ्यास ही को माना जा सकता है,

---

१. रस गंगाधर का शास्त्रीय अध्ययन, पृ० ६५-६७

अर्थात् पूर्वजन्म में व्युत्पत्ति-अभ्यास सिद्ध हो चुके थे, महापुरुष प्रसाद से प्रतिभा निपुणता और अभ्यास जागृत हो गया—यदि यह तर्क रखा जाय तो इसके विरुद्ध तीन तर्क हैं —प्रथमत: गौरव है, अर्थात् व्युत्पत्ति और अभ्यास को कारण माने बिना भी जब काम चल सकता है तो उन्हें कारण क्यों माना जाय ? द्वितीय मानाभाव अर्थात् इसमें प्रमाण नहीं कि ऐसे स्थल पर भी, इन तीनों को सम्मिलित रूप में प्रतिभा का कारण मानना चाहिए । तृतीय बिना तीनों को कारण माने भी कार्य सिद्ध हो जाता है ।

आशय यह है कि जब वेदादि किसी प्रबल प्रमाण से यह सिद्ध हो जाता है कि अमुक वस्तु का कारण अमुक है और सामान्य जीवन कहीं इस नियम का व्यभिचार दिखाई पड़ता है (तो चूंकि वेदादि प्रमाण झूठे नहीं हो सकते) अन्यथा अनुपपत्ति होने से पूर्वजन्म में किये गये धर्म-अधर्म आदि को कारण मानना पड़ता है, किन्तु यदि वेदादिक प्रबल प्रमाण के अभाव में भी हमारे ही निश्चित कार्यकारण सम्बन्ध में व्यभिचार पड़ता है, तब ऐसी कल्पना को भ्रम ही माना जाता है ।

अब यदि यह कहा जाय कि हम केवल अदृश्य को ही कारण मान लेंगे, तो भी ठीक नहीं, क्योंकि बहुतेरे ऐसे भी लोग होते हैं कि वे बहुत समय तक काव्य रचना नहीं कर पाते , किन्तु कुछ दिनों बाद जब उन्हें किसी प्रकार व्युत्पत्ति और अभ्यास हो जाता है, तब उनमें प्रतिभा का प्रादुर्भाव हो जाता है । यदि वहां भी अदृष्ट को कारण मानलें, व्युत्पत्ति और अभ्यास को पहले उनमें प्रतिभा क्यों नहीं उत्पन्न हुई ? यदि यह कहा जाय कि वहां प्रतिभा का प्रतिबन्धक कोई अदृष्टान्तर मान लिया जाय, तो यह ठीक नहीं, क्योंकि प्राय: व्युत्पत्ति और अभ्यास होने पर ही कविता रचने वाले अधिक देखने में आते हैं अत: अनेक स्थलों पर दो-दो अदृष्ट मानने की अपेक्षा, कविता के प्रतिबन्धक अदृष्ट के नाश के लिए जिस व्युत्पत्ति और अभ्यास की कल्पना करनी पड़ती है, उसी व्युत्पत्ति और अभ्यास को कारण मानलेना समीचीन है । अत: प्रतिभा का कारण अदृष्ट को पृथक् और व्युत्पत्ति एवम् अभ्यास को पृथक् मानना ही ऋजु मार्ग है ।[1]

---

१. रसगंगाधर, पृ० - १०

किन्तु इस मान्यता से एक शंका उठ सकती है कि अदृष्ट एवं व्युत्पत्ति-अभ्यास इन दो पृथक् कारणों से प्रतिभा रूप एक कार्य मानते हैं, तो इन दोनों कार्यकारणभावों में व्यतिरेक व्यभिचार होगा, क्योंकि कारण दो हैं और कार्य एक। अदृष्ट के बिना व्युत्पत्ति-अभ्यास से और व्युत्पत्ति अभ्यास के बिना अदृष्ट से प्रतिभा उत्पन्न होगी, तो इसका उत्तर यह है कि अदृष्ट से उत्पन्न प्रतिभा के प्रति अदृष्ट, व्युत्पत्ति अभ्यास के अनन्तर होने वाली प्रतिभा का वे ही कारण होंगे अर्थात् दो कारणों की भांति कार्य भी दो ही हैं, एक नहीं।

अब भी एक शंका उठ सकती है कि यदि अदृष्ट से भी प्रतिभा उत्पन्न होती है और व्युत्पत्ति एवम् अभ्यास से भी, और दोनों भिन्न प्रकार की हैं किन्तु काव्य दोनों से एक रूप ही बन सकता है, तो फिर व्यभिचार उत्पन्न हो जायगा, क्योंकि नियम है कि भिन्न भिन्न कारणों से भिन्न भिन्न कार्य उत्पन्न हों।

किन्तु यह शंका भी निर्मूल है। इसके दो समाधान हैं। प्रथमत: जैसे काव्यरूप कार्य एक है, उसी प्रकार प्रतिभारूप कारण को भी एक ही मानेंगे अर्थात् प्रतिभा में `अदृष्टजन्यत्व` अथवा `व्युत्पत्त्यभ्यासजन्यत्व` विशेषण न देकर `काव्य के प्रति प्रतिभा कारण है` - इस तरह का कार्यकारण भाव माने इस सामान्यकार्यकारणभाव मानने से व्यभिचार की आशंका नहीं है। काव्य का कारण प्रतिभा है, वह किससे उत्पन्न हुई, इसे गवेषणा की आवश्यकता नहीं। द्वितीय समाधान यह है कि दो विलक्षण प्रकार की प्रतिभा से निर्मित काव्य भी भिन्न-भिन्न प्रकार के ही होंगे, अत: व्यभिचार की आशंका नहीं उठती।[1] "तादृशादृष्टस्य तादृशव्युत्पत्त्यभ्यासयोश्च प्रतिभागतं वैलक्षण्यं कार्यतावच्छेदकम्, अतो न व्यभिचार:।"[1]

अब एक अन्य आशंका उठती है कि जहां व्युत्पत्ति और अभ्यास ये दोनों ही विद्यमान हैं और प्रतिभा की उत्पत्ति नहीं होती, वहां अन्वय-व्यभिचार है। इस आशंका का उत्तर है कि प्रतिभा का कारण विलक्षण व्युत्पत्ति और अभ्यास ही हैं। जिस व्युत्पत्ति और अभ्यास में विलक्षणता

---

१. रसगंगाधर, पृ० - १०

होगी, वही प्रतिभा की उत्पत्ति में समर्थ होगी, जहां वह विलक्षणता नहीं होगी वहां प्रतिभा की उत्पत्ति भी नहीं होगी । अत: पूर्वोक्त अन्वयव्यभिचार का अवकाश नहीं है । यदि यह कहा जाय व्युत्पत्ति-अभ्यासगत तादृश वैलक्षण्य का निर्वचन असम्भव है, तो दूसरा समाधान यह है कि यदि व्युत्पत्ति और अभ्यास सभी कारणों के रहते हुए भी प्रतिभा की उत्पत्ति नहीं होती, तो वहां पापविशेष को प्रतिबन्धक मान लेना चाहिए । इस प्रतिबन्धक की कल्पना में गौरव की आशंका नहीं की जानी चाहिए, क्योंकि प्रतिबन्धकाभाव को कार्यमात्र के प्रति सामान्य कारण माना गया है, अत: यह गौरव तो शक्ति निपुणता और अभ्यास --तीनों को इकट्ठे कारण मानने वालों के मत में भी दुर्निवार्य है । यह स्पष्ट देखा जाता है कि पूर्ण प्रतिभाशाली भी प्रतिवादी आदि के द्वारा मंत्र आदि से वाणी के कुछ के लिए स्तम्भित कर दिये जाने पर काव्य रचना में असमर्थ हो जाते हैं । अत: प्रतिभोत्पत्ति में भी प्रतिबन्धक का अभाव तो मानना ही पड़ेगा ।[१]

पण्डितराज के काव्यहेतु विषयक इस मत पर महामहोपाध्याय गंगाधर शास्त्री का मत है कि प्रतिभा, व्युत्पत्ति और अभ्यास को सम्मिलित रूप में ही कारण मानना उचित है । विशिष्ट काव्य का अर्थ है अलौकिक वर्णन की निपुणता से युक्त कवि की कार्यशक्ति दो प्रकार की होती है --प्रथम उत्पादिका और द्वितीय व्युत्पादिका, व्युत्पादिका शक्ति का नाम ही निपुणता है और अभ्यास से काव्य में अलौकिकता आती है । उत्पादिका शक्ति से पद जोड़ लेने पर भी व्युत्पादिका के न होने पर विलक्षण वाक्यार्थ का ज्ञान न होने के कारण कवि में अलौकिक वर्णन की निपुणता न हो सकेगी । अत: तीनों को समुदित रूप में ही कारण मानना चाहिए ।[२]

---

२. रस गंगाधर, टिप्पणी, पृ० १६, गंगाधर शास्त्री

१. प्रतिबन्धकाभावस्य च कारणता समुदितशक्त्यादित्रयहेतुतावादिभि: शक्तिमात्रहेतुतावादिनश्चाविशिष्टा ।

— रसगंगाधर, पृ० -११

महामहोपाध्याय गंगाधर शास्त्री के इन तर्कों के सम्बन्ध में श्री पुरुषोत्तम चतुर्वेदी का कहना है" प्राचीन और अर्वाचीन सभी आचार्यों के मत से काव्य उसी का नाम है, जो चमत्कारी हो, केवल तुकबन्दी मात्र को किसी ने भी काव्य नहीं माना। अर्थात् जिसे आप विशिष्ट काव्य कहते हैं, उसी का नाम तो काव्य है। तब यह सिद्ध होता है – जिसे आप उत्पादिकाशक्ति मानते हैं, वह काव्य की उत्पादिका तभी हो सकती है, जबकि उसमें पूर्वोक्त कविकर्म को उत्पन्न करने की योग्यता हो, न कि केवल तुकबन्दी करवा देने की। अतएव काव्य प्रकाशकार का " शक्तिर्निपुणता...... इस श्लोक की व्याख्या करते हुए, शक्ति के विषय में यह लिखना संगत होता है कि" शक्ति: कवित्व बीजरूप: संस्कारविशेष :, या बिना काव्यं न प्रसरेत्।" शक्ति एक प्रकार का संस्कार है, जो कि कविता को बीजरूप है, जिसके बिना काव्य फैल नहीं सकता, अथवा यों कहिए कि फैलने पर भी उपहसनीय होता है। अन्यथा बिना शक्ति के बनाए हुए काव्य को उपहसनीय लिखना कुछ भी तात्पर्य न रख सकेगा, क्योंकिबिना शक्ति के काव्य उत्पन्न ही नहीं होता, तब उपहास किसका होगा ? अत: यह मानना चाहिए कि काव्यप्रकाशकार के हिसाब से अनुपहसनीय अथवा आपके हिसाब से विशिष्ट काव्य के उत्पन्न करने वाली शक्ति का नाम ही शक्ति है और उसे कहते हैं प्रतिभा। अतएव जब किसी की रचना चमत्कारी नहीं होती तो हम कहते हैं कि कवि में प्रतिभा नहीं है। साधारणपदयोजना की शक्ति को प्रतिभा के रूप में परिणत करना व्युत्पत्ति और अभ्यास का काम है। अत: उनको प्रतिभा का कारण मानना ही युक्तिसंगत है, सहकारी मानना नहीं। सो तीनों को सम्मिलित रूप में कारण मानने की अपेक्षा अन्तिम दोनों को प्रतिभा का कारण मानना और केवल प्रतिभा को काव्य का कारण मानना, जैसा कि पंडितराज का मत है, उचित जंचता है।"[१]

---

१. हिन्दी रस गंगाधर – टिप्पणी, पृ० २४-२५, पुरुषोत्तम शर्मा चतुर्वेदी, सं० महादेव शास्त्री, नागरी प्रचा०सभा, काशी

काव्य के हेतु के सम्बन्ध में पण्डितराज का निष्कर्ष अनायास नहीं प्राप्त हो सका। आचार्य भामह और वामन ने प्रतिभा को अत्यन्त महत्त्व दिया, किन्तु काव्य के हेतुरूप में अन्य उपादानों को भी सम्मिलित रखा। वामन ने लोक और शास्त्र को पृथक् पृथक् कारण गिनाया, जबकि उत्तरवर्ती अन्य आचार्यों ने उनके परिणाम-स्वरूप निपुणता को ही कारण माना। दण्डी ने नैसर्गिकी प्रतिभा, निर्मल अनल्पश्रुत और अमन्द अभियोग को काव्य का कारण बताते हुए भी प्रतिभा को काव्य के लिए अनिवार्य नहीं माना। उन्होंने स्पष्ट कहा "पूर्वजन्म की वासना के गुण जिसके पीछे लगे हुए हैं, वह संसार को चकित कर देने वाली प्रतिभा यद्यपि न भी हो, तथापि शास्त्र - श्रवण (व्युत्पत्ति) और यत्न अर्थात् अभ्यास के द्वारा आराधित वाणी किसी अनुग्रह को करती ही है।"[१] इस प्रकार दण्डी ने यह मत रखा कि प्रतिभा के बिना 'श्रुत' और 'यत्न' से भी कविता हो सकती है।

श्यामदेव ने मन की एकाग्रता को परम अभ्युपाय बताया और मंगल ने अभ्यास को। किन्तु राजशेखर ने केवल 'शक्ति' को काव्य का कारण माना। यद्यपि राजशेखर की 'शक्ति' प्रतिभा और व्युत्पत्ति को उत्पन्न करती है। रुद्रट ने भी 'शक्ति' को कारण माना और उसको द्विविध बताया। यद्यपि मम्मट ने शक्ति, निपुणता और अभ्यास के समुदित हेतु का मत प्रतिपादनकिया किन्तु वाग्भट और हेमचन्द्र ने इस दिशा में स्पष्टता प्रदान की। पण्डितराज ने सारे मतों के बाद जो विवेचन प्रस्तुत किया, उससे काव्यहेतु की समस्या स्पष्ट हो गयी। उन्होंने प्रथमतः प्रतिभा का असन्दिग्ध स्वरूप प्रस्तुत किया और दूसरे यह बात भी स्पष्ट कर दी कि प्राक्तन संस्कार, अदृष्ट, व्युत्पत्ति और अभ्यास की काव्यहेतु के सन्दर्भ में क्या स्थिति है। स्पष्टतः काव्य का हेतु तो 'काव्यघटनानुकूलशब्दार्थोपस्थिति' ही है और वे अन्य हेतु जो काव्य के कहे जाते थे, वे काव्य के नहीं, प्रतिभा के हेतु थे। काव्यहेतु और प्रतिभा स्वरूप के विश्लेषण में पण्डितराज की यह स्थापनाएं महत्त्वपूर्ण थीं।

---

१. काव्यादर्श, १-१०४

काव्य के भेद

काव्यभेद के सम्बन्ध में आचार्य भामह दण्डी और वामन ने अपने अपने अभिमत रखे ।[१] किन्तु इन आचार्यों ने वर्गीकरण का आधार काव्य का `फार्म` अथवा बाह्यरूपाकार को ही बनाया । सर्वप्रथम आचार्य आनन्दवर्धन ने प्रतीयमान की उच्चावच स्थिति के अनुसार काव्य का मूल्यांकनात्मक भेद किया ।[२] उन्होंने ध्वनि, गुणीभूत,व्यंग्य तथा चित्र -ये तीन भेद माने । चित्रकाव्य को शब्दचित्र और वाच्य चित्र के भेद से दो प्रकार का माना । इसी परम्परा में आचार्य मम्मट ने भी भेद किये ।[३] विश्वनाथ ने ध्वनिपूर्व आचार्यों तथा ध्वनिकार दोनों की दृष्टियों से ही काव्यभेद प्रस्तुत किये ।[४] पंडितराज ने व्यंग्य अर्थ की स्थिति को दृष्टि में रख कर ही काव्य को आत्मभूत तत्त्व की दृष्टि से मूल्यांकनात्मक वर्गीकरण किया ।

काव्य के भेदों की मीमांसा करते हुए पंडितराज जगन्नाथ ने उन्हें चार कोटियों में रखा है ।

१. उत्तमोत्तम, २. उत्तम, ३. मध्यम, ४. अधम ।[५] उत्तमोत्तम काव्य वह है जिसमें शब्द और अर्थ दोनों अपने को गौण बनाकर किसी चमत्कारजनक अर्थ

---

१. भामह--काव्यालंकार, १।१६, १७, १८

दण्डी--काव्यादर्श - ११, १३, २३, ३१, ३२, ३७, ३८ ।

वामन-- १।३।२१- २८

२. ध्वन्यालोक-- १।१३, ३।३५, ३।४१,४२

३. काव्यप्रकाश, पृ० १६-२२

४. साहित्यदर्पण-- ४।१, १६, ६।१ इत्यादि ।

५. रसगंगाधर, पृ० २०-२३

को अभिव्यक्त करें । उत्तमोत्तमकाव्य में व्यंग्य अत्यन्त गूढ़ अथवा अत्यन्त स्पष्ट नहीं हो सकता, क्योंकि ऐसी स्थिति में उसका चमत्कार नष्ट हो जाता है । शब्द और वाच्यार्थ के अप्रधान रहने की शर्त लगाने से अपरांग और वाच्यसिद्ध्यंग गुणीभूत व्यंग्य काव्य ध्वनि में परिगणित नहीं हो पाता ।

उत्तम काव्य की परिभाषा करते हुए पंडितराज ने कहा "जहां व्यंग्य अप्रधान होकर ही चमत्कार का कारण हो वह द्वितीय अर्थात् उत्तम काव्य है ।" "अप्रधान हो कर ही" इस अवधारणा का प्रयोजन है कि जहां वाच्य की अपेक्षा व्यंग्यप्रधान हो, किन्तु अन्य व्यंग्य की अपेक्षा अप्रधान हो, वहां उस लक्षण की अतिव्याप्ति न हो । ऐसे स्थलों पर पंडितराज के अनुसार ध्वनित्व अर्थात् उत्तमोत्तमकाव्यता ही है ।

मम्मट ने अपरस्याङ्गम् की परिभाषा लिखी है कि वाच्यार्थीभूत अपर अर्थात् रसादि और वाच्य का रसादि अथवा अनुरणनरूप वस्तु अथवा अलंकार अंग हो, वह अपरांग गुणीभूतव्यंग्य काव्य है ।[१]

"अयं स रशनोत्कर्षी पीनस्तनविमर्दनः ।
नाभ्यूरुजघनस्पर्शी नीवीविस्रंसनः करः ।।"

यहां शृंगार को करुण का अंग स्वीकार कर गुणीभूतव्यंग्य काव्य मानते हैं, किन्तु पंडितराज के अनुसार यह उत्तमोत्तम ध्वनिकाव्य ही माना जायगा यद्यपि नागेशभट्ट ने यहां वाच्य की अपेक्षा शृंगार को प्रधान नहीं माना क्योंकि उनके अनुसार शोकोत्कर्षक होने के कारण वाच्य शृंगार की अपेक्षा चमत्कारी है, और ऐसा सर्वत्र अपरांग के उदाहरणों में समझना चाहिए ।[२] किन्तु नागेश का यह अनुधावन ठीक नहीं, क्योंकि प्रदीपकारादि ने शृंगार को ही शोक का उत्कर्षक माना है ।[३]

---

१. काव्य, पृ० ६४

२. रसगंगाधर- मर्मप्रकाश, पृ० २०

३. मथुरानाथ शास्त्री — टिप्पणी, पृ० २०

अत: यह स्पष्ट है कि मम्मट के मन में जहाँ रसादि अथवा वाच्य का रसादि, या संलक्ष्यक्रम व्यंग्य अंग हो, वहाँ गुणीभूत व्यंग्य ही होगा, किन्तु पंडितराज के अनुसार अपरांग वहीं होगा जहाँ वाच्य का ही अंग रसादि या वस्तु या अलंकार व्यंग्य हो । मम्मट की अपरांग की परिभाषा को मानने पर 'स्निग्धश्यामलकान्ति' इत्यादि उदाहरणा में जहाँ अत्यन्ततिरस्कृतवाच्यों के साथ अर्थान्तर संक्रमितवाच्य एवं रस ध्वनि का अनुग्राह्यलक्षणा संकर है, वहाँ भी अपरांग की आपत्ति हो सकती है और इसी का परिहार वृद्धद्योतकार को यह करना पड़ा है कि जहाँ साक्षात् अंगत्व होता है वहाँ अपरांग गुणीभूतव्यंग्य होता है, किन्तु जहाँ परम्परया अंगत्व हो, वहाँ तो ध्वनि ही होगी ।

मम्मट और पंडितराज के दृष्टिकोण का अन्तर यह है कि जहाँ मम्मट अप्रधान व्यंग्य को गुणीभूत व्यंग्य कहते हैं, वहाँ पंडितराज सर्वथा अप्रधान ही को गुणीभूत व्यंग्य मानते हैं । मम्मट पार्यन्तिक अर्थ की अपेक्षा ही अप्रधान की शर्त रखते हैं, चाहे और किसी कोटि के अर्थ से वह प्रधान भी हो तो कोई हर्ज नहीं, किन्तु पण्डितराज व्यंग्य के सर्वथा अप्रधान रहने पर ही गुणीभूतव्यंग्य मानने के पक्षपाती हैं ।

काव्यप्रकाश के टीकाकारों ने मम्मट के मध्यमकाव्य के लक्षण की टीका करते हुए गुणीभूतव्यंग्य काव्य उसे कहा है जो चित्रकाव्य (अलंकार प्रधान) न हो । पण्डितराज ने स्पष्ट कर दिया है कि यह दृष्टिकोण ठीक नहीं । पर्यायोक्त, समासोक्ति अलंकारों की प्रधानता वाले काव्यों में इस लक्षण की अव्याप्ति हो जायेगी । वहाँ अलंकार प्रधान है और उन्हें गुणीभूतव्यंग्य भी प्रमुख अलंकारिकों ने माना है ।[1]

उत्तमोत्तम और उत्तम अर्थात् ध्वनि और गुणीभूतव्यंग्य काव्य के अन्तर को स्पष्ट करते हुए पण्डितराज ने कहा है कि दोनों में ही व्यंग्य स्फुट रहता है किन्तु प्रथममें वह प्रधान होता है और दूसरे में अप्रधान । दोनों की श्रेणी में भी उन्होंने 'ईषदन्तर' ही स्वीकार किया है ।

---

१. रसगंगाधर, पृ० - २०

जिस काव्य में वाच्य-अर्थ का चमत्कार व्यंग्य-अर्थ के चमत्कार के साथ न रहता हो अर्थात् व्यंग्य का चमत्कार स्पष्ट न हो और वाच्य का चमत्कार स्पष्ट प्रतीत होता हो, वह मध्यम काव्य है।

जिस काव्य में शब्द का चमत्कार प्रधान हो और अर्थ का चमत्कार उसे शोभित करने के लिए हो, वह अधम काव्य है।

पण्डितराज ने काव्यभेद के प्रसंग में यह एक नया दृष्टिकोण प्रस्तुत किया है। उन्होंने रमणीय अर्थ के प्रतिपादक शब्द को काव्य माना। फलतः उन्होंने प्राचीन महाकवियों द्वारा रचित एकाक्षरपद्य, अर्धानुलोमक, पद्मबन्ध आदि को काव्य मानने से भी इन्कार किया और इन्हें अधमाधम काव्य की कोटि में रखने में भी उन्हें झिझक हुई, क्योंकि रमणीयअर्थ से सर्वथा शून्य इस कोटि के पद्यों को प्राचीन परम्परा के अनुरोधवश लोगों ने काव्य माना भी हो, तो उन्हें स्वीकार नहीं।[१]

काव्य को चार कोटि में विभक्त करने का आधार चित्रकाव्यों के प्रति उनकी दृष्टि में है। जहां आनन्दवर्द्धन और मम्मट चित्रकाव्य को एक ही कोटि में रखते हैं और वाच्यचित्र तथा शब्दचित्र की आस्वादिकोटि के अन्तर पर बल नहीं देते, पण्डितराज यह आवश्यक मानते हैं कि वाच्यचित्र की आस्वादकोटि को स्पष्ट किया जाय। इसीलिए समस्त वाच्यचित्र को उन्होंने उत्तम और मध्यम काव्यों में बांट दिया, वाच्यचित्र में कहीं व्यंग्य जागरूक होता है और कहीं अजागरूक। इन्हीं दोनों की श्रेणी का पृथक् विभाजन उन्होंने किया। अजागरूक व्यंग्य से युक्त वाच्यचित्र की आस्वाद कोटि शब्दचित्र से उत्कृष्ट होती है —यह उन्होंने स्पष्ट कहा। इस अन्तर को उन्होंने ध्वनि और गुणीभूतव्यंग्य के अन्तर से भी सुकर माना। अतएव तीन भेद मानने की अपेक्षा चार भेद मानना अधिक तर्कसम्मत है। जिस काव्य में शब्द चमत्कार और अर्थ चमत्कार दोनों ही साथ-

---

१. रसगंगाधर, पृ० २३-२४

साथ हों, उनका एक पृथक् भेद मानने की आवश्यकता उन्होंने नहीं मानी, क्यों। जहां अर्थचमत्कार की प्रधानता हो वहां मध्यम और शब्दचमत्कार की प्रधानता हो वहां अधमकाव्यता सुतराम् सिद्ध है। समप्राधान्य में मध्यमकाव्यता का भी स्पष्ट निर्देश किया।

इस प्रकार पण्डितराज ने काव्य के वर्गीकरण में शरीरदृष्टि से वर्गीकरण की अपेक्षा आत्मदृष्टि सेवर्गीकरण करना आवश्यक माना। काव्यात्मभूत व्यंग्य की स्थिति के अनुसार काव्य की उच्चावचता का निर्णय करके उन्होंने काव्य के मूल्यांकनात्मक पक्ष को अधिक स्पष्ट कर दिया। उन्होंने अर्थालंकार और शब्दालंकार की आस्वादकोटि को स्पष्टतः विभक्त कर काव्य वर्गीकरण के क्षेत्र में एक निश्चित दिशा दी।

द्वितीय अध्याय

रस

रसविवेचन

काव्यभेद के विवेचन के अनन्तर पंडितराज जगन्नाथ ध्वनि के विवेचन की ओर प्रवृत्त होते हैं। रस, वस्तु, अलंकारभेदात्मक अभिधामूल तथा अर्थान्तरसंगमित और अत्यन्ततिरस्कृतवाच्यरूप लक्षणामूल पंचात्मक ध्वनि रसध्वनि के परमरमणीय होने के कारण उसके आत्मभूत रस का विवेचन किया है।

रस शब्द का प्रयोग तो ऋग्वेदसंहिता से ही आरंभ हो जाता है। रस (Juice), जल, दुग्ध, आस्वाद (Flavour), अर्थ ऋक्संहिता में प्राप्त होते हैं। अथर्वसंहिता में रस अर्थ के साथ ही अन्तरस अर्थ भी मिलता है। यहां जल और दुग्ध उपलब्ध नहीं है तथापि आस्वाद अर्थ सामान्यरूप में प्राप्त होता। उपनिषद युग में ' अन्न अथवा पौधों का सत्व ' अपना विशिष्ट रूप त्याग कर सामान्यत: सत्व या 'तत्व' मात्र अर्थ में ही रह जाता है। इसके अतिरिक्त रस 'आस्वाद' अर्थ में भी प्रयुक्त होता रहता है। यह उल्लेखनीय है कि तैत्तिरीय उपनिषद् में दो स्थानों पर दोनों अर्थों का मिश्रण हो जाता है और यह 'परमतत्व' तथा आनन्द मिश्रित'परमास्वाद' के अर्थ में प्रयुक्त होता है। दूसरे शब्दों में ' रस' यहां ब्रह्म के अर्थ में आता है। यह बहुत संभावित है कि साहित्यशास्त्र के आचार्यों ने समाधिदशा में परमसत्य के प्राप्ति आनन्द के अर्थ में प्रयुक्त किया हो। किन्तु यह अत्यन्त स्पष्ट होना चाहिए कि ये उपर्युक्त दोनों स्थलों में रस-सिद्धान्त के बीज तनिक भी नहीं हैं और पण्डितराज जगन्नाथ का वेदप्रामाण्य के लिए इस प्रकार की व्याख्या सर्वथा अनैतिहासिक है।[१]

रस पर विचारविमर्श की संस्कृत साहित्यशास्त्र की प्राचीन परम्परा रही

---

१. सम कान्सेप्ट आफ लिटरेरी क्रिटिसिज्म आर द थियरीज आफ रस एण्ड ध्वनि- द्वि० संस्करण, पृ० १-३

है। राजशेखर के अनुसार नन्दिकेश्वर ने रस का रहस्य ब्रह्मा से ग्रहण किया।[१] रससंप्रदाय के प्रथम आचार्य रूप में नन्दिकेश्वर को ही बताया गया है। किन्तु नन्दिकेश्वर के उद्धृत मत परिचय के अतिरिक्त उनकी कोई स्वयं की रचना उपलब्ध नहीं है। रस के सम्बन्ध में सर्वप्राचीन विवेचन भरतकृतनाट्यशास्त्र में ही स्थित है। आचार्य भरत का सुप्रसिद्ध सूत्र परवर्ती काल में रसविवेचन का आधार रहा है। यद्यपि भरत का मुख्य विवेच्य नाट्यशास्त्र रहा है और उन्होंने अपने ग्रन्थ का विपुल भाग नाटककार और अभिनेता से सम्बद्ध अभिनय नृत्य और संगीत आदि के विवेचन में लगाया है, किन्तु नाट्य के सन्दर्भ में रस के महत्त्व की ओर भी उन्होंने सुस्पष्ट संकेत कर दिया है। भरत ने कहा कि रस के बिना नाट्य का कोई अर्थ नहीं।[२] उन्होंने सहृदय दर्शक में नाट्य से होने वाले भावात्मक प्रभाव का विवेचन नाट्यशास्त्र के छठें और सातवें अध्याय में विस्तार के साथ किया है। नाट्यशास्त्र में रस का निरूपण नाट्यप्रयोग की दृष्टि से ही मुख्यत: किया गया वहां काव्य और नाट्य को पर्यायवाची ही माना गया।[३] अभिनवगुप्त ने भी काव्य को मुख्यत: दशरूपात्मक ही माना। भट्टतोत ने भी काव्यद्वारा रससृष्टि के पीछे भी नाट्यप्रक्रिया का ही आधार माना किन्तु भरत के बाद क्रमश: रस का सम्बन्ध रूपकेतर काव्यों से भी गहनतर रूप में जुड़ा। इन काव्यों के सन्दर्भ में रस का क्रमिक और निर्मल निरूपण आचार्य आनन्दवर्धन ने ध्वन्यालोक में किया किन्तु उनसे पूर्व के आचार्य भी किसी न किसी रूप में रस से परिचित थे, भामह रस से परिचित थे, यद्यपि उन्होंने इसे काव्य के अनिवार्य तत्त्व के रूप में विवेचित नहीं किया। उन्होंने कहा कि महाकाव्य को लोकस्वभाव से पृथक विविध रसों से युक्त होना चाहिए।[४] उनका दृष्टिकोण एक प्रतिस्पर्धी आचार्य जैसा है। यद्यपि वे

---

१. काव्यमीमांसा, पृ० ५

२. नाट्यशास्त्र, पृ० ७४

३. नाट्यशास्त्र— १६-१६६, १७-५

४. काव्यालंकार— १-२१, ३-६

रसों की चर्चा करते हैं, किन्तु भरतानुमोदित 'आठ' रसों से परिचय का संकेत नहीं देते । संभवत: वे विभावमात्र के वर्णन में ही रस नाम लेते हैं । दण्डी ने भी रस और स्थायिभाव के भेद को समझा था [१] और यह बताया कि रसवद् अलंकार आठ में से किसी न किसी रस पर आश्रित है । [२] उन्होंने कहा 'कामं सर्वो प्यलङ्कारो रसमर्थे निषिंचति । तथाप्यग्राम्यतैवैनं भारं वहति भूयसा ।।' उन्होंने भरत के समान ही विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी से पुष्ट स्थायी को रस माना ।[३]वामन भी कहते हैं 'दीप्तरसत्वं कान्ति:' ।[४] किन्तु भरत के बाद रुद्रट ही पहले प्राचीन आचार्य हैं, जिन्होंने रस पर पृथक् विवेचन किया ।[५] इन आचार्यों ने ध्वनि के मार्ग का मनाक् स्पर्श करके भी उसे लक्षित नहीं किया ।[६] वस्तुत: सर्वप्रथम आचार्य आनन्दवर्धन ने ही ध्वनिस्वरूप के प्रतिपादन में मौलिभूत रस का भी प्रतिपादन किया। नाट्यशास्त्र पर तथा ध्वन्यालोक पर क्रमश: अभिनवभारती एवं लोचन नाम की टीका में वर्णन करते हुए अभिनवगुप्तपादाचार्य ने तलस्पर्शी और मार्मिक विवेचन किया, वही आज रससंप्रदाय की निधि है ।[७] अभिनवगुप्त पादाचार्य के पूर्व ही रस के निरूपण के सन्दर्भ में व्यापक विचार हो चुका था, उनकी टीकाओं से रस के सम्बन्ध में विभिन्न मतवादों का उल्लेख है किन्तु उनमें

---

१. काव्यादर्श ~~काव्यालंकार, १-११, २-५~~, १-५१, ६४।२। २८३, २८५, २८७
२. ~~काव्यादर्श~~, २-२८०-९२
३. ~~काव्यादर्श~~-- 1/62,
४. काव्यालंकार सूत्रवृत्ति, ३, २, २४
६. ध्वन्यालोक, प्रथम-उद्योत, पृ० ६७-६६
५. काव्यालंकार, २, २८०-९२
७. अभिनवभारती -- २७४-२९५
लोचन-- ध्वन्यालोक, पृ० ५४, ७२

आचार्य उद्भट, नाट्यशास्त्र के टीकाकार लोल्लट शङ्कुक और भट्टनायक का नाम रससंप्रदाय के इतिहास में सर्वथा अनुपेक्षणीय है, अभिनवगुप्त के बाद धनंजय,[१] भोजराज,[२] मम्मट,[३] ने रस का गंभीर विवेचन किया । हेमचन्द्र, रामचन्द्र-गुणचन्द्र, शारदातनय, विश्वनाथ -भी वे प्रमुख आचार्य हैं जिन्होंने रस-निरूपण में भाग लिया । इन आचार्यों के अतिरिक्त रसनिरूपण के आचार्यों और ग्रन्थों की लम्बी परम्परा है और रस सम्बन्धी अनेक मत आये[४] किन्तु इस इस प्रसंग में पंडितराज की मौलिक उद्भावना अद्वितीय ही है ।

रसोन्मीलन के सम्बन्ध में मत—

पण्डितराज ने रस के उन्मीलन के सम्बन्ध में भरतसूत्र के पूर्वतन व्याख्याकारों के मतों और अन्य मतों का उल्लेख किया । उन्होंने ग्यारह विभिन्न मतों का उल्लेख किया है —

१- अभिनवगुप्त मम्मटादि.
२- भट्टनायक:.
३- नव्या:
४- परे.
५- एके.
६- अपरे.
७- कतिपये.
८- बहव :.

---

१. दशरूपक, पृ० १७६-२८२
२. शृंगार प्रकाश—डा० वी०राघवन्
३. काव्यप्रकाश, ८७, ११०
४. थियरीज आफ रस एण्ड ध्वनि— संकरन् ।.

९- अन्ये
१०- इतरे
११- केचित्

इन विभिन्न मतों की भरतसूत्र की दृष्टि से संगति — असंगति की ओर दृष्टिपात करते हुए उन्होंने बताया कि अन्तिम तीन मत तो भरत सूत्र के विरोधी हैं, किन्तु आरम्भ के आठ मतों की दृष्टि में भरतसूत्र की व्याख्या इस प्रकार होगी —

प्रथम— विभाव, अनुभाव और व्यभिचारियों के द्वारा संयोग अर्थात् व्यंजन से आत्मानन्द सहित स्थायीभाव अथवा स्थायीभावात्मक उपाधियुक्त आत्मानन्दरूप रस की निष्पत्ति अर्थात् अभिव्यक्ति होती है ।

द्वितीय— विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भावों के (समुत्योग) सम्यक् अर्थात् साधारणरूप से योग अर्थात् भावकत्व व्यापार के द्वारा भावना करने से स्थायीभाव रूप उपाधि के सहित सत्वगुण की अभिवृद्धि से प्रकाशित, स्वात्मानन्दरूपरस की निष्पत्ति अर्थात् भोग नामक साक्षात्कार से विषयीकरण होता है ।

तृतीय— विभाव, अनुभाव, व्यभिचारीभावों के संयोग अर्थात् भावनाविशेषरूप दोष से दुष्यन्त आदि के अनिर्वचनीय रति आदि रूप रस की निष्पत्ति अर्थात् उत्पत्ति होती है ।

चतुर्थ— विभावादि के संयोग अर्थात् ज्ञान से ज्ञानविशेषरूप रस की निष्पत्ति अर्थात् उत्पत्ति होती है ।

पंचम— विभावादि के संयोग अर्थात् सम्बन्ध से रति आदि रूप-रस की निष्पत्ति अर्थात् नटादि पर आरोप होता है ।

षष्ठ— कृत्रिम होने पर भी अकृत्रिम रूप में गृहीत विभावादिकों के साथ संयोग अर्थात् अनुमान से रत्यादिरूप रस की

निष्पत्ति अर्थात् अनुमिति होती है।

सप्तम--विभावादि तीनों के संयोग अर्थात् समुदाय से रस की निष्पत्ति अर्थात् उस समुदाय में रस पद का व्यवहार होता है।

अष्टम--विभावादि में सम्यक् योग अर्थात् चमत्कार से रस कहलाता है।[१]

प्रथम मत:-- पण्डितराज ने रस स्वरूप के सम्बन्ध में विभिन्न मतों को प्रस्तुत करते हुए सर्वप्रथम अभिनवगुप्त आदि के पक्ष को ही प्रस्तुत किया। चित्त विविध वासना से युक्त होता है।[२] मनुष्य अपने जीवन में बहुतेरे भावों का अनुभव करता है, ये अनुभव तो नष्ट हो जाते हैं, किन्तु उनका संस्कार सदा अमिट रहता है। वासना रूप में वे भाव मानवहृदय में सर्वदा रहते हैं। ये वासनाएं अनादि हैं, क्योंकि `ये सुखसाधन मुझे सर्वदा प्राप्त हों, इनसे मेरा वियोग न हो, इस प्रकार का संकल्पविशेषरूप वासना का कारणभूत महामोहरूप आशी: नित्य है। जाति देश, काल आदि के व्यवधान में भी उनका नैरन्तर्य बना रहता है, क्योंकि संस्कार और स्मृति एकरूप हैं।[३] अभिप्राय यह है कि अनुष्ठीयमान कर्म के चित्त में इच्छारूप में उदित होने होने पर संस्कार उत्पन्न होता है। वही स्वर्ग, नरकादि फलों का अंकुर यागादि कर्म का शक्ति रूप में अवस्थान, कर्ता की वैसी भोक्तृभोग्यरूप सामर्थ्य है। संस्कार से स्मृति, स्मृति से सुख, दु:ख का उपभोग और उसके अनुभव से फिर संस्कार स्मृति आदि उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार संस्कार और स्मृति की एक रूपता स्पष्ट होती है।

उपर्युक्त वासनारूप इत्यादि मौचित्तवृत्तियां स्थायीभाव हैं। जब

---

१. रस गंगाधर, पृ० ३४-३५

२. लोचन--अन्या०, पृ० ८७

३. योगसूत्र, पृ० ६,१०

ये स्थायीभाव सत्य तथा विज्ञानरूप स्वत: प्रकाशमान आत्मानन्द के साथ अनुभूत होते हैं, तब वे 'रस' कहलाते हैं। इस स्वप्रकाश वास्तव निजस्वरूपानन्द के साथ पहले से वासनारूप में विशिष्ट स्थायी की गोचरता तभी और तब तक ही होती है, जब तक अज्ञानरूप आवरण हट जाता है और जब तक हटा रहता है। अत: उस आवरण को दूर करने के लिए एक आवश्यक व्यापार किया जाता है। इस व्यापार के द्वारा आनन्द के आच्छादक अज्ञान के दूर हो जाने पर अनुभवकर्ता की अल्पज्ञता दूर हो जाती है और सांसारिक भेदभावों की निवृत्ति हो जाने से आत्मानन्द सहित रति आदि स्थायी भावों का अनुभव होने लगता है। पूर्वोक्त व्यापार को विभाव, अनुभाव, संचारिभाव उत्पन्न करते हैं।

लोक में रति आदि के जो शकुन्तला आदि आश्रय होते हैं, चांदनी आदि उद्दीपक होते हैं, वे ही जब वहां जिस रस का वर्णन हो, उसके लिए उचित एवं ललित शब्दों की रचना के कारण मनोहर काव्य के द्वारा उपस्थित होकर सहृदयों के हृदय में प्रविष्ट होते हैं, तब सहृदयता और एक प्रकार की भावना — अर्थात् काव्य के बार बार अनुसन्धान से उनमें से 'शकुन्तला दुष्यन्त की स्त्री है' इत्यादिभाव निकल जाते हैं और अलौकिक अर्थात् लोक से भिन्न काव्यविषयमात्र होकर जो कारण हैं वे विभाव, जो कार्य हैं वे अनुभाव और जो सहकारी हैं, वे व्यभिचारी भाव कहलाने लगते हैं। इन्हीं के द्वारा प्रादुर्भूत उक्त अलौकिक व्यापार से आनन्दांश का आवरण रूप अज्ञान तत्काल निवृत्त कर दिया जाता है, अतएव ज्ञान द्वारा अपने अल्पज्ञता आदि धर्मों को हटाकर स्वप्रकाश, वास्तव निजस्वरूपानन्द के साथ अनुभूयमान (संस्काररूप से) पहले से स्थितगोचरीकृत वासनारूप रति आदि ही रस हैं।[1]

इसी बात को मम्मटाचार्य ने कहा है 'व्यक्त: स तैर्विभावाद्यै: स्थायीभावो रसो मत:।'[2] व्यक्त होने का अर्थ है अज्ञानरूप आवरण का नष्ट होना। जैसे किसी शराब (पियाले) आदि से ढंका हुआ दीपक, उस

---

१. रसगंगाधर - पृ० २५-२७.
२. काव्यप्रकाश, ४—२८ .

ढक्कन के हटा देने पर पदार्थों को प्रकाशित करता और स्वयं भी प्रकाशित होता है, इसी प्रकार आत्मचैतन्य विभावादि से मिश्रित रति आदि को प्रकाशित करता है और स्वयं प्रकाशित होता है। रति आदि अन्त:करण के धर्म हैं और 'साक्षिभास्य'[1] हैं। रत्यादि अन्त:करण के धर्म हैं और 'साक्षिभास्य' हैं, उनके साथ ही विभावादि जो अन्त:करण धर्म नहीं हैं, उनका भान भी स्वप्नतुरग अथवा रंगरजत की भांति होगा अर्थात् जैसे सपने में घोड़े और जागते में (भ्रम में) रांगे में चांदि आदि 'साक्षिभास्य' ही होते हैं उसी प्रकार केवल आत्मा के द्वारा ही विभावादि का भी भान होता है, क्योंकि वे कोई पदार्थ तो हैं नहीं केवल कल्पना ही हैं। इस प्रकार इन विभावादि को भी 'साक्षिभास्य' मानने में कोई विरोध नहीं है।

रस को ध्वनित करने वाले विभावादिकों के आस्वादन के अथवा उनके संयोग से उत्पन्न किए हुए अज्ञानरूप आवरण के भंग की उत्पत्ति और विनाश मान लिए जाते हैं, जैसे वैयाकरण वर्णों को नित्य मानते हैं तथापि वर्णों को व्यक्त करने वाले तालु आदि स्थानों की क्रियाओं की उत्पत्ति और विनाश को वर्णों की उत्पत्ति और विनाश मान लेते हैं।

अत: विभावादि चर्वणावधि तक आत्मानन्द का आवरणभंग होता है और तभी रति आदि प्रकाशित होते हैं, जब विभावादिओं की चर्वणा निवृत्ति हो जाती है तब प्रकाश ढंक जाता है, इसलिए स्थायी भाव के विद्यमान रहने पर भी रस चर्वणा नहीं होती।[2]

विभावादिकों के संयोग से अलौकिक व्यापार का जनन न मानने पर भी काम चल सकता है। सहृदयजन जो विभावादि का आस्वादन करते हैं, - उसका सहृदयता के कारण मन पर गहरा प्रभाव पड़ता है और उस प्रभाव के

---

१. संसार के सारे पदार्थों को आत्मा अन्त:करण से संयुक्त होकर भासित करता है किन्तु अन्त:करण के धर्म-प्रेम आदि उस साक्षात् देखने वाले आत्मा के द्वारा ही भासित होते हैं, 'साक्षिभास्य' कहलाते हैं

२. रसगंगाधर, पृ० - २६-२७ .

द्वारा काव्य की व्यंजना से व्यक्त उनकी चित्तवृत्ति, जिस रस के विभावादिकों का उन्होंने आस्वादन किया है, उसके स्थायीभाव से युक्त अपने स्वल्पानन्द को अपना विषय बना लेती है अर्थात् तन्मय हो जाती है, जैसी सविकल्पक समाधि में योगी की चित्तवृत्ति हो जाती है।[१] उनकी चित्तवृत्ति को उस समय स्थायी-भाव से युक्त आत्मानन्द के अतिरिक्त अन्य कोई बोध नहीं होता। अतः स्पष्ट है कि विभावादि के आस्वादन के प्रभाव से ही चित्तवृत्ति रत्यादि सहित आत्मानन्द का अनुभव करने लगती है। यह आनन्द अन्य लौकिक सुखों से भिन्न प्रकार का है, क्योंकि वे सब अन्तःकरण की वृत्तियों से युक्त चैतन्य रूप होते हैं अर्थात् उन लौकिक सुखों में अन्तःकरणवृत्ति और चैतन्य का योग रहता है, वे पर यह आनन्द अन्तःकरण वृत्ति युक्त चैतन्य रूप नहीं, अपितु शुद्ध चैतन्य रूप है, क्योंकि इस अनुभव के समय चित्तवृत्ति आनन्दाकार ही हो जाती है और आनन्द अनवच्छिन्न रहता है।

इस प्रकार अभिनवगुप्त और मम्मट आदि के ग्रंथों के स्वारस्य के अनुसार 'अज्ञानरूप आवरण से रहित चैतन्य से युक्त रत्यादि स्थायी भाव ही रस हैं।[२] "इत्थं चाभिनवगुप्तमम्मटभट्टादिग्रन्थस्वारस्येन भग्नावरणचिद्विशिष्टो रत्यादिः स्थायी भावो रसः।"

पंडितराज का स्वमत--

पण्डितराज ने अभिनव गुप्त आदि के मत की व्याख्या करके यह बताया कि उनके अनुसार चैतन्यविशिष्ट स्थायी ही रस है किन्तु उनके अपने मत में रति आदि से युक्त आवरण रहित चैतन्य ही रस है। इसके प्रमाण में उन्होंने 'रसो वै सः, रसं ह्येवायं लब्ध्वा आनन्दीभवति' श्रुति को प्रस्तुत किया।

---

१. समाधियां दो प्रकार की होती हैं -- प्रथम संप्रज्ञात और द्वितीय असंप्रज्ञात, इन्हीं का नाम सविकल्पक और निर्विकल्पक भी है। सविकल्पक समाधि में ज्ञाता और ज्ञेय का पृथक् पृथक् अनुसन्धान रहता है, पर निर्विकल्पक में कुछ नहीं रहता, योगी ब्रह्मानन्द में लीन हो जाता है।

२. रसगंगाधर, पृ० २५-२७

इस प्रकार चाहे ज्ञानरूप आत्मा द्वारा प्रकाशित रति आदि को रस माना जाय, अथवा रति आदि के विषय में होने वाले ज्ञान को रस माना जाय, दोनों ही पक्षों में विशेषण अथवा विशेष्य किसी भी रूप में रहने वाले चैतन्यांश को लेकर रस की नित्यता और स्वतः प्रकाशमानता सिद्ध है और रति आदि के अंश को लेकर अनित्यता और दूसरे के द्वारा प्रकाशित होना ।

प्रथम पक्ष के अनुसार चैतन्य के आवरण का निवृत्त हो जाना ही रस की चर्वणा है अथवा द्वितीय पक्ष के अनुसार अन्तःकरण वृत्ति के आनन्दमय हो जाने को ही रसचर्वणा समझा जाना चाहिए यह चर्वणा पर-ब्रह्म के आस्वादरूप समाधि से भिन्न है, क्योंकि इसका आलम्बन विभावादि विषयों से युक्त आत्मानन्द है और समाधि के आनन्द में विषय साथ नहीं रहते । यह चर्वणा केवल काव्य के व्यापार व्यंजना से ही हो पाती है ।

इस चर्वणा में सुख का अंश प्रतीत होता है । इसमें प्रमाण ? इसके उत्तर में दूसरा प्रश्न है, समाधि में सुख का भान होता है, इसमें प्रमाण ? यदि 'सुखमात्यन्तिकं यत्तद् बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम् ।' इत्यादि शब्द प्रमाण माने जायें , रसास्वादन में सुख के पक्ष में 'रसो वैसः , 'रसं ह्येवायं लब्ध्वा आनन्दीभवति ।' ये श्रुतियां और समस्त सहृदयों का अनुभव - ये दो प्रमाण हैं ।

रसचर्वणा शाब्दज्ञानरूप हो कर भी अपरोक्षात्मक है । द्वितीय मत में जो आनन्दाकार चित्तवृत्ति को रसचर्वणा बताया गया है, वह शब्द के व्यंजनाव्यापार से होती है, अतः शाब्दी अर्थात् शब्दबोध्य है और प्रत्यक्षसुख का आलम्बन होने से अपरोक्ष अर्थात् प्रत्यक्ष है । अभिप्राय यह है कि यद्यपि शाब्दबोध की गणना परोक्षज्ञान में की गयी है, तथापि रस-चर्वणा शाब्दबोधरूप होकर भी प्रत्यक्षात्मक है । शाब्दत्व और प्रत्यक्षा-त्मकत्व में नैयायिकों के निकाय में भेद मानते हैं, किन्तु वेदान्तियों के निकाय में यह मान्यता नहीं है । 'तत्त्वमसि' इस वाक्य से जीव-ब्रह्म में ऐक्य बुद्धि होती है , वह शब्दजन्य होने के कारण शाब्द और अपरोक्ष-ब्रह्म-विषयक होने से प्रत्यक्ष होती है । अतः सिद्ध है कि एक ही ज्ञान शाब्द और प्रत्यक्षा-

त्मक हो सकता है। इसी तरह रसचर्वणा भी शाब्द और प्रत्यक्षात्मक — दोनों है। [१]

द्वितीयमत—

भट्टनायक के अनुसार तटस्थ रहने अर्थात् रस से कुछ सम्बन्ध न रहने पर, यदि रस की प्रतीति मान ली जाय, तो रस का आस्वादन नहीं हो सकता, और उसकी आत्मगत प्रतीति का प्रत्यय भी नहीं हो सकता, क्योंकि शकुन्तला आदि सामाजिकों के प्रति विभाव हो नहीं सकतीं, क्योंकि सामाजिकों से शकुन्तला का क्या सम्बन्ध ? बिना विभाव आलम्बनरहित रस की प्रतीति हो नहीं सकती, क्योंकि जिसे हम रति का पात्र समझते हैं, उससे हमारा कुछ सम्बन्ध तो होना ही चाहिए, यह नहीं कहा जा सकता कि 'स्त्री' होने के कारण सामान्य रूप से विभाव बनने की योग्यता तो शकुन्तला आदि में रह ही सकती है, क्योंकि विभाव के विषय में अगम्यात्वज्ञान का अभाव प्रामाणिक रूप से निश्चित होना चाहिए अन्यथा बहन आदि भी कान्ता आदि के रूप में ही विभाव बन जायेंगी। इसी प्रकार करुणा आदि रस में अशोच्यता कायरता आदि के ज्ञान का अभाव प्रमाणित होना चाहिए। जिसे हम विभाव मानते हैं उसके विषय में अगम्यात्व आदि ज्ञान का अभाव किसी प्रतिबन्धक के द्वारा सिद्ध नहीं हो सकता, यह नहीं कहा जा सकता कि दुष्यन्त आदि के साथ हमारा अपने को अभिन्न समझ लेना ही उस ज्ञान का प्रतिबन्धक है, क्योंकि शकुन्तला का नायक दुष्यन्त भूपति और धीर था और हममें आधुनिकता, कापुरुषता आदि वैधर्म्य स्पष्ट ही है।

यदि किसी कारण से उस विरुद्ध धर्म का ज्ञान न हो अथवा उस विरुद्ध धर्म का ज्ञान होने पर भी इच्छामूलक 'दुष्यन्तो ऽहम्' ऐसा आहार्यज्ञान तो हो ही सकता है। क्योंकि आहार्यज्ञान से भिन्न ज्ञान ही बाध-निश्चय से बाधित होता है। तो यह विचारणीय है कि वह रसस्वरूप में अभिमत प्रतीति कैसी है ? शब्दजन्य अभिधा आदि वृत्ति सापेक्ष होने के कारण वह प्रत्यक्ष हो नहीं सकती, व्याप्तिज्ञान निरपेक्ष होने के कारण अनुमित भी

१. रसगंगाधर - पृ० २७-२८.

नहीं हो सकती, सादृश्यज्ञानमूलक न होने के कारण उपमित्यात्मक भी नहीं मानी जा सकती, अत: शब्दप्रमाणजन्य होने से शाब्दी ही हो सकती है- यदि यह कहा जाय, तो ठीक नहीं, क्योंकि प्रत्यक्षातिरिक्त समस्त ज्ञान सभी लोगों के मत में अचमत्कारी होते हैं और शाब्दबोध भी प्रत्यक्षातिरिक्त ही है यदि रसप्रतीति को शाब्दी मानें,तो दिन-रात व्यवहार में आने वाले काव्येतर शब्दों के द्वारा ज्ञात हुए स्त्री पुरुषों के वृत्तान्त ज्ञान की तरह यह प्रतीति भी रूक्ष ही होनी चाहिए, जबकि ऐसा है नहीं `रस` में तो चमत्कार ही सार है।` [१] इसे मानस ज्ञान भी नहीं मान सकते, क्योंकि चिन्तन से मन में लाये गये पदार्थों से जो बोध होता है, उससे रस प्रतीति भिन्न प्रकार की होती है। [२] इस प्रतीति को स्मृति भी नहीं कह सकते, क्योंकि स्मृति में अनुभव कारण होता है और यहां शकुन्तलाआदि का पहले अनुभव ही नहीं हुआ है। अत: स्पष्ट है कि रसप्रतीति न तो प्रत्यक्ष होती है, न अनुमित, न उपमित, न शाब्दी, न मानसी और न तो स्मृतिजनित ही होती है।

अत: यों समझना चाहिए कि अभिधा के द्वारा (दृश्यकाव्य में चक्षु आदि इन्द्रियों द्वारा) पहले शकुन्तला आदि पदार्थों का बोध होता है, उसके बाद काव्य में रहने वाले भावकत्व व्यापार से शकुन्तला आदि के विषय में `अगम्या` आदि रसविरोधी ज्ञान के प्रतिबन्ध-पुर:सर` कान्तात्व` आदि रसानुकूल धर्मों के साथ उनकी उपस्थिति होती है। इस प्रकार वह `भावकत्व` व्यापार शकुन्तला, दुष्यन्त, देश, कालवय, स्थिति आदि को साधारण बना देता है, उन्हें किसी प्रकार के वैशिष्ट्य से रहित कर देता है है, जिससे रसोद्बोध में बाधा न पड़े यह कार्य कर उपर्युक्त व्यापार विरत हो जाता है। तब तृतीय` भोगकृत्व` नामक व्यापार की महिमा से रस

---

१. `रसे सारश्चमत्कार:` -धर्मदत्त-उद्धृत- साहित्यदर्पण, पृ० ४९

२. `सुरभिचन्दनम्` आदि स्थलों में ज्ञानलक्षणात्मक अलौकिक सम्बन्ध होने से सौरभांश के ज्ञान में कोई चमत्कार अनुभूत नहीं होता और रसात्मकप्रतीति में वह अनुभूत होता है -यह भिन्नता है, अत: रसात्मक प्रतीति मानसी नहीं हो सकती।

और तमस् निर्मीर्ण कर लिए जाते हैं और सत्वगुण उद्रिक्त हो उठता है। जिससे हम वेद्यान्तर परिहारपूर्वक अवस्थित अपने चैतन्यस्वभाव आनन्द साक्षा से विषयीकृत उपर्युक्त भावना द्वारा उपस्थापित, सम्बन्धविशेष से रक्षित रत्यादि स्थायी ही रस है। इस मत में सत्वगुण की वृद्धि के कारण जो आनन्द प्रकाशित होता है, उससे अभिन्न ज्ञान (चैतन्य) को ही 'भोग' कहते हैं। उसके विषय रति आदि स्थायीभाव बनते हैं। अत: पक्ष में भी भोग किए जाते अर्थात् चैतन्य से युक्त रति आदि अथवा रत्यादि भोग अर्थात् रत्यादियुक्त चैतन्य ही रस है। यह आस्वाद ब्रह्मास्वाद का समीपवर्ती कहलाता है। इस प्रकार काव्य के तीन अंश हैं - 'अभिधा, भावना और उसका भोगीकरण।'

इस मत में पहले मत से, केवल, भावकत्व अथवा भावना नामक अतिरिक्त व्यापार का स्वीकार ही विशिष्ट बात है। भोगकृत्व और व्यंजना एक ही है, क्योंकि भोग आवरण से रहित चैतन्य रूप है और आवरण भंग करने वाली भोगीकृति क्रिया व्यंजना ही है। शेष सारी पद्धति तो प्रथम मत की ही है।[१]

तृतीयमत--

नवीनों के अनुसार तो काव्य में कवि और नाट्य में नट के द्वारा प्रकाशित हो जाने पर व्यंजना से दुष्यंत आदि में शकुन्तला विषयक रति का ज्ञान होता है। तदनन्तर सहृदयता के कारण एक प्रकार की भावना उत्पन्न होती है, जो कि एक प्रकार का दोष है। इस दोष के प्रभाव से हमारी अन्तरात्मा कल्पित दुष्यन्तत्व से आच्छादित हो जाती है अर्थात् हम अपने को

---

१. रसगंगाधर, पृ० २८-३०

दुष्यन्त ही समझने लगते हैं। तब कल्पित शकुन्तला विषयक रति भी भासित होने लगती है, जैसे दूरत्व आदि दोषों के कारण अज्ञानाच्छादित सीपी के टुकड़े में चाँदी के टुकड़े का भान होने लगता है। इसमें न शकुन्तलाविषयक रति वास्तविक रूप में है, न सीप के टुकड़ों में चाँदीपन, तथापि साक्षी आत्मा उनका भान करा देती है। इस तरह इसमें भासित शकुन्तलाविषयक रति और सीपी टुकड़े में प्रतीयमान चाँदीपन— दोनों ही अनिर्वचनीय अर्थात् सदसद्विलक्षण होते हैं। अतः उक्तभावनादोष से "मैं दुष्यन्त हूँ" इस भ्रम में पड़े हुए सामाजिकों में उत्पन्न होने वाली साक्षिभास्य, अनिर्वचनीय शकुन्तलाविषयक रत्यादि स्थायीभाव ही रति है।

यह रस पूर्वोक्त दोषविशेष का कार्य है और उसका नाश होने पर नष्ट हो जाता है अर्थात् जब तक उस दोष विशेष का प्रभाव रहता है, तभी तक रस की प्रतीति होती है।

यद्यपि यह न तो सुखरूप है, न व्यंग्य ही है और न इसका वर्णन हो सकता है, तथापि इसकी प्रतीति के अनन्तर होने वाले सुख के साथ जो इसका भेद है वह हमें प्रतीत नहीं होता, हम इसे सुखपद से व्यवहृत करते हैं। इसी प्रकार स्वपूर्वोपस्थित रत्यादि से भेद का ग्रहण न होने के कारण अथवा उस वास्तविक और इस कल्पित रति को एक समझ लेने के कारण यह व्यंग्य और वर्णनीय कहलाने लगता है।

सहृदयों की आत्मा को आच्छादित करने वाला दुष्यन्तत्व भी अनिर्वचनीय ही है। उस 'दुष्यन्तत्व' में 'शकुन्तलाविषयक रतिसम्पन्न मैं हूँ' इत्याकारक रत्यादिविशिष्ट ज्ञान में विशेष्यतावच्छेदक होना ही आच्छादकत्व है अर्थात् शकुन्तला विषयक रतिसम्पन्न दुष्यन्त अपने को मान लेना ही आच्छादकत्व है। इसलिये 'भट्टनायक ने जो यह आशंका की है —

'दुष्यन्तादि-निष्ठ-रति आदि के आस्वाद न होने से रसत्व हो नहीं सकता। शकुन्तला आदि से असम्बद्ध अपनी रति आदि की अभिव्यक्ति ही कैसे होगी। अपने में दुष्यन्त आदि से अभेदबुद्धि भी दुष्यन्त में धराधौरेयत्व, धीरत्व

आदि और अपने आधुनिकत्व, कापुरुषत्व आदि वैधर्म्य के कारण बाधित हो जाती है --यह सारी आशंका दूर हो जाती है।

प्राचीन आचार्यों ने विभावादि के साधारण होने की बात लिखी है, उसका भी किसी दोष विशेष की कल्पना बिना सिद्ध होना कठिन है, क्योंकि काव्य में शकुन्तला आदि का वर्णन दुष्यन्तपत्नी आदि के रूप में ही होता है, स्त्री सामान्य के रूप में नहीं। अतः शकुन्तलादि के वैशिष्ट्य की निवृत्ति के लिए दोषविशेष की कल्पना आवश्यक है और तब उसी दोष के द्वारा अपने दुष्यन्तादि से अभेदबुद्धि भी सहज ही सिद्ध है।

प्रश्न यह है कि इस तरह तो दुष्यन्त आदि की भांति सहृदय आदि में भी रति सुख-विशेष उत्पन्न कर सकती है, किन्तु करुणआदि रसों में शोक आदि स्थायी के दुःखजनक होने की बात प्रसिद्ध है, वे सहृदय में आह्लाद कैसे उत्पन्न कर सकते हैं, प्रत्युत नायक ही की भांति सहृदय में भी दुःखजनक होना ही उचित है।

यह नहीं कहा जा सकता कि सत्य शोक आदि ही दुःखजनक होते हैं, कल्पित नहीं, अतः नायक को ही दुःखानुभव होगा, सहृदय को नहीं क्योंकि तब तो रज्जु आदि में सर्प का भ्रम होने पर भय, कम्पन आदि का उदय ही न होना चाहिए। दूसरी बात यह कि जब कल्पित शोक से दुःख की उत्पत्ति नहीं मानी जा सकती, तो कल्पित रति से सुख की उत्पत्ति भी नहीं मानी जा सकेगी।

इसका समाधान यह है कि यदि सहृदयों के हृदय द्वारा यह प्रमाणित है कि जिस तरह शृंगाररसप्रधान काव्यों से आनन्द उत्पन्न होता है, उसी प्रकार करुणरसप्रधान काव्यों से भी केवल आनन्द ही उत्पन्न होता है, तो यह नियम है कि 'कार्य के अनुरोध से कारण की कल्पना कर लेनी चाहिए,' अतः जिस प्रकार काव्य के व्यापार को आह्लादप्रयोजक मानते हैं,

वैसे ही दु:खप्रतिबन्धक भी मान लेंगे ।

यदि आनन्द की तरह दु:ख भी प्रमाणसिद्ध है, तो काव्य-व्यापार को दु:खप्रतिबन्धक नहीं मानना चाहिए । अपने अपने कारण से सुख और दु:ख दोनों ही होंगे ।

यह आशंका हो सकती है कि करुण आदि रसों से दु:ख भी होता है, तो ऐसे काव्य की रचना में कवि और श्रवण में सहृदय की प्रवृत्ति कैसे होती है, क्योंकि जब ऐसे काव्य अनिष्टसाधक हैं, तब उनसे निवृत्ति ही उचित है तो इसका उत्तर है कि चन्दनद्रव के लेप की ही भांति इष्ट आनन्द के आधिक्य और अनिष्ट आदि की न्यूनता के कारण प्रवृत्ति तो होती ही है । केवल आह्लादवादियों के मत में तो प्रवृत्ति में कोई बाधा है ही नहीं ।

करुण आदि रसों से भी केवल आनन्द मानने पर भी रस-चर्वणा की वेला में अश्रुपातादि होना विरुद्ध नहीं है, क्योंकि अश्रुपातादि उन उन आनन्दों के स्वभाव के ही कारण होता है, दु:ख के कारण नहीं । इसीलिए भगवान् के वर्णन् को सुनकर भगवद्भक्तों के जो आंसू आदि गिरते हैं, उनमें कोई विरोध नहीं दिखाई पड़ता । भगवच्चरितश्रवण में तो दु:ख के लेश की भी बात नहीं उठती ।

अब यदि यह प्रश्न किया जाय कि करुण आदि रसों में शोकादि से युक्त दशरथ आदि से अभेद मान लेने पर भी यदि आनन्द आता है, स्वप्न अथवा सन्निपातादि में भी अपनी आत्मा में दशरथ आदि के अभेद मान लेने पर भी आनन्दानुभूति होनी चाहिए, पर दु:ख ही उन अवस्थाओं में अनुभवसिद्ध है, अत: यहां भी केवल दु:ख ही होता है, यही मानना चाहिए। तो इसका उत्तर यह है कि यह लोकोत्तर काव्यव्यापार व्यंजना का ही प्रभाव है कि उसके द्वारा प्रयोज्य अरमणीय शोकादि पदार्थ भी अलौकिक आनन्द ही उत्पन्न करते हैं क्योंकि कमनीयकाव्य व्यापार जन्मा आस्वाद प्रमाणान्तर से उत्पन्न अनुभव से विलक्षण है ।" काव्यव्यापारज" का आस्वाद

काव्य व्यापार से उत्पन्न होने वाली भावना से उत्पन्न रति आदि का आस्वाद है, अत: रस का आस्वाद यद्यपि काव्यव्यापार से उत्पन्न नहीं होता अपितु काव्यानुसन्धान से उत्पन्न होता है तथापि कोई हानि नहीं है।[१]

शकुन्तला आदि में अगम्यात्व आदि का ज्ञान अपने में दुष्यन्त से अभेदबुद्धि होने के कारण प्रतिबद्ध हो जाता है।[२]

चतुर्थ मत --

दूसरे लोगों का मत है कि व्यंजना व्यापार और अनिर्वचनीय ख्याति के मानने की कोई आवश्यकता नहीं है। इनके मत में रस न तो व्यंग्य है और न अनिर्वचनीय। शकुन्तला आदि के विषय में रति आदि से युक्त व्यक्ति के साथ अभेद का मन: कल्पित ज्ञान ही रस है, फलत: रस एक भ्रम है जो पूर्वोक्त व्यक्ति से आत्मरूप में हमें अभिन्न कर देता है। पूर्ववर्णित दोष के प्रभाव से सहृदय को अपनी आत्मा में दुष्यन्त आदि की तद्रूपता समझ पड़ने लगती है और

---

१. तुलनीय:- 'बोध्यनिष्ठा यथास्वं ते सुखदु:खादिहेतव:।
बोद्धृनिष्ठास्तु सर्वेऽपि सुखमात्रैकहेतव:॥
अतो न करुणादीनां रसत्वं प्रतिहन्यते।
भावानां बोद्धृनिष्ठानां दु:खाहेतुत्वनिश्चयात्॥'

--भगवद्भक्तिरसायन, मधुसूदन सरस्वती, पृ० १२६--३०

'काव्ये तु धार्मिग्राहकमानसिद्धस्य व्यक्तिविशेषनिरूपितत्वादिप्रमोषणात्मकसाधारणीकरण व्यापारस्य महिम्ना दु:खप्रयोजक विशेषांशभानान्नैव दु:खाधायकता।'

--टीका, पृ० १३०

'न च करुणादावनुभूत्यनुपपत्तिरिति वाच्यम्, लोके हि स्वरूपतो यस्माद् यदुत्पत्तिस्तस्मादेव ज्ञायमानात्तदुत्पत्तिर्वस्तुस्वाभाव्यादित्यविरोध:।'

--राजचूडामणि दीक्षित, काव्यदर्पण, पृ०-१५०

विरोधी दृष्टिकोण के लिए देखिए--नाट्यदर्पण--पृ० १५६

२. रसगंगाधर, पृ० ३०-३२

उसे उत्पन्न करने वाला है काव्यगत पदार्थों का बार बार अनुसन्धान । इस ज्ञान के विषय शकुन्तला-दुष्यन्त आदि लोकव्यवहार से असम्बद्ध होते हैं।

स्वप्न आदि का मानस-ज्ञान रस नहीं हो सकता क्योंकि वह काव्यार्थ के चिन्तन से उत्पन्न नहीं होता । इसीलिए स्वप्न आदि में वैसा आह्लाद नहीं होता । अपने में अविद्यमान का अनुभव होने में भी कोई आपत्ति नहीं हो सकती, क्योंकि यह रति आदि का लौकिक साक्षात्कार नहीं है, जिसमें विषय की विद्यमानता की अनिवार्य अपेक्षा हो, अपितु यह भ्रम है। किन्तु प्रश्न उठता है कि यदि रस भ्रम ही है, तब `रस का आस्वादन होता है` यह व्यवहार असंगत ही हो जायेगा, इसका उत्तर है कि जिन रति आदि के विषय में भ्रम होता है, उनका आस्वादन भी हो सकता है, उसी विषयगत रति आदि का विषयी भ्रमात्मक रस में आरोप कर के रस आस्वादन का व्यवहार होता है।

इस मत के अनुसार जिस ज्ञान को रस कहते हैं, उसका रूप तीन प्रकार का हो सकता है –

(१) दुष्यन्त आदि में रहने वाली शकुन्तला आदि की जो रति है, उससे युक्त मैं हूं।

(२) मैं शकुन्तलादि विषयक रति युक्त दुष्यन्त से अभिन्न हूं।

(३) मैं दुष्यन्तत्व और शकुन्तलाविषयक रति से युक्त हूं।

इन तीनों ही ज्ञानों को रस मानना पड़ेगा, क्योंकि एक को ही रस मानने में कोई विशेष युक्ति नहीं है। यद्यपि इन तीनों ज्ञानों में विषय एक-सा ही है, तथापि उद्देश्य-विधेयभाव के भेद से ये ज्ञान परस्पर भिन्न हैं। प्रथम ज्ञान में `मैं` उद्देश्य है और दुष्यन्त में रहने वाली रति ` विधेय । द्वितीय ज्ञान में भी उद्देश्य` मैं ` है, किन्तु विधेय है `शकुन्तला विषयक रतियुक्त दुष्यन्त` तृतीय ज्ञान में उद्देश्य` मैं ` एक है, किन्तु विधेय दो हैं – एक `दुष्यन्तत्व` और ` शकुन्तला विषयक रति` । अतएव यह तृतीयज्ञान समुच्चयात्मक है।

इन तीनों ज्ञानों में विशेषणरूप से प्रविष्ट रति आदि का इन ज्ञानों से पहले ही ज्ञान रहना आवश्यक है। व्यंजना को अस्वीकार कर दिया

गया है और शब्द से अप्रतीत होने से अनुमान की शरण लेनी पड़ेगी । उस विशेषणीभूत रति आदि के ज्ञान के लिए नट आदि की चेष्टा को हेतु बना कर दुष्यन्त शकुन्तला विषयक रति सम्पन्न है, क्योंकि रतिज चेष्टा उसमें विद्यमान हैं — इस प्रकार का अनुमान करना पड़ेगा ।[१]

पंचम मत:—

एक लोगों का मत है कि दुष्यन्त आदि में रहने वाले रति आदि हैं,वे ही रस हैं । उन्हीं को नाटक में, सुन्दर विभाव आदि का अभिनय दिखाने में निपुण दुष्यन्त आदि की भूमिका में नट और काव्य में काव्य पढ़ने वाले व्यक्ति के ऊपर आरोपित करके हम उसका अनुभव कर लेते हैं । इस मत में भी रस का अनुभव, पूर्व मत की तरह तीनों प्रकार से' शकुन्तला के विषय में जो रति है, उससे युक्त यह नर दुष्यन्त है' इत्यादि होता है । इस मत के अनुसार 'शकुन्तला के विषय में जो रति है उससे युक्त यह (नट) दुष्यन्त है' — इस बोध में दो अंश हैं, एक नटविषयक, दूसरा दुष्यन्तविषयक । इनमें से विशेष्यरूप नट का बोध लौकिक है, क्योंकि नट सामने है, शेष अलौकिक है, क्योंकि दुष्यन्त आदि भ्रान्तिमूलक हैं ।[२]

षष्ठ मत—

अपर विद्वानों का मत है कि दुष्यन्त आदि में जो रति आदि रहते हैं, वे नट आदि में उसे दुष्यन्त समझ कर अनुमित होते हैं, उनका नाम रस हो जाता है । नाटक में जो शकुन्तला आदि विभाव परिज्ञात होते हैं, वे यद्यपि कृत्रिम होते हैं, तथापि उनको स्वाभाविक मान कर और नट को दुष्यन्त मान कर

---

१. रस गंगाधर, पृ० ३२-३३

२. रसगंगाधर, पृ० ३३-३४

पूर्वोक्त विभावादिकों से नट आदि में रति आदि का अनुमान कर लिया जाता है, यद्यपि दुष्यन्त आदि के चरित्रों का उससे भिन्न नट आदि के विषय में अनुमित होना नियमविरुद्ध है, तथापि अनुमान की सामग्री के बलवान् होने के कारण वह बन जाता है।

यद्यपि अन्य अनुमितियों में चमत्कार नहीं होता, तथापि यहां अनुमेय वस्तुओं के सौन्दर्य के कारण अनुमित में चमत्कार उत्पन्न हो जाता यद्यपि अनुमान किसी चीज के एक बार सिद्ध हो जाने पर पुन: उसका अनुमान नहीं किया जाता, क्योंकि सिद्धि अनुमिति की प्रतिबन्धिका होती है, तथापि अनुमित्सा रहने पर सिद्धि अनुमिति में प्रतिबन्धक नहीं होगी।[१]

सप्तम मत--

कतिपय लोगों का कहना है कि विभाव, अनुभाव और संचारी-भाव ये तीनों ही सम्मिलित होने पर `रस` कहलाते हैं।[२]

अष्टम--

बहुत से कहते हैं कि तीनों में जो चमत्कारी होता है, वही रस बन जायेगा अन्यथा तीनों नहीं मिल कर भी रस नहीं कहला सकते।[३]

नवम--

अन्य लोगों का मत है पुन: पुन: अनुसन्धान किया गया विभाव ही रस है।[४]

---

१. रसगंगाधर, पृ० ३४
२. ,, पृ० ३४
३. ,, पृ० ३४
४. ,, पृ० ३४

एकादश—कुछ लोगों के अनुसार व्यभिचारी ही पुन:पुन: चिन्तन का विषय होकर रस रूप में परिणत होता है।[१]

इस प्रकार पंडितराज ने सिद्धान्तपक्ष के साथ साथ दस अन्य मत रस के सम्बन्ध में रखे। इन मतों के उपस्थापन में उन्हें सर्वथा नवीन कल्पनायें नहीं करनी पड़ीं क्योंकि इस सम्बन्ध में अनेक मतों का नामोल्लेखपूर्वक और बिना नाम लिए हुए उपस्थापन अभिनवगुप्तपादाचार्य ने किया है।[२] अभिनवगुप्त पादाचार्य ने अपने मत के अतिरिक्त अन्य बारह मतों का उल्लेख किया है।[३] भटनायक, केचित्, केचित्, अन्येतु, अपरे, अन्येतु, अपरे, केचित्, इतरे, अन्ये, एके, केचन के नामों से ये मत उद्धृत हैं। पंडितराज और अभिनवगुप्त की उद्धृतमतों की क्रमिक तालिका इस प्रकार है —

अभिनव (लोचन के अनुसार)		पण्डितराज	
भट्टनायक	भुक्तिवाद	अभिनवगुप्त	अभिव्यक्तिवाद
केचित्	आरोपवाद	भट्टनायक	भोगकृत्ववाद
केचित्	अनुमितिवाद	नव्यास्तु	दोषवाद
अन्येतु	मिथ्याज्ञानवाद	परे तु	भ्रान्तिवाद
अपरे	विभावानुभावमात्रवाद	एके	आरोपवाद
अन्ये तु	शब्दविभाववाद	अपरे	अनुमितिवाद
अपरे	शुद्ध अनुभाववाद	कतिपये	समुदित विभावादिवाद
केचित्	स्थायिमात्रवाद	बहव:	य एव चमत्कारिवाद
इतरे	व्यभिचारिमात्रवाद	अन्ये	भाव्यमानविभावाद
अन्ये	तत्संयोगवाद	इतरे	भाव्यमानानुभाववाद
एके	अनुकार्यवाद	केचित्	भाव्यमानव्यभिचारिवाद
केचन	समुदायवाद		

इस तालिका से स्पष्ट है कि पंडितराज ने अधिकांश मत अभिनव गुप्त से

१. र०गं०, पृ० ३४ २. अभिनव भारती, नाट्यशास्त्र, भाग १, २७२-८६ शेष अ

से ही ग्रहण किये हैं। पंडितराज ने स्वयम् अभिनव गुप्त के मत को तो सिद्धान्त पक्ष माना ही है, इसकी परीक्षा हम आगे करेंगे। इसके अतिरिक्त भट्टनायक का भोग अथवा भोगकृत्ववाद, शंकुक का अनुमितिवाद, भट्टलोल्लट का आरोपवाद पंडितराज ने ग्रहण ही किया है। अभिनवगुप्त द्वारा `अन्ये तु` के नाम उद्धृत चतुर्थ मिथ्याज्ञान के मत को पंडितराज ने अपने `परे तु` के मत के रूप में उद्धृत किया है। अभिनवगुप्त द्वारा उद्धृत षष्ठ सप्तम, नवम क्रमश: शुद्ध विभाव, अनुभाव और व्यभिचारिमात्रवाद पंडितराज द्वारा उद्धृत नवम, दशम, एकादश मत के समानान्तर है। अभिनव गुप्त द्वारा उद्धृत द्वादश मत समुदायवाद पंडितराज द्वारा उल्लिखित सप्तम समुदायविभावाद के रूप में दिखाई पड़ता है। अभिनव गुप्त द्वारा उद्धृत पंचम विभावानुभाववाद, दशम तत्संयोगवाद और एकादश अनुकार्य वाद पंडितराज द्वारा उद्धृत नहीं है, किन्तु उनके उद्धरण का तृतीय `नव्यास्तु` के नाम से उद्धृत मत तथा अष्टम मत अधिक है।

इस प्रकार यद्यपि पंडितराज ने इन उद्धृत मतों में से एक को छोड़कर प्राय: सब मत अभिनवगुप्त से ग्रहण किये हैं, तथापि इन मतों को उद्धृत करते समय उपस्थापन की शैली उनकी अपनी स्वतंत्र शैली है। उन्होंने कुछ मतों के प्रति अपनी स्पष्ट असम्मति व्यक्त की है और कुछ के प्रति अरुचि को प्रच्छन्न रूप से व्यक्त किया है।

उन्होंने कण्ठत: कहा कि अन्तिम तीन अर्थात् नवम, दशम और एकादश मत भरतसूत्र के विरुद्ध है। विभाव, अनुभाव और व्यभिचारिभाव इनमें से एक अर्थात केवल विभाव, केवल अनुभाव अथवा केवल व्यभिचारी भाव किसी नियत रस को ध्वनित कर ही नहीं सकते क्योंकि वे जिस तरह एक रस के विभावादि होते हैं, उसी तरह दूसरे रस के भी हो सकते हैं। इस तरह सिद्ध हुआ कि तीनों के सम्मिलित होने पर ही रस ध्वनित होता है। जहां कहीं किसी असाधारण रूप में वर्णित विभावादि में से एक से ही रस का उद्बोध हो जाता है, वहां इतर दो का आक्षेप हो जाता है। अत: विभावानुभावसंचारी के संयोग के बिना रसपुष्टि संभव नहीं

---

१. का शेष- लोचन ध्वन्यालोक, पृ० १८०--१८०

२. लोचन, ध्वन्यालोक, पृ० १८१--१८६

है। इस प्रकार पंडितराज ने अन्तिम तीन मतों का कण्ठत: निषेध कर दिया।

अन्यत्र भी तु, अन्ये, अपरे, केचित्, कतिपये आदि नामों के द्वारा मतों के उपस्थित कराने से अरुचि स्पष्ट द्योतित होती है। अष्टम मत भी भरत के सूत्र से विरुद्ध नहीं है, क्योंकि भरत ने कहीं भी किसी एक को रस मानने का उल्लेख नहीं किया है। इसके अतिरिक्त पूर्वोक्त तर्क इस मत को भी नि:सार कर देते हैं। सप्तम समुदितविभावादिवाद भी भरत के मत के अनुकूल नहीं है। जिसका आस्वाद होता है, वह विभाव, अनुभाव अथवा व्यभिचारी नहीं, अपितु भिन्न भिन्न नाट्यों में स्थायीरूपता विद्यमान चित्तवृत्ति है। भरत ने भी कहा है जैसे नाना व्यंजन उपसेवन - गुड़,कांजी-आदि, गोधूम, दाल, हल्दी-आदि औषधि तथा गुडादि द्रव्य के संयोग से रस निष्पत्ति होती है, उसी प्रकार नाना भावोपगम से स्थायी रसत्व को प्राप्त होते हैं।[१] भरत ने स्थायी के प्राधान्य को भी स्पष्ट ही बताया है।[२] अत: समुदितविभावादि के मत में भी अरुचि स्पष्ट ही है।

पण्डितराज द्वारा उद्धृत षष्ठ मत शंकुक का अनुमितिवाद है। शंकुक के मत के मुख्य पक्ष हैं-- अनुकार्य रामादि की अनुकृति, कृत्रिम होते हुए भी अकृत्रिमतया गृहीत नट के चेष्टादि लिंग से अनुकार्य स्थिति रस की अनुमिति। रस के अनुमान की बात ही अस्वीकार्य है, क्योंकि यह बात मान्य है कि प्रत्यक्ष ज्ञान से आनन्द प्राप्त होता है, अनुमानादि से नहीं, व उसका तिरस्कार कर के यह कल्पना करना कि रति आदि की सुन्दरता के बल से अनुमान करने पर भी आनन्द प्राप्त हो जाता है, ठीक नहीं। इस बात की अनुकृतिवादिता पर भी पर्याप्त विचार किया गया है। यदि यह कहा जाय कि अभिनय चाहे वाचिक हो या आंगिक, वह अर्थ को साक्षात्कारात्मक रूप में प्रस्तुत करता है, इसलिए उससे रसास्वाद हो सकता है, परन्तु

---

१. नाट्यशास्त्र, अभिनवगुप्त, जी०ओ०एस०, वॉल्यूम-१ पृ० २८७-८८

२. नाट्यशास्त्र, अ० ६ - यथा नाराणां नृपति: शिष्याणां च यथा गुरु:।
एवं हि सर्वभावानां भाव: स्थायी महानिह ।।

शब्द प्रमाण से उपस्थित होने वाला ज्ञान प्रत्यक्ष नहीं अपितु परोक्ष रूप में ज्ञात होता है। रति आदि शब्दों से जब स्थायी भावों का कथन किया जाता है, उनसे रति आदि का परोक्ष ज्ञान ही होता है। वाणी से कहना और वाचिक अभिनय भिन्न वस्तुएं हैं। इसलिए नट जो आंगिक और वाचिक अभिनय करता है, वह प्रत्यक्षात्मक ज्ञान का जनक होने से रसानुभूति का उत्पादक होता है। अनुक्रियमाण रत्यादि के मिथ्या होने पर भी वास्तविक आनन्दादिरूप रति के कार्य की अनुभूति होगी, क्योंकि मिथ्याज्ञान से भी अर्थक्रिया होती है। किन्तु वास्तविक बात तो यह है कि अनुक्रियमाण रति मिथ्याज्ञान अथवा भ्रान्तिरूप नहीं है, वह तो मिथ्या, संशय और सादृश्य प्रतीति से विलक्षण चित्रतुरगादिन्याय से प्रतीत होती है।

शंकुक के इस मत का युक्तियुक्त खंडन अभिनवगुप्तपादाचार्य के गुरु उपाध्याय ने ~~खण्डन~~ किया है। उपाध्याय ने रसानुकरणवाद के इस सिद्धान्त का खण्डन करते हुए पूछा है कि यह अनुकरणरूप रस (१) सामाजिक प्रतीति के अभिप्राय से है (२) अथवा नटाभिप्राय से है (३) अथवा वस्तुवृत्तिविवेचक व्याख्यातार्थों के अभिप्राय से (४) अथवा भरतमुनि के मतानुसार। चारों ही विकल्पों की दृष्टि से उपाध्याय द्वारा उपस्थित किये गये तर्क शंकुक का समूल खण्डन कर देते हैं।[१]

पण्डितराज द्वारा उद्धृत पांचवां मत भट्टलोल्लट का आरोपवाद है। इस मत में मुख्यतया रामादि में विद्यमान रस का नट पर आरोप कर लिया जाता है। यह कथंचित् बन भी जाय, तो इससे सामाजिक कौन - सा सम्बन्ध और उन्हें आनन्द कैसे? यदि नट पर आरोपित रस के ज्ञान मात्र से आनन्द का अनुभव माना जाय, तो 'रस' शब्द के श्रवण मात्र से आनन्द की प्राप्ति होनी चाहिए। यदि यह कहा जाय कि आनन्दानुभाव आदि के विज्ञा-

---

१. नाट्यशास्त्र, अभिनवभा०, जी०ओ०एस०, पृ० २७२-७६

से नट पर जो आरोप किया जाता है, उससे आनन्दानुभव होता है, केवल शब्दार्थ ज्ञान से नहीं तो यह भी ठीक नहीं, क्योंकि चन्दनादि के लेप से जो आनन्द मिलता है उसके लिए न अनुभाव की आवश्यकता होती है, न विभाव की। किसी इन्द्रिय द्वारा ज्ञान होते ही आनन्द आने लगता है। इसके अतिरिक्त ऐसी कल्पना में कोई प्रमाण भी नहीं है। भट्टलोल्लट ने विभावानुभावादि से उपचित स्थायी को रस बताया। इस मत का समर्थन दण्डी ने भी किया।[1] किन्तु स्वयं शंकुक ने इस स्थायी के उपचय को रस मानने के विरोध में आठ तर्क देकर इसे खण्डित कर दिया।[2]

पण्डितराज द्वारा उद्धृत चतुर्थ और तृतीय मत में भी पण्डितराज की अरुचि है। तृतीय मत में नव्य लोग साधारणीकरण की प्रक्रिया का निषेध करते हैं, क्योंकि उनके अनुसार शब्द अपने में सन्निहित विशिष्ट तत्व (Properties) से सम्बद्ध अर्थ को ही बताते हैं शकुन्तलादिशब्दैः शकुन्तलात्वादिप्रकारक बोधजनकैः इत्यादि। फलतः दर्शक दुष्यन्त और शकुन्तला को उनके ही रूप में देख सकता है, धीरोदात्त नायक और नायिका-सामान्य के रूप में नहीं देख सकता। सहृदयत्व विभावादि को साधारणीकृत नहीं कर सकता। इसके लिए तो 'दोष' विशेष की कल्पना करनी पड़ेगी, क्योंकि वास्तविकस्वरूप का अपलाप और उसे भिन्न रूप में समझना किसी न किसी दोष के कारण ही होता है, जैसे पाण्डु के कारण ही अपीत वस्तु भी पीत दीखती है। इसलिए दोष अथवा भावनाविशेष सहृदय के स्वत्व का विस्मरण और उसका रामादि से ऐक्य उत्पन्न कर देता है। यह ऐक्य अनिर्वचनीय इत्यादि की सृष्टि करता है, अनिर्वचनीय इसलिए, क्योंकि इसको

---

१. काव्यादर्श, २-२८१, २-२८३

२. नाट्यशास्त्र, अभिनव भारती, जी०ओ०एस०, पृ० २७२

`हाँ` या `न` में नहीं कहा जा सकता। नव्य लोग विभावादि से वास्तविक शकुन्तलादि की रति की अभिव्यंजना स्वीकार करते हैं। वे अरमणीय शोक आदि पदार्थ से अलौकिक आह्लादजनक का सामर्थ्य काव्यव्यापार की अलौकिक महिमा को प्रद्योतन करते हैं।

किन्तु उनके द्वारा प्रतिपादन के बाद भी `साधारणीकरण` और औररसास्वाद में दुःख आदि की प्रतिबन्धकता के लिए जो अतिरिक्त प्रयास करना पड़ता है, उसकी कोई आवश्यकता नहीं है, क्योंकि `व्यंजना` को स्वीकार करने के बाद यह सामर्थ्य भी उसमें मानने में कोई बाधा नहीं है। इसके अलावा` दोष विशेष` के द्वारा अनिर्वचनीय रत्यादिसृष्टि मानने में आपत्ति भी है।

चतुर्थ मत में व्यंजना को अस्वीकार करके इस मत के प्रतिपादक दुष्यन्तादि के रूप में नट के व्यवहार से दुष्यन्त आदि की रति का अनुमान मानते हैं। एक बार रत्यादि का अनुमान स्वीकार करने पर वे सारी आपत्तियाँ उठ खड़ी होती हैं, जो श्री शंकुक के मत के विरुद्ध उठायी गयी है। चूंकि सभी काव्य सुनने और देखने वालों को रस का आस्वादन नहीं होता, अतः यह मानना पड़ेगा कि जिसमें वासनारूप में रति आदि विद्यमान रहते हैं उन्हें ही रसानुभव होता है।` नाटकादि देखने पर जो सहृदयदर्शक वासनायुक्त होते हैं, उन्हें ही रस का आस्वादन होता है और वासनाहीन नाट्यशाला के भीतर लकड़ी, दीवार और पत्थर की तरह होते हैं।

अतः उन वासनारूप रति आदि को छोड़ कर अनिर्वचनीय रति आदि की कल्पना निरर्थक है। दूसरे, रस को सीप में चांदी आदि की भ्रान्ति की तरह मानना सहृदयानुभवविरुद्ध है, क्योंकि रस की प्रतीति बाधित नहीं है। इसी तरह रस को भ्रमरूप मानना शास्त्र और अनुभव दोनों प्रमाणों से शून्य है, क्योंकि न तो अयथार्थ ज्ञान को किसी शास्त्र में ही, आनन्दरूप माना गया है और न अनुभव से ही इस बात की पुष्टि होती है। रस तो आनन्द से रहित है कभी नहीं। अतः उपर्युक्त दोनों मत भी पण्डित-

राज द्वारा पूर्व पक्ष रूप में ही उद्धृत किये गये हैं।

पंडितराज द्वारा उद्धृत द्वितीय मत भट्टनायक का है। इस मत की विस्तृत परीक्षा अभिनवगुप्तपादाचार्य[1] और बाद के विद्वानों ने की है। अतएव पंडितराज ने यह कह कर समीक्षा की कि इसमें 'भावकत्व' यह एक और व्यापार का स्वीकरण ही विशेषता है। स्पष्टत: यह गुरुभूत मत मान्य नहीं हो सकता।

पण्डितराज ने प्रथम मत अभिनवगुप्त और मम्मट भट्ट आदि के ग्रन्थों के स्वारस्य के अनुसार प्रस्तुत किया है। यह मत उनकी सम्मति प्राप्त करता है। केवल रसस्वरूप के सम्बन्ध में ही उनका अपना निजी दृष्टिकोण है। रस की उन्मीलन प्रक्रिया में वे आनन्दवर्द्धनाचार्य, अभिनव गुप्त पादाचार्य और मम्मट भट्ट के दृष्टिकोण से सहमत हैं। रस की अभिव्यक्ति और उसके सामाजिक मत होने के सिद्धान्तों से उनका सर्वथा मतैक्य है। पंडितराज ने रसोन्मीलन प्रक्रिया में अभिनवगुप्त आदि का समर्थन करते हुए भी रसस्वरूप के सम्बन्ध में अपनी सर्वथा नवीन व्याख्या प्रस्तुत की। पंडितराज की रस के सन्दर्भ में यह देन भी महत्वपूर्ण है कि उन्होंने रसोन्मीलन सम्बन्धी सारे मतों को प्रस्तुत कर रसस्वरूप के सम्बन्ध में उनके दार्शनिक तात्पर्य की शल्य-क्रिया कर के उनका मन्तव्य सामने रख दिया।

रस व्याख्याओं की दार्शनिक पृष्ठभूमि--

इस रसस्वरूप के सन्दर्भ में विभिन्न पंडितों ने विज्ञानवाद, द्वैतवाद, स्फोटतत्व, सत्कार्यवाद, और अद्वैतवाद आदि विभिन्न दार्शनिक सिद्धान्तों की दृष्टि से व्याख्या की थी, किन्तु अभिनवगुप्त ने इसे अप्रासंगिक और गैर पढ़े लिखे लोगों का शास्त्र के लेशमात्र ज्ञान के प्रदर्शन का मिथ्या-प्रयास बताया।[1] फिर भी इस दृष्टि से प्रयास तो किया ही

---

१. नाट्यशास्त्र-- अभिनव भारती, , पृ० २८४

गया था ।

पण्डितराज ने जिन विविध मतों का उपस्थापन किया, उनमें रस विषयक ऐतिहासिक और सैद्धान्तिक विकासक्रम स्पष्ट हो जाता है । भरत के `नानाव्यंजनौषधिद्रव्यसंयोग` के समानान्तर `नानाभावोपगम`[1] से लेकर `भग्नावरणा चित्` तक पहुंचते पहुंचते लम्बी मंजिल तय करनी पड़ी । भरत ने रस निष्पत्ति की सीधी-सरल प्रक्रिया `पाकरस` की तुलना में प्रस्तुत की । परवर्ती अलंकारवादी आचार्यों की रसविषयक धारणा के सम्बन्ध में संकेत हम कर चुके हैं । इनसे किसी दार्शनिक आधार पर विवेचन की अपेक्षा की नहीं जा सकती । `रस` व्याख्या की पृष्ठभूमि में दर्शन की स्थिति में लोल्लट की विवेचना से मिलनी आरंभ होती है । लोल्लट ने `अनुकार्यगतरस` का सिद्धान्त सामने प्रस्तुत किया ।[2] अभिनव के अनुसार उपस्थापित लोल्लट मत में आश्रय-पात्रों के कार्यरूप अनुभावों को परिगणित नहीं किया गया, किन्तु मम्मट ने उन्हें सम्मिलित कर सामाजिक द्वारा प्रतीयमान रसस्वरूप प्रस्तुत किया ।[3]

---

१. `को दृष्टान्त ? अत्राह - यथा हि नानाव्यंजनौषधिद्रव्यसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः तथा नानाभावोपगमाद्रसनिष्पत्तिः । यथाहि गुडादिभिर्द्रव्यैर्व्यंजनौषधिभिश्च षाडवादयो रसा निर्वर्त्यन्ते, तथा नानाभावोपगता अपि स्थायिनो भावा रसत्वमाप्नुवन्ति । अत्राह,रस इति कः पदार्थः ? उच्यते आस्वाद्यत्वात् । कथमास्वाद्यते रसः ? यथा हि नानाव्यंजनसंस्कृतमन्नं भुंजाना रसानास्वादयन्ति सुमनसः पुरुषा हर्षादींश्चाधिगच्छन्ति, तथा नानाभावाभिव्यंजितान् वागङ्गसत्वोपेतान् स्थायिभावानास्वादयन्ति सुमनसः प्रेक्षकाः हर्षादींश्चाधिगच्छन्ति । तस्मान्नाट्यरसा इत्यभिव्याख्याताः ?

—नाट्यशास्त्र, भाग १, पृ० २८७-८९

२. अभिनव भारती, नाट्यशास्त्र, भाग १, पृ० २७२

३. रसगंगाधर का शास्त्रीय अध्ययन, पृ० १२३

अभिनव के अनुसार लोल्लट-मत में अनुकार्य के साथ ही अनुकर्ता में भी अनुसन्धान-बलात् रस अवस्थित रहता है ।[१]

वासनारूप में विद्यमान स्थायी का उद्भूत संचारी द्वारा एककाल में पोषण का सिद्धान्त दार्शनिक रूप से किस आधार पर है ? श्री काणे के अनुसार इसका आधार पूर्वमीमांसा है ।[२] वामन झलकीकर ने भी लोल्लट को भट्टमतोपजीवी बताया है ।[३] किन्तु लोल्लट के विवेचन में मीमांसा के उपयोग या प्रभाव की अस्वीकृति डा० प्रेमस्वरूप गुप्त ने की है ।[४] इतना अवश्य है कि लोल्लट ने भावों की चित्तवृत्तिता का प्रश्न उठा कर उसे दार्शनिक क्षेत्र में उतारा ।

शंकुक के अनुमितिवाद[५] की आधारशिला स्पष्टत: न्यायदर्शन थी । डा० प्रेमस्वरूप गुप्त ने मिथ्याज्ञान से 'अर्थक्रिया' के प्रसंग में धर्मकीर्ति के उद्धरण[६] उनके 'चित्रतुरगन्याय' के उपयोग तथा भट्टतोत कृत आलोचना के आधार पर शंकुक के मत का दार्शनिक आधार धर्मकीर्ति और बौद्धदर्शन में ढूंढा है ।[७]

---

१. अभिनव भारती, भाग १, पृ० २७२

२. हिस्ट्री आफ संस्कृत पोइटिक्स, पृ० ३४६

३. काव्यप्रकाश, झलकीकर, पृ० २२५

४. " अनुकर्तृस्थत्वेन लिङ्गबलत: प्रतीयमान: स्थायी भावो ;
मुख्यरामादिगतस्थाय्यनुकरणरूप: ।"
— अभिनवभारती, नाट्यशास्त्र, भाग१,पृ०२७२

५. रसगंगाधर का शास्त्रीय अध्ययन, पृ० १२६-१२७

६. अभिनव भारती—नाट्यशास्त्र, भाग १, पृ० २७३

७. प्रमाणवार्तिक—पृ० १६६, १७० । प्रमाणवार्तिक—पृ० १६७-१६६ ।
देखिए—रसगंगाधर का शास्त्रीय अध्ययन, पृ० १३४-१४१

अभिनव गुप्त ने सांख्यदर्शन पर आधृत एक मत का भी स्पष्ट उल्लेख किया है जिसके अनुसार 'सुख और दु:ख के जनन की शक्ति रखने वाली सुख-दु:खस्वभाव बाह्य विषय सामग्री ही रस है',[१] किन्तु इसे स्पष्ट भरतविरोध के कारण इसे वे विचार के योग्य भी नहीं समझते। 'स्थायिभाव के रसत्व में उपचार का अंगीकार' कर वह स्वयम् अपनी मूर्खता प्रकट कर देता है।

भट्टनायक को डा० कान्तिचन्द्र पाण्डेय वेदान्ती मानते हैं,[२] किन्तु डा० प्रेमस्वरूप गुप्त ने उन्हें भोगवाद और शैवदर्शन से प्रभावित मान कर भी मीमांसा से अत्यन्त प्रभावित माना है। उन्होंने भट्टनायक के भावकत्व व्यापार की आधारशिला मीमांसा का 'भावनावाद' माना है।[३] इसीलिए अभिनव ने उनके भावकत्व व्यापार का डट कर खंडन किया है भट्टनायक द्वारा विवेचित रसभोग -का स्वरूप निम्नलिखित है -

' द्रुतिविस्तारविकासात्मा रजस्तमोवैचित्र्यानुविद्धसत्त्वमय-निज-चित्स्वभावनिर्वृतिविश्रान्तलक्षणः परब्रह्मास्वादसविध: ।'

—लोचन, पृ० १८३

' रजस्तमोनुवेधवैचित्र्यबलाद् द्रुतिविस्तारविकासलक्षणेन सत्त्वोद्रेकप्रकाशानन्दमयसंविद्विश्रान्तिलक्षणेन परब्रह्मास्वाद सविधेन भोगेन परं भुज्यते ।'

— अभिनवभारती, नाट्यशास्त्र, भाग१, पृ० २७७

इस स्वरूप पर शैव दर्शन का प्रभाव स्पष्ट है। आनन्द का मूल 'संविद् विश्रान्ति',[४] तथा सत्त्वरजस्तम:स्वभाव' चित्त-दोनों ही शैवदर्शन की भूमिका में निरूपित हुए हैं। इसीलिए अभिनव व्यंजना से पृथक व्यापार स्वीकार के अंश में भट्टनायक की आलोचना कर उनकी दृष्टि चेतना को अस्वीकार

---

१. अभिनव भारती, नाट्यशास्त्र, भाग१, पृ० २७६

२. हिस्ट्री आफ इण्डियन एस्थैटिक्स, पृ० ६०-६१

३. रसगंगाधर का शास्त्रीय अध्ययन, पृ० १४६-१५१

४. प्रत्यभिज्ञाहृदय, पृ० ३४-४५

भोगवाद स्वीकार कर लिया ।[१]

अभिनव ने शैवदर्शन के मूल आधार को ग्रहण किया । शैव दर्शन ने 'संविद्विश्रान्ति' को आनन्द का मूल स्वीकार किया । इस विश्रान्ति की प्रक्रिया अथवा मात्रा के अनुसार ब्रह्मानन्द, काव्यानन्द और वैषयिक आनन्द का भेद होता है । चिति की बहिर्गामिता विश्रान्ति में आनन्द प्राप्ति है । वैषयिक आनन्द में आत्मपरामर्श में विषयों का व्यवधान रहता है, काव्यानन्द में विषय संस्कारों का अनुवेध रहता है, किन्तु ब्रह्मानन्द में स्वतंत्र चित् का पूर्ण आत्मपरामर्श होता है ।[२] अभिनव ने रसविवेचन में देश का लाघ्ना-लिंगित रूप में भाव के उदय तथा विगलितवेद्यान्तरता- आदि रूपी एक व्यापक साधारणीकरण की प्रतिष्ठा की । उन्होंने सर्वथा 'रसनात्मकवीतविघ्नप्रतीतिग्राह्य भाव'[३] को रस कहा । इस प्रकार उन्होंने रसानुभूति में संवित् पक्ष की अपेक्षा चित्त वृत्ति पक्ष को अधिक प्रधानता दी । इसीलिए पंडितराज ने उनके पक्ष को -' भग्नावरणाचिद्विशिष्टो रत्यादि : रस: ' के रूप में रखा ।

१: रसगंगाधर का शास्त्रीय अध्ययन, पृ० १७०

२: ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविवृतिविमर्शिनी, भाग २, पृ० १७७-९

१: सन्दर्भ : आर० ग्नोली- द एस्थेटिक एक्स्पीरिएन्स, पृ० ८७-९०

३. अभिनवभारती, नाट्यशास्त्र, पृ० २८०

तुलनीय:-

' ज्ञाता: स्वपरसम्बन्धादन्ये साधारणात्मना ।
अलौकिका बोधयन्ति भावं भावास्त्रयोऽप्यमी ।।
भावत्रितयसंसृष्टस्थायिभावावगाहिनी ।
समूहालम्बनात्मैका जायते सात्त्विकी मति: ।।
वृत्तिरित्यर्थ: ।
सानन्तरक्षणोऽवश्यं व्यनक्ति सुखमुत्तमम् ।
तद्रस: केचिदाचार्यास्तामेव तु रसं विदु: ।।

— भक्तिरसायने मधुसूदन सरस्वती

रसगंगाधर, मधुसूदनी, पृ० ११५ पर उद्धृत

पण्डितराज ने अभिनव के इस शैवदर्शन की पीठिका पर विकसित रस-सिद्धान्त को अद्वैतदर्शन का आधार दिया । पंडितराज के अनुसार प्रमाता के अपने आवर्ण आत्मचैतन्य के स्वरूपभूत आनन्द के साथ गोचरीकृत, अपने ही वासना रूप में निहित रहने वाले रति आदि स्थायी भाव रस है । भावना-विशेष की महिमा से विभावादि के साधारणीकरणरूप अलौकिक व्यापार द्वारा प्रमाता के आनन्दस्वरूप चैतन्य पर पड़े आवरण की आंशिक निवृत्ति हो जाती है । इस आवरणभंग का स्वरूप पण्डितराज ने स्पष्ट निरूपित कर दिया है । आवरणांश की निवृत्ति वेला में चैतन्य के स्वयं प्रकाशित होने और रत्यादि को प्रकाशित करने की स्थिति को शुद्ध वैदान्ती ढंग से स्पष्ट कर दिया । अन्त: करणधर्मों को साक्षिभास्य कहने का यही अभिप्राय था । 'तन्मयी भवन' में भी पंडितराज ने 'तत्तत्स्थाय्युपहितस्वरूपानन्दाकारा चित्तवृत्ति' को बता कर चैतन्य को विषय बनाती चित्तवृत्ति के उपहित चैतन्याकाराकारित स्वरूप को स्वीकार कर वैदान्तनय ही माना ।[१] इसी दृष्टि से उन्होंने काव्यानन्द का लौकिक और ब्रह्मानन्द से भेद भी प्रतिपादित कर दिया । आभासवादी अभिनव के मत में चित् के समान चित्तवृत्ति की सत्ता का ही एक रूप थी, अत: उसे विशेष्य बनाने में उन्हें कोई आपत्ति नहीं थी, किन्तु पंडितराज ने आनन्द का आधार चिदंश को ही माना ।[२] यह शुद्ध वैदान्ती दृष्टि थी । आनन्द का चैतन्य से यह सम्बन्ध उन्होंने श्रुतिप्रमाण से पुष्ट कर दिया । पण्डितराज ने रसविवेचन में विभिन्न मतों को उपस्थित कर अभिनवगुप्त और मम्मट आदि के साथ सहमति रख कर भी अपने युग की बौद्धिक चेतना के प्रतिनिधि वैदान्त-

---

१. वैदान्तसार, पृ० ८३-८८

२. पण्डितराज के इस मत से काव्यदर्पणकार राजचूडामणि दीक्षित भी सहमत हैं — 'तदतिरिक्त अन्यसुखकल्पनायां गौरवात् । विभावादि संवलिततयाभिव्यक्तमात्मस्वरूपं सुखमेव रस: ।'

—काव्यदर्पण, पृ० १५३

दर्शन की संगति में जो रससिद्धान्त की व्याख्या की उसने रस सम्प्रदाय को परिणति पर पहुंचा दिया ।

रसों का नवत्वनिर्धारण

रस स्वरूप के विवेचन के अनन्तर पण्डितराज ने रस की संख्या के प्रश्न पर भी विचार किया। उन्होंने शृंगार, हास्य, करुण, शान्त, वीर, रौद्र, अद्भुत, हास्य, भयानक और शान्त इन नौ रसों का आकलन किया किन्तु इस सम्बन्ध में व्यापक मतभेद उनके पूर्व ही उपस्थित हो चुका था। शान्त को रस मानकर रसों की संख्या नौ मानने के स्थान पर आठ रसों की ही संख्या मानने के पक्षपाती आचार्य हो चुके थे। फलत: पण्डितराज ने इस पक्ष का भी स्पर्श किया।

आचार्य भरत ने रसों को गिनाते हुए केवल आठ रसों का ही नाम लिया और संख्यात: आठ रस ही बताये।[१] भरत ने शान्तरस का उल्लेख भी नहीं किया और वे पाठ जो नाट्यशास्त्र में शान्तरस और स्थायीभावों की पंक्ति में 'शम' को भी गिनाते हैं, शान्तरसवादियों द्वारा किये गये प्रक्षेप हैं।[२] विक्रमोर्वशीय[३] और काव्यादर्श[४] में भी आठ रसों का ही उल्लेख प्राप्त होता है। इसी प्रकार वररुचि की 'उभयाभिसारिका' में भी केवल आठ रसों का ही उल्लेख है।[५]

किन्तु शान्त का उल्लेख भी कुछ कम प्राचीन नहीं है। शम अथवा

---

१. नाट्यशास्त्र, पृ० २६६-६७

२. द नम्बर आफ रसाज़, ले० वी०राघवन, पृ० १५-१६, १७-२०

३. कालिदास, पृ० २१८

४. दण्डी, २, २९२

५. चतुर्भाणी, मद्रास—पृ० १३, श्री राघवन् द्वारा उद्धृत, पृ० १

शान्ति सम्बन्धी विचार भरत के स्वीकृत पाठ में विद्यमान है।[१] शान्तरस न केवल प्राचीन आचार्यों द्वारा मान्य और समादृत हुआ, अपि तु संस्कृत के विशाल साहित्य में शान्तरसपरक रचनाओं की कमी नहीं है।

शारदातनय के अनुसार शान्तरस के प्रथम चर्चा करने वाले वासुकि हैं।[२] साहित्यरत्नाकरकार धर्मसूरि के अनुसार कोहल ने भी शान्तरस को स्वीकार किया।[३] शान्तरस की प्रतिष्ठा धीरे धीरे संस्कृत साहित्यशास्त्र में होती गयी। ध्वन्यालोक की टीका चन्द्रिका के अनुसार शान्त रस आधिकारिकत्वेन वर्णित नहीं हो सकता, किन्तु अंगरस के रूप में चन्द्रिकाकार ने शान्तरस को स्वीकार किया। डा० राघवन् के अनुसार संभवतः बौद्धों और जैनों ने शान्तरस की रसरूप में प्रतिष्ठा की। पांचवीं शताब्दी का जैन-ग्रन्थ 'अनुयोग द्वार सूत्र' शान्त रस का उल्लेख करता है। उनके अनुसार संभवतः वार्तिककार श्रीहर्ष ने शान्त रस की सैद्धान्तिक स्थापना का आरंभ किया।[५] उद्भट तथा विष्णुधर्मोत्तरपुराण नौ रसों का उल्लेख करते हैं। ध्वन्यालोक में आनन्दवर्धनाचार्य विस्तृत विमर्श के बाद सिद्ध करते हैं कि महाभारत में शान्तरस की प्रधानता है।[७] अभिनवगुप्त पादाचार्य ने न केवल शान्त को रस माना अपितु उसे 'महारस' की संज्ञा दी और उसकी प्रतिष्ठा के लिए

---

१. द नम्बर आफ रसाज़, वी० राघवन, पृ० १५-१६ तथा १७,२०

२. भावप्रकाश, पृ० ४६, ४८, वी०राघवन द्वारा उद्धृत, द नम्बर आफ रसाज़ पृ० ११

३. डी०डी०ह्रातावार्य, पृ० २६

४. द नम्बर आफ रसाज़, पृ० २१, २२

५. द नम्बर आफ रसाज़, वी०राघवन, पृ० २२, २४

६. उद्भट- पृ० ४-५, वि०ध०पु०- पृ० ६८

७. ध्वन्यालोक-उद्योत-४, पृ० २९८-३००

गंभीर समालोचन किया ।

शान्तरस के सम्बन्ध में बाद में कई लोगों ने कई दृष्टियों से विचार किया । डा० राघवन् ने शान्त के सम्बन्ध में कुछ विशिष्ट विचारों की सूचना देते हुए कुछ शान्तरसविषयक धारणायें प्रस्तुत की हैं । रुद्रभट्ट रचित रस-कलिका के अनुसार शान्त का स्थायी ' शम ' है और शम का अर्थ है वैराग्य आदि से प्राप्त निर्विकारचित्तता । शान्त चार प्रकार का होता है । वैराग्य दोषनिग्रह, सन्तोष और तत्त्वसाक्षात्कार ।

हरिपाल अपने ग्रन्थ ' संगीत सुधाकर ' में तेरह रसों को गिनाते हुए शान्त और उसके अतिरिक्त ब्राह्म रस को मानते हैं । वे शान्त का स्थायी 'निर्वेद' और ब्राह्म रस का स्थायी ' आनन्द ' को मानते हैं । ब्राह्म रस को सारे प्रबन्धों से उत्तीर्णरूप होने के कारण नित्य, स्थिर अत: पृथग्गणनीय मानते हैं ।

एक अन्य ग्रन्थ ' प्रपंचहृदय ' (त्रिवेन्द्रम संस्कृत सीरीज़) के अज्ञात लेखक ने अद्भुत दृष्टिकोण रखा है । उसका कहना है कि स्थायी आठ हैं, किन्तु नाट्यशास्त्र रस नौ बताता है । वह शान्त को आठ रसों को निषेधात्मक मानने का खंडन करता है और इसे सर्वेन्द्रियोपरमरूप बताता है ।

मलधारी हेमचन्द्र की संस्कृत टीका से समन्वित ' अनुयोगद्वार सूत्र ' (आगमोदय समिति सीरीज़ ,पृ० १३४) काव्य के नौ रसों के सम्बन्ध में विचार करता है । टीका पहले प्रशान्त रस की व्याख्या इस प्रकार करती है--

' प्रशाम्यति क्रोधादिजनितौत्सुक्य रहितो भवत्यनेनेति प्रशान्त: । परम् गुरुवच: श्रवणादिहेतुसमुल्लसित उपशमप्रकर्षात्मा प्रशान्तोरस इत्यलं विस्तरेण । '

-- मूलग्रन्थ प्रशान्त के सम्बन्ध में बताता है --

' निद्दोसमणासमाहाणसंभवो जो पसंतभावेणम् ।
अविकारलक्खणो सो पसंतो रसो णायव्वो ।।
(निर्दोषमनःसमाधानसंभवो यो प्रशान्तभावेन ।
अविकारलक्षण: स रस: प्रशान्त इति ज्ञातव्य ।।)

इसके अतिरिक्त टीकाकार त्यागवीर और तपोवीर—वीर रस के दो श्रेष्ठ प्रकार बताता है, जो युद्धवीर से श्रेष्ठ हैं। कहा जाता है त्यागवीर तपोवीर तथा प्रशान्त अद्भुत, पूर्णहिंसा आदि सूत्र दोष के कारण सृष्ट नहीं होते। अद्भुत अतिशयोक्ति के कारण उद्बुद्ध होता है, जो असत्य का ही प्रकार है। [1]

शान्त रस के सम्बन्ध में इन विभिन्न विचारों के साथ ही उसका काव्य में व्यापक वर्णन हुआ। महाभारत के अतिरिक्त अश्वघोष की रचनाओं में शान्तरस प्रधान रस है। डा० वी० राघवन उन रचनाओं की लम्बी तालिका दी है, जिनमें शान्तरस प्रधान और अंग रूप में वर्णित है। [2]

इस प्रकार सैद्धान्तिक और व्यावहारिक रूप में शान्त की प्रतिष्ठा होने पर भी शान्त रस का पूर्णत: और आंशिक निषेध और खंडन भी किया गया। शान्तरस के विरोधियों के मुख्यत: ये पक्ष थे —

(१) शान्तरस ~~है भी नहीं~~ ही नहीं है, क्योंकि भरत ने इसे रस नहीं माना है।

(२) शान्तरस है भी तो काव्य में, नाट्य में नहीं क्योंकि चूंकि नट में शम नहीं होता और वह शमसाध्य होता है, अत: नाट्य में उसका अभिनय भी नहीं हो सकता।

(३) शान्तरस है, किन्तु उसका अन्तर्भाव किसी भी रस में हो सकता है।

---

१. इन चारों ग्रन्थों के मत उद्धृत — द नम्बर आफ रसाज ले० वी० राघवन, पृ० ५३-५८

२. द नम्बर आफ रसाज, पृ०, ३०-४१

अभिनवगुप्तपादाचार्य ने अभिनव-भारती में इन सभी पक्षों का खंडन कर दिया । इसके स्थायिभाव के सम्बन्ध में भी विभिन्न मतमतान्तर थे । शम, सम्यग्ज्ञान, तृष्णाक्षयसुख, सर्वचित्तवृत्तिप्रशम, निर्विशेष चित्तवृत्ति, धृति, निर्वेद, उत्साह, जुगुप्सा, रति, शेष स्थायिभावों में से कोई स्थायी, आठों स्थायी समुदित रूप से, आत्म या आत्मज्ञान अथवा तत्वज्ञान विभिन्न लोगों के द्वारा स्थायी के रूप में बताये गये । अभिनव ने ज्ञान, आनन्द आदि विशुद्ध-धर्म-योगी परिकल्पित-विषयोपभोगरहित आत्मा को भी इसका स्थायी माना ।

पण्डितराज ने नट में शमाभाव के तर्क का और 'समस्तव्यापारप्रविलयरूप'[1] शम के अभिनय के असंभव होने के तर्क को खंडित कर दिया । नाट्य में गीत, वाद्य आदि विषयानुकूल तत्वों के रहते विषयविमुख शान्त का उद्रेक कैसे होगा ? इस तर्क का उत्तर भी उन्होंने दे दिया कि शान्तानुकूल गीत-वाद्यादि के रसविरोधी होने की कल्पना फल बलात् काल्पनिक हो जाती है । इस प्रकार अभिनवगुप्त मम्मट आदि का अनुसरण करते हुए नवम रस शान्त को मान कर उन्होंने 'संगीतरत्नाकर' की भी शैली में शान्त के विरोधियों को निर्मूल कर दिया और काव्य ही नहीं नाट्य में भी शान्त को स्वीकार किया ।[2]

रस की संख्या सम्बन्धी बात केवल शान्त रस के स्वीकार से सही समाप्त नहीं हो जाती । भरत के द्वारा कण्ठत: निर्दिष्ट आठ रस और अभिनवगुप्तपादाचार्य आदि महान् व्याख्याताओं के अनुसार उन्हीं के द्वारा संकेत रूप में 'महारस' के रूप में निर्दिष्ट 'शान्तरस' के अलावा और भी

---

१. दशरूपक--धनिक--धनंजय, पृ० ४-३५

२. रसगंगाधर, पृ० ३६-३७

रसों को मूलों में जोड़ने के लिए सतत प्रयास चलता रहा ।

इस दिशा में पहली बार रुद्रट के द्वारा `प्रेयस्` [१] अथवा वात्सल्य रस की चर्चा उठायी गयी । प्रेयस् में कामभावना से रहित सन्तति और मातापिता का प्रेम तथा गुरुजन और औरों लोगों का पारस्परिक प्रेम आ जाता है । उद्भट ने प्रेयस् को अलंकार के रूप में उपस्थित किया है । उद्भट ने प्रेयस् को भावकाव्य माना है और रसवत् अलंकार के समानान्तर रखा है ।[२] भामह और दण्डी की दृष्टि में प्रेयस् `प्रियतराख्यान` अथवा चाटु है ।[३] भामह और दण्डी की दृष्टि में प्रेयस् `प्रियतराख्यान` अथवा चाटु है । किन्तु उद्भट का दृष्टिकोण भिन्न है । उद्भट की दृष्टि में कोई भी भाव प्रेयस् है ।[४] किन्तु मत को बाद में किसी ने नहीं माना । भामह और दण्डी द्वारा कामभावना रहित प्रेम को व्यक्त करने वाली वाणी के रूप में उपस्थित `प्रेयस्` रस के रूप में आया । रुद्रट ने `प्रेयस्` का स्थायी `स्नेह` बताया ।

कामभावनारहित प्रेम के चार विभिन्न पक्षों को उपस्थित किया गया । (१) रुद्रट का मैत्री रूप स्नेह स्थायिभावात्मक प्रेयस् (२) सन्तति और माता-पिता का तथा बड़े लोगों का छोटों के प्रति प्रेम रूप स्थायिभावात्मक वात्सल्य[५] (३) राज और राजकवि के बीच , नेता और अनुचर के बीच आदि के अन्य प्रकार के प्रेम को `प्रीति` के रूप में बताया गया । (४) गुरुजन के प्रति श्रद्धा और देवविषयक रति को `भक्ति` के रूप में ।[६]

---

१. काव्यालंकार, पृ० १२-१-३

२. उद्भट, काव्यालंकारसार संग्रह-- ४-१

३. दण्डी, २।२७५

४. ` एवं भावकाव्यस्य प्रेयस्स्वदिति लक्षणा` व्यपदेश:- प्रतीहारेन्दुराज` काव्यालंकारसार संग्रह, ४-२

५. अथ मुनीन्द्रसंमतो वत्सल:--

` स्फुटं चमत्कारितया` वत्सलं` च रसं विदु: ।

स्थायी वत्सलता स्नेह: पुत्राद्यालम्बनं मतम् ।।`

-- अगले पृष्ठ पर देखें

ये सारे पक्ष 'प्रेयस्' में समाहित थे। दण्डी द्वारा दिये 'प्रेयस्' के उदाहरण में भी केवल 'भक्ति' का पक्ष ही है।

अभिनवगुप्त ने पूर्वपक्ष रूप में भक्ति की नहीं 'श्रद्धा' का भी रस रूप में उल्लेख किया है।[1] दशरूपककार ने भी प्रीति और भक्ति का उल्लेख किया है और उन्हें हर्ष, उत्साह आदि भाव में समाहित किया है।[2] संभवतः कुछ लोग 'स्नेह' को भी रस मानते थे और उसका स्थायीभाव 'आर्द्रता' मानते थे।[3] किन्तु उन्होंने प्रीति, स्नेह, वात्सल्य और ऐसे अन्य रसों का खंडन कर दिया। हेमचन्द्र और शाङ्र्गदेव ने अभिनव के मार्ग का अनुसरण करते हुए, उन्हें रस मानने से इनकार किया और इनका परिगणित भावों में ही अन्तर्निधान कर दिया।[4]

पिछले पृष्ठ का शेष --

५. -साहित्यदर्पण।

"अन्ये तु करुणास्थायी वात्सल्यं दशमोऽपिच।"

-मन्दारमरन्दचम्पू, पृ० १००

कविकर्णपूर गोस्वामी ने यशोदा के कृष्ण विषयक प्रेम को उदाहरण रूप में रखते हुए वात्सल्य का स्थायी 'ममकार' को माना है।

'अत्र ममकारः स्थायी।'

अलंकारकौस्तुभ, पृ० - १४२

६. 'तत्ररतिर्यथा

'चेतोरञ्जकता सुखभोगानुकूल्यकृत्।

सा प्रीति-मैत्री-सौहार्द-भावसंज्ञांचगच्छति।।'

अलंकारकौस्तुभ, पृ० १२४

---

१. काव्यालंकार, १२-१-३

२. उद्भट--काव्यालंकारसारसंग्रह--४-१

३. दण्डी--२।२७५

४. 'एवं भावकाव्यस्य प्रेयस्स्वमिति लक्षणम्, काव्यालंकार सारसंग्रह-४-२

इसी तरह अभिनव गुप्त ने 'गर्ध' स्थायिभावात्मक 'लौल्य' रस को भी अस्वीकार कर भाव, रति अथवा अन्य में पर्यवसान की सम्मति दी ।[१]

धनंजय ने 'मृगया' और 'अक्ष' आदि रस का भी उल्लेख कर करके हर्ष और उत्साह आदि में अन्तर्भाव किया है ।[२]

यह उल्लेख बताता है कि रस के सम्बन्ध में कितना दृष्टि विभ्रम लोगों में हो गया और रस 'चित्तवृत्ति' के धरातल से उतर कर मात्र किसी विचार और व्यापार के धरातल पर लाया जाने लगा । सच बात तो यह है कि यह दृष्टिकोण कोई नया दृष्टिकोण नहीं है । भट्ट लोल्लट के मत में रस अनन्त्य है ।[३] उनके इसी मत को स्वीकार कर रुद्रट ने सारे भावों को ही रस कोटि तक पहुँचने का लाइसेन्स दे दिया । उनके इसी अभिप्राय को टीकाकार नमिसाधु ने भी स्पष्ट किया है ।[४] भोज ने परमार्थतः एक ही रस मानते हुए भी उपचारात् कुल उनचास भावों में रसव्यवहार भी माना है । भोज ने रसों की गणना करते हुए पहले आठ ही रस बताये किन्तु फिर 'प्रेयस' और 'शान्त' इन पहले के कथित रसों को लेते हुए 'उदात्त' और 'उद्धत' इन दो नवीन रसों को और जोड़ दिया । इस तरह चारों प्रकार के नायकों के लिए अलग अलग रस की व्यवस्था कर ली ।[५]

रामचन्द्र-गुणचन्द्र ने अन्य रसों की संभावना व्यक्त करते हुए लौल्य और स्नेह के अलावा तीन नये रसों की संभावना की —

---

१. अभिनव भारती, नाट्यशास्त्र, पृ० ३४२

२. दशरूपक, पृ० ४-८३

३. अभिनव भारती, नाट्यशास्त्र, पृ० ३४१

४. रुद्रट — १२, ३ तथा इस पर नमिसाधु की टीका

५. भोज—सरस्वतीकण्ठाभरण, ५-१४, ५-१६४

" आसक्तिस्थायिव्यसनम् , अरतिस्थायिदुःखम् ,
संतोषस्थापि सुखमित्यादि ।। [1]

रसान्वेषणा के इस प्रसंग में वैष्णव आचार्यों ने भक्ति रस की नयी व्याख्यायें दीं । भरतनिर्दिष्ट मतों को स्वीकार कर वात्सल्य को भी प्रेयस् तथा स्नेह रस को सत्य रूप में माना । इसके अतिरिक्त 'दास्य' नामक नवीन रस की कल्पना की । पहले है कान्ताविषयक रति - स्थायिभावात्मक श्रृंगार स्थान पर भगवद्रतिस्थायिभावात्मक 'मधुर' सारे रसों का आलवाल रूप माना गया । [2] मधुसूदन सरस्वती ने भी भिन्न प्रकार से व्याख्या करते हुए भक्तिरस को स्वीकार किया । [3]

भानुदत्त ने चित्तवृत्ति को प्रवृत्ति और निवृत्ति द्विप्रकारात्मक मानते हुए निवृत्ति में शान्त और प्रवृत्ति में 'माया' रस बताया । [4] चिरंजीवि भट्टाचार्य ने भी इस रस का विस्तापूर्ण खंडन भी किया । [5] इसके अलावा भानुदत्त ने स्पृहास्थायिभावात्मक कार्पण्यरस की भी चर्चा करते हैं ।

अनुयोगद्वारसूत्र शान्त भयानक के स्थान पर 'व्रीडाहक' रस का उल्लेख करता है । [6]

पण्डितराज जगन्नाथ को रस के सम्बन्ध में ये भ्रान्तियाँ देखने को अवश्य ही मिली होंगी । रस स्वरूप के सम्बन्ध में अभिनवगुप्त पादाचार्य द्वारा

---

१. नाट्य दर्पण, पृ० १६३
२. द नम्बर आफ रसाज, पृ० १२६-१३१
३. भगवद्भक्तिरसायन, पृ० १६२
४. रसतरंगिणी, पृ० (अध्याय ७)
५. काव्यविलास, पृ० १०
६. आगमोदय समिति सीरीज, मुक्तधारी हेमचन्द्र, सं० टीका सहित,
पृष्ठ १३४.

विभिन्न मतों की चर्चा की गयी है। स्वयं पंडितराज ने भी रससम्बन्धी विभिन्न मतों को रख कर सिद्धान्तपक्ष बताया। इसी प्रकार शान्त के सम्बन्ध में भी विवाद का खण्डन उन्होंने किया। इसके बाद एक अन्य महत्वपूर्ण प्रश्न रस की संख्या का उन्होंने उठाया और अपना उस सम्बन्ध में दृढ़मत रखा।

उन्होंने इस प्रश्न को उठाया कि रस नौ ही क्यों है ? यदि उससे अधिक भी मानें जायें, तो क्या हानि है ? उदाहरणार्थ जब भगवद्भक्त लोग भगवान की आराधना में भागवत आदि पुराणों का श्रवण करते हैं, उस समय में जिस `भक्तिरस` का अनुभव करते हैं, वह किसी तरह छिपाया नहीं जा सकता। उस रस के भगवान् आलम्बन हैं, भागवत-श्रवण आदि उद्दीपन व हैं, रोमांच, अश्रुपात आदि अनुभाव हैं और हर्ष आदि संचारीभाव हैं। इसका स्थायीभाव भगवद्विषया रति है। इसका शान्त रस में अन्तर्भाव नहीं हो सकता क्योंकि अनुराग –वैराग्य से विरुद्ध है और शान्त रस का स्थायी वैराग्यात्मक है।

इसका उत्तर उन्होंने प्राचीनों अर्थात् मम्मट आदि के अनुसार ही दिया कि देवादि विषया रति `भाव` ही है।[१] अब कहा जा सकता है कि कामिनीविषयक रति को भी `भाव` कहा जाय या भगवद्विषया रति को स्थायी मानलिया जाय और कामिनी विषया रति को ही व्यभिचारी भाव माना जाय। इसका पण्डितराज ने उत्तर दिया कि भरत आदि मुनियों का कथन ही इसमें प्रमाण है। इसके सम्बन्ध में स्वतंत्रता नहीं चल सकती। अन्यथा पुत्रादिविषया रति को भी, क्यों न स्थायी भाव मान लिया जाय, अथवा जुगुप्सा और शोक आदि को शुद्धभाव ही क्यों न मान लिया जाय। इससे तो सारा दर्शनतंत्र ही आकुल हो जायगा। भरतमुनि के वचन से नियंत्रित रसों की नवत्वगणना भी टूट जायगी अत: यथाशास्त्र ही श्रेयस्कर है।[२]

---

१. काव्यप्रकाश, उल्लास— ४।३५

२. रसगंगाधर, पृ० ३७

पण्डितराज ने दर्शन के व्याकुल होने की जो बात कही है, उसे वे स्वयं देख चुके थे, रस ४६ ही नहीं, अनन्त तक पहुँचाये गये और चित्त वृत्ति रूप भाव ही नहीं, विभाव और अनुभावों को 'रस' मानने का उत्साह सामने ही था। अतः अभिनव, हेमचन्द्र और शार्ङ्गदेव द्वारा प्रीति, स्नेह, वात्सल्य आदि के खंडन पर डा० वी० राघवन् यह कथन निरर्थक है कि —

"This is not a commendable attitude. To have less distinction is no great aim. If it is said that friendship is only a variety of Rati, can we call the Rasa in the association of Rama and Sugriva, Sringara. If brotherly attachment again is brought under Rati, is Rasa in the association of Rama and Bharata or Rama and Laksamana, Sringara? If Dharmvira can be call forth to deny Rasatra to Laksamana's attachment to Rama, why should not oppoent of Santa call forth another kind of Vira to deny Rasatva to Santa? Do Abhineva and Hemachandra mean that Friendship, Brotherly attachment, Parental affection and the like are only Bhavas that cannot be nourished into a state of Rasa with attendent accessories. The instnace of Dasaradha's death due to separation from is ample proof for the existence of Vatsalya as a major mood, fit to be developed and fit to be relished."[1]

---

1. The number of Rasas-V.Raghavan- P.111-112.

यह दृष्टिकोण उचित है कि लक्ष्य के अनुसार लक्षण होते हैं, किन्तु सारे भारतीय आस्तिक चिन्तन की आर्षप्रामाण्य और अपनी मौलिक बात को भी आर्षाश्रित रूप में ही व्याख्यात करने की शक्ति या विशेषता रही है। अतःउसी दृष्टिकोण से ही समालोचना उचित होगी। यदि ऐसा क्रान्तिकारी कदम उठाया जाय और रस के वर्णितस्वरूप की परीक्षा आज की जाय तो 'रस' की ही स्थिति पर ही भारी प्रश्नचिह्न लगा है।[२] किन्तु जिस प्रकार वर्तमान जीवन की जटिलताओं का प्रक्षेपण प्राचीन साहित्य के समालोचन में अनुचित है और जिस प्रकार प्राचीन काव्यशास्त्र के मापदण्ड से समसामयिक जीवन से सम्बद्ध साहित्य का या सारे संसार के अखिल युग के अखिल साहित्य का मूल्यांकन अनुचित है उसी प्रकार प्राचीन काव्यशास्त्र पर विचार के प्रसंग में भी अधिक क्रान्तिकारी दृष्टिकोण तभी ठीक होगा, जब हम सारी प्राचीन दृष्टि के प्रति ही पूर्ण परिवर्तित दृष्टिकोण से समालोचना को उद्यत हों।

रस सिद्धान्त पर विचार करते समय ऋषिवचन की संगति पर भी ध्यान अवश्य ही दिया जाना चाहिए[३] अन्यथा 'रस' के बारे में ही मत बदलना पड़ेगा। इसीलिए रसविरोधी आचार्यों ने भरत की संगति के प्रयत्न पुरःसर रस के सम्बन्ध में परिकल्पनाएं कीं। यह उल्लेखनीय है कि अभिनवगुप्त ने शान्तरस की स्थापना के प्रसंग में भरत के अप्रत्यक्ष उल्लेख को अत्यन्त बलवान् प्रमाण के रूप में ही उपस्थित किया। इसलिए शान्तरस के विरोधी आचार्य का प्रथम प्रयास भरत द्वारा शान्तरस अकथन प्रतिपादन होना चाहिए था।

---

१. द नम्बर आफ रसाज़, वी०राघवन, पार्ट ३, पृ० १११-११२

२. ~~प्रशस्ती~~ कोलाजिकल स्टडीज़ इन रसाज़, पृ०

३. 'भरतादिमुनिवचनमेवात्र रसभावत्वादिव्यवस्थापकत्वेन....

देखिए अगले पृष्ठ पर —

अन्तर्भाव का प्रश्न तो बाद में उठता है। इसमें कोई सन्देह होना ही नहीं चाहिए कि राम और सुग्रीव की रति (मित्रविषयिणी) भाव ही है, उसके `शृंगार` होने का प्रश्न ही नहीं है। इसी प्रकार राम और भरत का या राम और लक्ष्मण की परस्पर रति के विषय में भाव के सिवा अन्य क्या होगा ? निश्चित ही कर्तव्यपालनोत्साही लक्ष्मण के वर्णन प्रसंग में धर्मवीर होगा। मैत्री, भ्रातृस्नेह, वात्सल्य के रसत्वकोटि तक पहुंचने के सम्बन्ध में अस्वीकृति का ही दूसरा नाम इन्हें `भाव` कहना है। इसके साथ ही यह भी स्पष्ट है कि `रस` और `भाव` की आस्वादकोटि में इतना न्यून अन्तर है कि दोनों ही ध्वनिकाव्य माने गये हैं। राम के वियोग में दशरथ का मरण `वात्सल्य` के रसत्व का प्रमाण नहीं है, सन्ततिप्रेम की गहनता का प्रमाण है।

वस्तुत: रसत्व के निर्णय में `मुनिवचन` का प्रामाण्य ही निर्णायक है, यही दृष्टिकोण पण्डितराज का रहा है। इस दृष्टिकोण द्वारा रस को समाप्त करने की उनकी चेष्टा संस्कृत साहित्य शास्त्र को बड़ा योगदान है।

यह बात सही है कि व्यभिचारी भावों के सम्बन्ध में भरतवचन की पवित्रता की उतनी परवाह नहीं की गयी और यह भी सही है कि भरत के कथन में संशोधन की गुंजायश है।[१] किन्तु यह भी महत्वपूर्ण है कि मौलिक

पिछले पृष्ठ का शेष -

स्वतन्त्र्यागोत्तु अन्यथा पुत्रादिविषयाया अपि रते: स्थायिभावत्वं कुतो न स्यात्। न वा स्याद्धा कुत: शुद्ध भावत्वं जुगुप्सादीनाम्, इत्यखिल दर्शनबवैयाकुली स्यात्।`

— रसगंगाधर- पृ० ५७

---

१. द नम्बर आफ रसाज़, ले० वी० राघवन, पृ० १५८-१५९

मानते करते समय आचार्यों ने आर्षवचन की संगति बिठाने का प्रयास किया है। इसका अपवाद व्यभिचारियों की वृद्धि में मिलना संभव है, किन्तु इससे प्राचीन आचार्यों की एक सामान्य मान्यता का उच्छेद नहीं होता।

रस और स्थायीभाव

पूर्वोक्त रसों के स्थायीभावों का वर्णन करते हुए पंडितराज ने रति, शोक, निर्वेद, क्रोध, उत्साह, विस्मय, हास, भय और जुगुप्सा स्थायीभावों का नाम लिया। इन स्थायीभावों और रसों का परस्पर अन्तर उन्होंने पूर्ववर्णित कुछ प्रमुख मतों के अनुसार बताया।

प्रथम और द्वितीय मत के अनुसार जिस प्रकार घट और घटाकाश का अन्तर है, वही अन्तर रस और स्थायी में है अर्थात् आनन्दस्वरूप रस की उपाधिभूत रति आदि स्थायीभाव हैं।

तृतीयमत के अनुसार वास्तविक रजत और कल्पित रजत की ही भांति स्थायी और रस में भेद है। स्थायी वास्तविक रजत के समान हैं और रस कल्पित रजत स्थानीय हैं।

चतुर्थ मत में विषय और ज्ञान में जो अन्तर है, विषयरूप रत्यादि और ज्ञानात्मक रस में भी वही अन्तर है :—

' रसेभ्य: स्थायिभावानां घटादेघटाद्यवच्छिन्नकाशादिव प्रथमद्वितीयमतयो:- सत्यरजतस्यानिर्वचनीयरजतादिव' तृतीये विषयस्य (रजतादे :) ज्ञानादिवचतुर्थे भेदो बोध्य ।'[1]

---

1. रसगंगाधर, पृ० ३७

रत्यादि की स्थायिता क्यों ? :—

यह बात विचारणीय रही है कि रति आदि भावों को स्थायीभाव क्यों कहा गया ? पण्डितराज ने यही पक्ष ग्रहण किया है कि आस्वादि में समाप्तिपर्यन्त स्थायी रहने के कारण इनका नाम 'स्थायी' पड़ा है। किन्तु यह बात यहाँ पर उठती है कि ये भाव 'चित्तवृत्ति' रूप हैं, अतः क्षणास्थायी हैं, इनका स्थिर होना दुर्लभ है, यदि वासनारूप में स्थिरता ग्रहण की जाये तो उस प्रकार की स्थिरता तो व्यभिचारी भावों में भी विद्यमान रहती है और तब तो वे भी स्थायी हैं। इसका उत्तर यह दिया गया कि इन 'इन वासनारूप स्थायी भावों का बार बार अभिव्यक्त होना ही स्थिर पदार्थ है। व्यभिचारी भावों में यह बात नहीं होती। वे एक प्रकट होकर तिरोहित हो जाते हैं। वे विद्युत् के द्योतन की भाँति ही अस्थिर होते हैं। पण्डितराज ने इस सम्बन्ध में दशरूपककार द्वारा प्रवर्तित मार्ग को ही स्वीकार किया। उन्होंने उद्धृत किया —

" विरुद्धैरविरुद्धैर्वा भावैर्विच्छिद्यते न यः ।
आत्मभावंनयत्याशु स स्थायी लवणाकरः ।।
चिरं चित्तेऽवतिष्ठन्ते सम्बध्यन्तेऽनुबन्धिभिः ।
रसत्वं ये प्रपद्यन्ते प्रसिद्धाःस्थायिनोऽत्र ते ।।" [१]

तथा—

" सजातीयविजातीयैरतिरस्कृत मूर्तिमान् ।
यावद्रसं वर्तमानः स्थायीभाव उदाहृतः ।।"

दशरूपककार ने स्थायी को समुद्र की भाँति माना जहाँ विरोधी पुनः पुनः अभिव्यक्त होता है और बीच बीच में विद्युद्द्योतप्राय व्यभिचारी चमक कर भी उसे पुष्ट ही करते हैं।

---

१. दशरूपक, ४।३४

साहित्यदर्पणकार ने स्थायी की परिभाषा की —

" अविरुद्धा विरुद्धा वा यं तिरोधातुमक्षमा: ।
आस्वादाङ्कुरकन्दोऽसौ भाव: स्थायीति संमत: ।।" [१]

किन्तु इस प्रसंग में यह विचारणीय है कि वैदान्तियों के अनुसार कोई भी चित्तवृत्ति, उसके विरुद्ध चित्तवृत्ति उत्पन्न होने तक स्थिर रहती है । यदि यह मत स्वीकार कर लिया जाय, तो स्थिर पद का अर्थ बार बार अभिव्यक्त होना " करना पड़ेगा । "विरुद्धैरविरुद्धैर्वा" आदि कारिका में "विरुद्ध" का आशय "लौकिक दृष्टि से विरुद्ध" ही है । काव्य में तो " अयं स रसनोत्कर्षी" आदि स्थलों पर विरुद्धभाव" रति" आदि भी "शोक" आदि के पोषक ही होते हैं । अन्यथा ऐसे स्थलों पर प्रतिकूल विभावादिग्रहण रूप दोष होगा, जो किसी को सम्मत नहीं है । [२]

स्थायी की परिभाषा करते हुए यह परिभाषा नहीं की जा सकती " रति आदि नौ में से एक होना ।" क्योंकि रत्यादि में से भी एक के अधिक विभावादि द्वारा प्रवृद्ध होने पर इन्हीं में से अन्य उसका व्यभिचारी हो सकता है । अतएव "संगीतरत्नाकर" ने निर्देश किया कि " भूयिष्ठविभावज होने पर रत्यादि स्थायी होते हैं, किन्तु वे ही अल्प विभावों से उत्पन्न होने पर व्यभिचारी हो जाते हैं ।" [३]

अतएव वीर रस प्रधान होने पर क्रोध, रौद्र में उत्साह, शृंगार में हास व्यभिचारी होता है । बिना क्रोध आदि के वीर आदि रहते भी नहीं, यह

---

१. साहित्यदर्पण, ३।१७४

२. महामहोपाध्याय गंगाधर शास्त्री, रसगंगाधर, पृ० ५३-५४

३. शार्ङ्गदेव— संगीतरत्नाकर— ७।१५१९— २०

स्पष्ट है । जब प्रधान रस को पुष्ट करने के लिए उस अंगभूत भाव क्रोध आदि को भी अधिक विभावों से व्यक्त किया जाता है, तो वह 'रसालंकार' हो जाता है ।

रति आदि स्थायी भावों, विभावों, अनुभावों तथा व्यभिचारी भावों के लक्षण और उदाहरणों को भी पंडितराज ने प्रस्तुत किया है ।[१]

रसों के अवान्तर भेदों की चर्चा करते हुए निश्चय ही उन्होंने कुछ नयी और मौलिक उद्भावनाएं कीं । उन्होंने शृंगार को संयोग और विप्रलम्भात्मक दो प्रकार का मानते हुए भी, इस बात को अस्वीकार किया कि 'सामानाधिकरण्य' संयोग अथवा 'वैयधिकरण्य' वियोग है । वस्तुत: एक अधिकरण होने पर भी वियोग और भिन्न स्थान पर रहने पर भी संयोग की अनुभूति हो सकती है । अत: संयोग और वियोग अनुभूति है, चित्तवृत्ति है । मैं संयुक्त हूं, मैं वियुक्त हूं ऐसी चित्तवृत्ति ही संयोग और वियोग है ।

'संयोगश्च न दम्पत्यो: समानाधिकरणम् .... एवं वियोगोऽपि न वैयधिकरण्यम्, दोषस्यो तत्वात् । तस्मात्तादृशौ संयोगवियोगाख्यावन्त:करणवृत्तिरूपौ । यत्संयुक्तो वियुक्तश्चास्मीति धी: ।'[२]

पंडितराज ने प्राचीनों के इस मत को स्वीकार नहीं किया कि विप्रलम्भ प्रवास, अभिलाष, विरह और ईर्ष्या आदि विभिन्न कारणों के कारण ही भिन्न रूप हो जाता है । वस्तुत: यह कैसे स्वीकार्य हो सकता है कि प्रवास आदि के कारण ही चित्तवृत्ति स्वरूप विप्रलम्भ में कोई वैशिष्ट्य आ जाय । उनका स्पष्ट मत है :—

---

१. रसगंगाधर, पृ० ४१

२. रसगंगाधर, पृ० ४२

" ते च प्रवासाभिलाषविरहेर्ष्याशापानां विशेषानुपलम्भान्नास्माभिः प्रपंचिताः ।" [१]

पण्डितराज ने 'वीर' रस के अवान्तर भेदों की चर्चा करते हुए महत्त्वपूर्ण उपलब्धि करायी । 'वीर रस' में दान, दया, युद्ध और धर्म इन चार निमित्तों के कारण उत्पन्न 'उत्साह' स्थायी में वैशिष्ट्य के कारण कृत प्राचीन भेदों को पण्डितराज ने भी स्वीकार किया किन्तु वस्तुतः वीर के बहुतेरे भेद हो सकते हैं जैसे 'सत्यवीर' का 'धर्मवीर' में अन्तर्भाव हो सकता है, तब तो दान और दया का भी धर्म में अन्तर्भाव हो सकता है । इसी तरह पांडित्य, क्षमा, बलवीर आदि भेद हो सकते हैं ।

पंडितराज ने रसों के और भावों के स्वरूप एवं भेदों पर विस्तृत विचार किया । उन्होंने प्राचीन आलंकारिकों के चिन्तन का उपयोग किया । उन पर सर्वाधिक प्रभाव शार्ङ्गदेवरचित संगीत रत्नाकर के सप्तम अध्याय [२] में किये विवेचन का पड़ा ।

हास्यरस के विभेदप्रतिपादन के लिये उन्होंने संगीतरत्नाकर से लम्बा उद्धरण किया है ।

हास और जुगुप्सा का आश्रय --

रति, क्रोध, उत्साह, भय, शोक, विस्मय और निर्वेद में आलम्बन और आश्रय दोनों की ही प्रतीति होती है । यदि शकुन्तला से दुष्यन्त के प्रेम को लें, शकुन्तला रति का आश्रय है और दुष्यन्त आश्रय । किन्तु हास और जुगुप्सा में इन दोनों की पृथक प्रतीति नहीं होती , क्योंकि इनमें आलम्बन

---

१. रसगंगाधर, पृ० ४२

२. संगीतरत्नाकर, पृ० ३९७-४७१.

की ही प्रतीति होती है, आश्रय का वर्णन नहीं होता। यदि पद श्रोता अथवा दर्शक को आश्रय माना जाय, तो यह ठीक नहीं, क्योंकि वह तो रस के आस्वाद का आधार होता है, वह लौकिक हास और जुगुप्सा का आश्रय कैसे हो सकता है? इसके लिए दो समाधान हैं। प्रथम, कि हास और जुगुप्सा के आश्रय का आक्षेप कर लिया जाना चाहिए। दूसरा यह भी हो सकता है कि जिस तरह स्वकान्ता विषयक काव्य से रस का उद्बोध हो जाता है और लौकिक रति तथा रस दोनों का आधार एक ही है, उसी तरह यहां भी लौकिक भाव और रस के आश्रय को एक मान लेने में कोई बाधा नहीं है।[१]

रसालंकार:—

इन रसों के प्रधान होने पर, इनके कारण, काव्य को 'रसध्वनि' कहते हैं। दूसरों की अपेक्षा गौण होने पर इन्हें 'रसालंकार' कहा जाता है। आचार्य आनन्दवर्धन ने इसका स्पष्ट निर्देश किया है —

" प्रधाने यत्र वाक्यार्थे यत्रांगं तु रसादय: ।
काव्ये तस्मिन्नलंकारो रसादिरिति मेमति: ।। "[२]

कुछ लोगों के अनुसार जब ये प्रधान हों, तभी इन्हें रस कहा जाना चाहिए, अन्यथा ये अलंकार मात्र होते हैं, इनमें रस कहलाने की योग्यता ही नहीं होती। तथापि जो लोग इन्हें 'रसालंकार' कहते हैं, वह उसी प्रकार जैसे 'अलंकार ध्वनि' का व्यवहार होता है। आशय यह है कि अलंकार उसे कहते हैं जो शोभाधायक होता है, जो स्वयं शोभित किया जाता है वह तो अलंकार्य है। ध्वन्य अर्थ तो स्वयम् 'अलंकार्य' होता है, उसे 'अलंकारध्वनि' नाम कैसे दिया जा सकता है।[३] इसका समाधान आचार्यों ने ब्राह्मणश्रमण

---

१. रसगंगाधर, पृ० ५५-५६
२. ध्वन्यालोक — २।५
३. काव्यप्रकाश, पृ० २१७

न्याय' से व्यवहार बताया है ।[१] जिस प्रकार कोई ब्राह्मण श्रमण की दीक्षा लेकर 'श्रमण' बन जाता है, उसका 'ब्राह्मणत्व' तब समाप्त हो जाता है, किन्तु पहले के ब्राह्मणत्व के कारण लोग 'ब्राह्मण' कहते हैं, उसी प्रकार कभी 'अलंकारत्वेन' स्थित; किन्तु सम्प्रति 'अलंकार्य त्वेन' दृश्यमान अर्थ में भी अलंकारध्वनि का व्यवहार होता है । यही न्याय 'रसालंकार' के सम्बन्ध में भी है ।[२]

असंलक्ष्यक्रमव्यंग्यता:—

ये रस असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य कहलाते हैं, क्योंकि सहृदय को जब सच्चा 'रस' का आस्वादन होता है, उस समय यद्यपि विभाव, अनुभाव और व्यभिचारीभावों के विमर्श का क्रम रहता है, तथापि जिस तरह शतपत्र कमल के सौ के सौ पत्रों को सूई से वेधते समय यह पता नहीं चलता कि कौन कब विंधे, उसी प्रकार यहाँ भी शीघ्रता के कारण यह क्रम विदित नहीं हो पाता । किन्तु यह समझना उचित नहीं है कि ये बिना क्रम के ही व्यंग्य हैं, इनका और व्यंजक विभावादि का कोई क्रम नहीं है, क्योंकि ऐसा हो, तो रस की अभिव्यक्ति का और अभिव्यक्ति के कारणों का कार्यकारणभाव ही न बन सके । अर्थात् विभावादि का रस के कारणरूप होना ही निर्मूल हो जाय, जो कि प्रतीति के सर्वथा विरुद्ध है ।

रसों का परस्परविरोधाविरोध:—

इन रसों का आपस में किसी के साथ विरोध है और किसी

---

१. काव्यप्रकाश, पृ० २१७

२. रसगंगाधर, पृ० ५६

३. रसगंगाधर, पृ० ५६

के साथ अनुकूलता । वीर और शृंगार, शृंगार और हास्य, वीर और अद्भुत वीर और रौद्र एवं शृंगार तथा अद्भुत का परस्पर विरोध नहीं है । शृंगार ~~अद्भुत~~ और वीभत्स, शृंगार और करुणा, वीर और भयानक, शान्त और रौद्र एवं शान्त और शृंगार का विरोध है । रस को अच्छी तरह पुष्ट करने के लिए यह आवश्यक है कि उसके विरुद्ध रस का निबन्धन न किया जाय विरोधी रस के अंगों का वर्णन करने पर वह प्रस्तुत रस को बाधित करता है अथवा 'सुन्दोपसुन्दन्याय' से दोनों के ही नष्ट होने का खतरा रहता है ।

' तत्र कविना प्रकृतरसं परिपोष्टुकामेन तदभिव्यंजके काव्ये तद्विरुद्धरसानां निबन्धनं न कार्यम् । तथा हि सति तदभिव्यक्तो विरुद्धः प्रकृतं बाधेत । सुन्दोपसुन्दन्यायेन वोभयोरुपहतिः स्यात् ।'

आचार्य आनन्दवर्धन ने भी रस विरोध के प्रसंग का गंभीर विवेचन किया है ।[१] उन्होंने रस विरोध पर दृष्टिपात करते हुए बताया कि विरोधी उपकरणों का उपादान, विप्रकृष्टसम्बन्ध वाली वस्तु का सविस्तर वर्णन, अकाण्डविच्छेद और अनवसर में विस्तार, पुनः पुनः दीपन, व्यवहार का अनौचित्य आदि रसाभिव्यंजक तत्व के विरोधी हैं । उन्होंने रसों के परस्पर अंगांगिभाव का निरूपण करते हुए परस्परविरोध अविरोध की भी चर्चा की —

' ननु येषां रसानां परस्पराविरोधः यथा वीरशृंगारयो-र्वीराद्भुतयोर्वीररौद्रयोः रौद्रकरुणयोः शृंगाराद्भुतयोर्वा तत्र भवत्वंगांगिभावः, तेषां तु कथं भवेद् येषां परस्परं बाध्यबाधकभावः यथा शृंगारबीभत्सयोर्वीरभ-यानकयोः शान्तरौद्रयोः शान्तशृंगारयोर्वा ।'[२]

साहित्यदर्पणकार ने भी रसविरोधाविरोध की त्रिधा

---

१. ध्वन्यालोक— ३।१७-३०

२. ध्वन्यालोक— ३।२३ वृत्ति

व्यवस्था की —कोई एक आलम्बन में विरुद्ध होते हैं, कोई आश्रयैक्य में और कोई व्यवधान के बिना। आगे-पीछे होने पर विरुद्ध होते हैं। उनमें वीर और शृंगार एवं आलम्बन में विरुद्ध होते हैं। इसी प्रकार हास्य,.रौद्र, वीभत्स के साथ संभोग शृंगार का आलम्बनैक्य में विरोध होता है, और वीर, करुणा, रौद्र का विप्रलम्भ से। आश्रयैक्य में वीर और भयानक का नैरन्तर्य और विभावैक्य में शान्त-शृंगार विरुद्ध होते हैं। वीर, अद्भुत और रौद्र से तीनों प्रकार से विरोध नहीं है। शृंगार का अद्भुत से, भयानक का वीभत्स से। अत: वीर तथा शृंगार का आलम्बन भिन्न होने पर कोई विरोध नहीं है। इसी तरह वीर के नायकनिष्ठ और भयानक के प्रतिनायकनिष्ठ होने पर कोई विरोध नहीं है।[१]

साहित्यदर्पण ने रसों के समूहालम्बनात्मक पूर्णघनानन्द होने के कारण उनके परस्पर विरोध, उपमर्द और अांगिभाव पर प्रश्न चिह्न लगाया? उन्होंने उत्तर दिया कि अप्रधान रस में पूर्ण विश्रान्ति नहीं होती। अत: प्राचीनों द्वारा ऐसे अपूर्ण रस-भाव को 'संचारी रस' और चण्डीदास द्वारा खंड रस के व्यवहार का उल्लेख किया है।[२]

पण्डितराज ने आनन्दवर्धन और विश्वनाथ के समस्त विवेचन का उपयोग करते हुए स्पष्टतापूर्वक प्रश्न उठाये और उत्तरित किये।

विरुद्ध रसों का समावेश—

यदि विरुद्ध रस का एक स्थान पर समावेश करना ही हो, तो विरोध का परिहार करके करना चाहिए। विरोध दो प्रकार का होता है—

---

१. साहित्यदर्पण, पृ० २६२-२६३

२. साहित्यदर्पण, पृ० २६२

(क) स्थिति विरोध (ख) ज्ञान विरोध । स्थिति विरोध का अर्थ है एक ही आधार में दोनों का न रह सकना । ज्ञान विरोध का अर्थ है, एक के ज्ञान से दूसरे के ज्ञान का बाधित हो जाना: जिन दो रसों का ज्ञान एक दूसरे का प्रतिद्वन्द्वी हो उनमें ज्ञान विरोध होता है । उनमें से पहला रस को दूसरे आधार में स्थापित कर देने से निवृत्त हो जाता है । जैसे यदि नायक में वीर रस का वर्णन करना हो, तो प्रतिनायक में भयानक का वर्णन करना चाहिए ।

यह स्मरणीय है कि इस प्रकरण में 'रस' पद से रसों के उपाधिरूप स्थायीभावों को ग्रहण किया गया है, क्योंकि रस तो सहृदयों में रहता है, नायक आदि में नहीं । इसके अतिरिक्त दूसरी बात यह है कि रस अद्वितीय आनन्दमय है, अर्थात् जब उसकी प्रतीति होती है तब अन्य किसी की प्रतीति होती ही नहीं, इस स्थिति में उसके विरोध की बात ही गलत है ।

किन्तु 'रस' का आशय है 'स्थायी भाव' । पंडितराज ने स्पष्ट कहा है :-

"रसपदेनात्र प्रकरणे तदुपाधि: स्थायिभावो गृह्यते ।"

अत: इसी आशय से स्थितिविरोध के परिहार के साथ ही 'ज्ञानविरोध' भी परिहृत हो सकता है । 'ज्ञान विरोध' भी, जो रस दोनों का विरोधी न हो, उसे संधिकरने वाले की तरह विरुद्ध रसों के बीच में स्थापित कर देने से निवृत हो जाता है । जैसे शान्त और शृंगार के वर्णन के प्रसंग में बीच में अद्भुत का सन्निवेश कर दिया जाय । इस तरह स्पष्ट है कि मध्य में उदासीन रस का आस्वादन होने से अवरोधक ज्ञान की निवृत्ति हो जाती है और इस कारण जिसको रोक दिया जा सकता था, उस रस का आस्वादन निर्विघ्नता से हो जाता है । [१]

---

१. रसगंगाधर, पृ० ५८

अन्य प्रकार से विरोध का परिहार—

यदि एक रस दूसरे रस भाव आदि का अंग हो गया हो, अथवा दोनों रस किसी अन्य रस, भाव आदि के अंग हो गये हों, तो उनमें विरोध नहीं रहता क्योंकि यदि वे विरुद्ध रहें तो अंग कभी नहीं बन सकते।

विरोधी रस के वर्णन की आवश्यकता —

वस्तुतः प्रकरण प्राप्त रस को अच्छी तरह पुष्ट करने के लिए विरोधी रस का बाधित करना उचित है, अतः उसका वर्णन अवश्य करना चाहिए, क्योंकि ऐसा करने से, जिस रस का वर्णन किया जा रहा है, उसकी शोभा, वैरी पर विजय कर लेने के कारण अनिर्वचनीय हो जाती है।

रसों और भावों की बाध्यता का अर्थ —

पण्डितराज का मत है कि प्राकरणिक रस के बाधित किये जाने का अर्थ है, विरोधी रस के अंगों के प्रबल होने के कारण अपने अंगों के विद्यमान होने पर भी रस की अभिव्यक्ति, रुक जाना। किसी रस के अभिव्यक्त होने की सामग्री होने पर भी, दूसरे रस की सामग्री के प्रबल होने के कारण उसके अभिव्यक्त न होने का नाम है, रसका बाधित होना। "बाध्यत्वं च रसस्य प्रबलैर्विरोधिनो रसस्यांगै विद्यमानेष्वपि स्वांगेषु निष्पत्तेः प्रतिबन्धः।"[१] पर व्यभिचारी भावों के बाध्य होने का अर्थ है कि उनके द्वारा जिस रस की अभिव्यक्ति होनी चाहिए थी, उसका न होना, न कि व्यभिचारी भावों की ही अभिव्यक्ति का न होना, क्योंकि व्यभिचारी भावों की अभिव्यक्ति का बाधक कोई नहीं है। यह नहीं कहा जा सकता कि विरोधी रस के अंग रूप भावों की अभिव्यक्ति होने से रुकावट हो जायगी और इस कारण

---

१. रसगंगाधर, पृ० ६१

प्रस्तुत भावों की अभिव्यक्ति न हो सकेगी, क्योंकि जिस समय प्रस्तुत भावों को अभिव्यक्त करने वाले शब्दों और अर्थों का ज्ञान होगा, उस समय विरोधी रस के अंगरूप भावों को अभिव्यक्त करने वाले शब्दों और अर्थों का ज्ञान नहीं रह सकता। अत: एक दूसरे को प्रतिबध्य-प्रतिबन्धक मानने में कोई प्रमाण नहीं है। दूसरे यदि ऐसा मान लिया जाय तो विरोधी भावों का एक पद्य में एकत्र होना, जिसे भावशबलता कहते हैं, सर्वथा उच्छिन्न हो जाय जब कि भावशबलता सर्वसम्मत है। रस की अभिव्यक्ति का रुकजाना तो अनुभवसिद्ध है, अत: विरोधी रस के प्रबल अंगों के अभिव्यक्त होने से रस की अभिव्यक्ति का ही प्रतिबन्ध मानना उचित है, व्यभिचारी भावों का नहीं। जहां एक से विशेषणों के प्रभाव से दो विरुद्ध रस अभिव्यक्त हो जाते हैं, वहां भी उनका विरोध निवृत्त हो जाया करता है।[१]

रस वर्णन में दोष —

हमने संकेत किया है कि आचार्य आनन्दवर्धन ने रसाभिव्यंजन के विरोधी तत्वों का आकलन किया है। उन्होंने सावधान किया —

" न हि केवलश्रृंगारादिशब्दमात्रभाजि विभावादिप्रतिपादनरहिते काव्ये मनागपि रसवत्त्व - प्रतीति:। "[२]

तथा—

अकाण्ड एव विच्छित्तिरकाण्डे च प्रकाशनम्।
परिपोषं गतस्यापि पौन: पुन्येनदीपनम्।।
रसस्य स्याद्विरोधाय वृत्त्यनौचित्यमेव च। "[३]

पंडितराज ने इन दोषों का विस्तृत और स्पष्ट विवेचन किया

---

१. रसगंगाधर, पृ० ६१, ६२
२. ध्वन्यालोक, ३।४
३ ,, ३।१९

पंडितराज ने निर्देश किया कि रस वर्णन विरोध परिहार पूर्वक किया जाय, किन्तु कुछ दोषों का परिहार आवश्यक है। रसवर्णन में "स्वशब्दवाच्यत्व" बहुत बड़ा दोष है। "रस" अथवा "शृंगार" आदि शब्दों के अभिधान कर देने से रस आस्वादन योग्य नहीं रह जाता। इसीलिए स्पष्ट प्रतिपादित किया गया है कि रस का आस्वाद केवल व्यंजना-वृत्ति से ही होता है।

जहाँ विभावादिकों से अभिव्यक्त "रस" का नाम लेकर वर्णन कर दिया जाय, वहाँ व्यंग्य को वाच्य बना देने से वमन नामक दोष हो जाता है।

ये तो सामान्य दोष हैं। किन्तु रसों का जिस रूप में आस्वादन किया जाता है, वह प्रतीति, वाच्यवृत्ति के द्वारा अर्थात् उन रसों का नाम ले लेने से अभिव्यक्त नहीं हो सकती। अतः जहाँ रसों का वर्णन हो, उस स्थल पर उनका नामतः उल्लेख बन्दर की सी चेष्टा है अर्थात् जिस तरह बन्दर अपने घाव को खोद कर और भी बिगाड़ डालता है, उसी प्रकार इस चेष्टा से भी रसवर्णन और स्वच्छ और अच्छा होने के स्थान पर बिगड़ जाता है। यह रस विषयक विशेष दोष है।

इसी तरह स्थायी और व्यभिचारि भावों का भी अभिधा से वर्णन करना दोष है।

इसी प्रकार विभावों का अच्छी तरह प्रतीत न होना या विलम्ब से प्रतीत होना दोष है। क्योंकि ऐसा करने से रस का आस्वादन "नहीं" हो पाता।

विरोधी रसों के समबल अथवा प्रबल अंगों का वर्णन करना भी दोष है। क्योंकि ऐसा वर्णन जिस रस का वर्णन किया जा रहा, उसके प्रतिकूल है।

किसी भी निबन्ध में जिस रस का वर्णन चल रहा हो, यदि वह किसी दूसरे प्रसंग के कारण विच्छिन्न हो जाय, तो उसको फिर से दीपन करने से "विच्छिन्न दीपन" नामक दोष होता है, क्योंकि मध्य में विच्छिन्न हो जाने के कारण सहृदयों को पूर्णरूप से रसास्वाद नहीं होता

इसी तरह जहां जिस रस के प्रस्तुत करने का अवसर न हो, वहां उसका प्रस्तुत करना और जहां उसे विच्छिन्न न करना चाहिए, वहां विच्छिन्न कर देना दोष है।

इसी प्रकार जिसका प्रधानतया वर्णन न हो, उस प्रतिनायक आदि के विविध प्रकार के चरित्र और अनेक प्रकार की सम्पदाओं को, नायक के चरित और सम्पदाओं से अधिकता का वर्णन करना उचित नहीं, क्योंकि ऐसा करने से नायक के उत्कर्ष का वर्णन, जिसका करना अभीष्ट है, सिद्ध न होगा और उसके कारण होने वाली रस की पुष्टि भी न होगी। प्रतिनायक के उत्कर्ष का वर्णन यदि नायक के उत्कर्ष के वर्णन का अंग हो सके, तो वह वांछित है। पंडितराज ने प्रतिनायक के उत्कर्ष वर्णन के सम्बन्ध में अपना दृढ मत प्रकट किया कि प्रतिनायक के उत्कर्ष का ऐसा वर्णन ही निषिद्ध है, जो नायक के उत्कर्ष के विरुद्ध हो यह तर्क ठीक नहीं है कि प्रतिनायक के उत्कर्ष का चाहे जितना अधिक वर्णन हो, चूंकि नायक उसका बध कर देगा, इसलिए वह नायक के उत्कर्ष को बढ़ा देगा, क्योंकि ऐसा वर्णन उसी प्रकार उचित और उत्कर्षाधायक नहीं हो, जैसे किसी महान् पराक्रमी राजा को जंगल में यदि कोई भील छुपके से विषैले बाण से मार डाले, तो उत्कर्ष को नहीं पा लेगा।

"एवं हि सति महाराजं कमपि विषशरलेप मात्रेण व्यापादितवतो वराकस्य शबरस्यैव प्रकृतस्य नायकस्य न कोऽप्युत्कर्षः स्यात्।[1]

इसी तरह रस के आलम्बन और आश्रय का बीच-बीच में

अब

१- रसगंगाधर ....

अनुसन्धान न हो, तो दोष है, क्योंकि रस के अनुभव की धारा आलम्बन और आश्रय के ही अधीन है, अत: यदि उनका अनुसन्धान न हो, तो वह निवृत्त हो जाती है।

इसी प्रकार जिस वस्तु का वर्णन करने से वर्णन किये जाने वाले रस को कोई लाभ न हो उसका वर्णन प्रस्तुत रसको समाप्त कर डालता है, अत: दोषाधायक है। [1]

अनौचित्य--

रस के सृष्टि के लिए 'औचित्य' के निर्वाह की ओर से आचार्य आनन्दवर्धन ने सावधान किया है। इसका क्षेत्र वर्ण, पद, पदांश, प्रकृति, प्रत्यय, समास आदि शब्द विषय से लेकर विभावादियोजना, देश, काल, आचार आदि की संगतितक व्यापक रूप से विद्यमान है। [2] औचित्य के द्वारा ही काव्य के गुण-दोष, आनुकूल्यआनानुकूल्य आदि की व्यवस्था है, अतएव क्षेमेन्द्र ने इसे काव्य का जीवन बताया। [3]

औचित्य का स्वीकार भरत से लेकर भामह, दण्डी आदि सभी आचार्यों ने प्रत्यक्ष अप्रत्यक्ष रूप से किया। किन्तु 'औचित्य' शब्द का काव्यशास्त्रीय प्रयोग सर्वप्रथम रुद्रट ने किया। [4] आचार्य आनन्दवर्धन ने इसकी

---

१. रसगंगाधर, पृ० ६२-६४
२. व्यक्तिविवेक, पृ० ३७
३. औचित्यविचारचर्चा-- ~~श्लोक~~, ३।५
४. हिस्ट्री आफ औचित्य इन संस्कृत पोयट्री-- 'सम कान्सेप्ट आफ अलंकार शास्त्र--वी० राघवन्

ध्वनिमार्ग के अनुसार प्रतिष्ठा की [१] और अभिनवने भी इसका समर्थन किया ।[२] मम्मट ने भी दोष प्रकरणमें रसाभिव्यंजन में अनौचित्य का विवेचन किया ।[३]

पण्डितराज ने जागरूक ध्वनिवादी की भांति औचित्य सिद्धान्त को स्वीकार किया और उसका सुस्पष्ट विवेचन किया । उन्होंने रसाभिव्यंजन में जो अनुचित है, उसका निर्देश कर उससे बचने के लिए सावधान किया । अनौचित्य का दुष्प्रभाव इतना तीव्र होता है कि उससे साधारणीकरण में भी बाधा पड़ जाती है —

" आलम्बनगतारागाध्यत्वस्यानुभावगतमिथ्यात्वस्य च प्रतीत्या रसानुल्लासापत्तेः । न च साधारणीकरणादाराध्यत्वज्ञानानुत्पत्तिरिति वाच्यम् यत्र सहृदयानां रसोद्बोधः प्रमाणसिद्धस्तत्रैव साधारणीकरणस्य कल्पनात् । अन्यथा स्वमातृविषयकस्वपितृरतिवर्णनेऽपि सहृदयस्य रसोद्बोधापत्तेः । " [४]

जो बातें अनुचित हैं, उनका वर्णन रस के भंग का कारण है अतः उसे तो सर्वथा नहीं आने देना चाहिए । भंग का अर्थ है अटकना अर्थात् पानक रस आदि में जैसे बालू के कण आ जाने से अटकते हैं, उसी प्रकार अटकना । अनुचित का अभिप्राय है जाति, देश, काल, वर्ण, आश्रम, स्थिति और व्यवहार आदि सांसारिक वस्तुओं के विषय में जो लोक और शास्त्र से सिद्ध एवं उचित द्रव्य, गुण, क्रिया आदि हैं, उनका वर्णन न किया जाना ।

जाति आदि के अनौचित्य के कुछ उदाहरण भी पंडितराज ने दिए हैं । जाति के विरुद्ध जैसे बैल और गाय आदि के तेज और बल के कार्य, पराक्रम आदि और सिंह का सीधापन आदि ।

---

१. ध्वन्यालोक— ३।१५, ३२, ३३

२. लोचन, ध्वन्यालोक, पृ० १३

३. काव्यप्रकाश— ४३३— ४४५

४. रसगंगाधर, पृ० ६५

देश के विरुद्ध - जैसे स्वर्ग में वार्द्धक्य, रोग आदि और पृथ्वीपर अमृतपान आदि। काल के विरुद्ध:-जैसे ठंढ के दिनों में जल-विहार आदि और गरमी के दिनों में अग्नि सेवा आदि।

वर्ण के विरुद्ध:-जैसे - ब्राह्मण का शिकार खेलना, क्षत्रिय का दान लेना और शूद्र का वेद पढ़ना। आश्रम के विरुद्ध-जैसे ब्रह्मचारी और सन्यासी का ताम्बूल ग्रहण और स्त्री को स्वीकार करना। अवस्था के विरुद्ध, जैसे बालक और वृद्ध का तरुणीराग और युवक का विराग।

स्थिति विरुद्ध- जैसे निर्धनों का धनिकों जैसा आचरण और धनिकों का दरिद्रों जैसा आचरण।

नायक दिव्य, अदिव्य और दिव्यादिव्य प्रकृति के होते हैं। इसी तरह उनके प्रकृतियों के दूसरे भेद धीरोदात्त, धीरललित, धीर प्रशान्त और धीरोद्धत हैं। ये बारह प्रकार के नायक उत्तम, मध्यम और अधम भेद से ३६ प्रकार के होते हैं।

इनमें यद्यपि भय के अतिरिक्त अन्य सारे स्थायी भाव समान होते हैं, तथापि संयोगरूप रति का जिस तरह मनुष्यों के विषय में वर्णन किया जाता है। उसी तरह सारे आलिंगन, चुम्बनादि अनुभावों को स्पष्ट कर के उत्तम देवताओं के विषय में वर्णन करना अनुचित है। इसी तरह संसार को भस्म कर देने का तथा दिन-रात को बदल देने आदि विस्मय जनक बल वाले क्रोध का जिस तरह दिव्य नायकों के सम्बन्ध में वर्णन होता है, वैसा मनुष्य आदिकों के सम्बन्ध में अनुचित है, क्योंकि दिव्यों में पूज्यताबुद्धि के कारण यह प्रतीति बाधित नहीं होती किन्तु नायकों में अनुभावगत मिथ्यात्व प्रतीति के कारण रस विकसित ही नहीं होगा. यह कहा जाये कि रसाभिव्यक्ति के पूर्व साधारणीकरण हो जाने से उनमें पूज्यता बुद्धि उत्पन्न ही नहीं होगी, तो ठीक नहीं, क्योंकि जहां सहृदयों को रस का उद्बोध प्रमाण सिद्ध है, उन्हीं नायक-नायिका आदि में साधारणीकरण का कल्पन है। अन्यथा स्वमातृपितृविषय रति वर्णन में भी रसका उद्बोध होने

लगेगा ।

पंडितराज ने इस दृष्टि से जयदेव आदि पर सकल-सहृदय-संमत इस परंपरा को तोड़ने के कारण मदोन्मत्त मतंगज के व्यवहार का आरोप लगाया है और कहा कि उनके अनुकरण पर आधुनिकों को ऐसा नहीं करना चाहिए ।

" जयदेवादिभिस्तु गीतगोविन्दादिप्रबन्धेषु सकलसहृदयसंमतोऽयं सम्प्रदायो मदोन्मत्तमतंगजैरिव भिन्न इति न तन्निदर्शनेनेदानीन्तनेन तथा वर्णयितुं साम्प्रतम् ।"

इसी प्रकार जो विद्या, अवस्था, वर्ण आश्रम, तप आदि के कारण अत्यन्त उत्कृष्ट हों, उन्हें अपने से अपकृष्ट के साथ बहुत आदरास्पदत्व वचन का व्यवहार नहीं करना चाहिए, पर अपकृष्टों को उत्कृष्टों के साथ सबहुमान व्यवहार करना चाहिए । इसमें 'तत्रभवान्' 'भगवान्' आदि संबोधनों से गुरु, मुनि और देवता आदि का संबोधन होना चाहिए, राजादि का नहीं । ये संबोधन भी जाति से उत्तम द्विजों द्वारा ही व्यवहृत होने चाहिए, शूद्रादि द्वारा नहीं । इसी तरह 'परमेश्वर' आदि संबोधन से चक्रवर्ती का ही सम्बोधन होना चाहिए, मुनि आदि का नहीं । अतएव ध्वन्यालोक में कहा गया है — " अनौचित्य के अतिरिक्त रसभंग का कोई कारण नहीं है और औचित्यपूर्ण वर्णन ही रसका उपनिषत् है ।"[१]

किन्तु जितने अनौचित्य के वर्णन से रस की पुष्टि हो, वह तो करना ही चाहिए । विभिन्न मानसिक स्थितियों और विभिन्न चरित्रों के अंकन में 'अनौचित्य' ही स्वाभाविक होता है, अतः वहां उतना अनौचित्य का वर्णन रस में सहायक होगा ।[२]

---

१. ध्वन्यालोक—परिच्छेद ३—कारिका—१५

२. रसगंगाधर, पृ० ६४-६६

पंडितराज ने औचित्य के निर्देश देने में औचित्य सम्बन्धी कुछ मौलिक मान्यताएं स्पष्टत: निर्दिष्ट कीं। उन्होंने औचित्य का निर्णय करने में लोक और शास्त्र दोनों का प्रामाण्य समान रूप से स्वीकार किया -

" तत्र जातिदेशकालवर्णाश्रमवयोवस्थाप्रकृतिव्यवहारादे: प्रपंच-जातस्य तस्य तस्य यल्लोकशास्त्रसिद्धमुचितमनुचितद्रव्यगुणक्रियादि तद्भेद: ।"

उन्होंने एक ओर स्थापित मान्यताओं के आधार पर औचित्य निर्णय के लिए 'शास्त्र' को प्रमाण माना, तो दूसरी ओर इन मान्यताओं की परिवर्तनशीलता को 'लोक' प्रमाण मान कर स्वीकार किया। उनका आकलन इस दृष्टि से निर्देश मात्र है, रूढ़ि का उपस्थापन नहीं। किन्तु इतना स्वीकार करना पड़ेगा कि औचित्य के निर्णय में 'लोक' के इस विचार से वे इतने प्रभावित हो उठे कि उचित-अनुचित के निर्णय में 'नैतिकता' को उन्होंने कुछ अधिक महत्त्व दे दिया। तभी तो जयदेव सरीखे कवियों की शुद्ध कलामुखर दृष्टि से उन्हें अपने को कुछ अलग अनुभव करना पड़ा, इन दृष्टियों के साथ 'अनौचित्य' के विस्तृत और क्रमिक विवेचन में पंडितराज ने महत्त्वपूर्ण योग दिया।

तृतीय अध्याय

गुण

गुण

साहित्य शास्त्र के इतिहास में गुण का उल्लेख अत्यन्त प्राचीन है, क्योंकि किसी वस्तु की प्रशंसा में उसके गुणों का उल्लेख करना अत्यन्त सहज और स्वाभाविक बात है। 'माधुर्य' सर्व प्राचीन गुण है, क्योंकि साहित्य, कला या संगीत के आस्वादन में प्रशंसा का भाव सर्वप्रथम मधुरिमा सम्पन्न बताने में ही व्यक्त होता है। जब वाल्मीकि के महाकाव्य का पाठ कुश-लव ने किया, ऋषियों ने कहा —

" पाठ्ये गेये च मधुरम् । "

" अहो गीतस्य माधुर्यं श्लोकानां च विशेषत: । "[१]

वाल्मीकि के काव्य में दृश्य को प्रत्यक्ष की भाँति प्रस्तुत कर देने की क्षमता है — 'चिरनिर्वृत्तमप्येतत् प्रत्यक्षमिव दर्शितम् ।'[२] यह गुण भामह के अनुसार 'भाविक' है।[३] औदार्य, मनोरमत्व, श्लोकों का समाक्षरत्व, उचित समास और सन्धि, समता तथा अर्थ और वाक्य के माधुर्य का उल्लेख भी रामायण में किया गया है।[४] रामचरित विचित्रपदों में रचा गया है।[५] किष्किन्धा में राम हनुमान की वाणी की प्रशंसा करते हुए उसे 'अविस्तार',

---

१. रामा— १।४-८, १७ कुम्भकोणम् सं०

२. वही— १।६-१७

३. काव्या— २।५३

४. रामायण- बालकाण्ड २।४२ । बालकाण्ड २।४३

५. रामायण- ५-२, ४-१ । १-४-२६ (भोजाज शृङ्गार प्रकाश में उद्धृत

'असन्दिग्ध' 'संस्कारक्रमसम्पन्न' और चित्र बताते हैं।[१] महाभारत के शब्द, अर्थ और आख्यान को भी 'विचित्र' बताया गया है।[२] उसके शब्द शुभ हैं।[३] वाणी सुन्दर, लक्षणा और अर्थवती कही गयी है।[४] भगवान् की वाणी 'अर्थ' 'तथ्य', 'हित', 'लघु', 'युक्त', 'श्रेष्ठ' और 'अनुसार' कही गयी है। 'श्रव्यत्व', 'श्रुतिसुखत्व', और माधुर्य की भी चर्चा की गयी है।[५]

कौटिल्य ने भी गुणों की चर्चा की है। कौटिल्य ने राजशासन के (आज्ञा, लेख) के छः गुणों की चर्चा की है। वे हैं — अर्थक्रम, सम्बन्ध, परिपूर्णता, माधुर्य, औदार्य, स्पष्टता।[६] रुद्रदामन् के अभिलेख में भी माधुर्य, कान्ति और उदारता नामक गुणों के उल्लेख हैं।[७]

काव्यशास्त्र में सर्वप्रथम गुणों की चर्चा भरत में आयी। भरत ने काव्य के दश, गुणों का उल्लेख किया —

" श्लेषः प्रसादः समता समाधिः
माधुर्यमोजः पदसौकुमार्यम्।
अर्थस्य व्यक्तिरुदारता च,
कान्तिश्च काव्यस्य गुणा दशैते।"[८]

दण्डी ने भी ये ही दश गुण स्वीकार किये, किन्तु उनका परिगणन भिन्न क्रम से किया —

---

१. किष्किंधा काण्ड, ३-३०, ३१, ३२।
२. महाभारत, आदिपर्व, १—२४, २-२४५।
३. ,, ,, १—३७
४. ,, ,, २०० — ५६। तुलनीय रामा-युद्ध १७-२०। कालिदास " अर्थ्यामर्थपतिर्वाचम् (रघु० १।१८) भारवि—किरात — २-२८
५. महा—सभा— २-५, ८-६, ४१-१। आदि २-३८५,६२-५२। उद्योग-६३-१
६. अर्थशास्त्र, २-६
७. रुद्रदामन्—जूनागढ़ अभिलेख: (भोजाज शृङ्गार प्रकाश गुणविवेचन)
८. नाट्यशास्त्र, ~~पृ० १६~~ | १६

श्लेष: प्रसाद: समता माधुर्यं सुकुमारता ।
अर्थव्यक्तिरुदारत्वमोज: कान्तिसमाधय: ।।[१]

सम्भवत: गुणों के परिगणन में पौर्वापर्य और भरत के क्रम से विपर्यय में कोई सापेक्ष महत्त्व का प्रश्न नहीं है, यह केवल छन्द के अनुरोधवश पढ़ लिया गया है । किन्तु दण्डी की अनेक परिभाषाएं भरत की परिभाषाओं से भिन्न हैं । उनके समाधि, कान्ति आदि गुणों का तो भरत के समाधि, कान्ति आदि गुणों से कोई सम्बन्ध नहीं है किन्तु भामह ने केवल तीन गुणों को ही स्वीकार किया -

माधुर्यमभिवाञ्छन्त: प्रसादं च सुमेधसा ।
समासवन्ति भूयांसि न पदानि प्रयुञ्जते ।।
केचिदोजोऽभिधित्सन्त: समस्यन्ति बहून्यपि ।[२]

वामन ने दश गुणों का उल्लेख किया, परन्तु उन्होंने प्रत्येक गुण के शब्दगुण और अर्थगुण दो भेद माने । इस प्रकार वामन की गुण संख्या बीस पहुंचगयी ।[३] यह प्रेरणा उन्हें सम्भवत: भरत से मिली है, क्योंकि भरत ने दश गुण मानते हुए, उनमें से अनेक के दो लक्षण दिये हैं । यह बात अभिनव-गुप्त के अनुसार यह संकेत करती है कि भरत शब्द और अर्थगुण दोनों ही मानते हैं ।[४]

अब तक गुणों की संख्या के सम्बन्ध में दो दृष्टिकोण स्पष्ट

---

१. काव्या, पृ० १।४०
२. काव्यालंकार -- २।१-२
३. काव्यालंकार सूत्र - अधिकरण ३, अध्याय १-२
४. नाट्यशास्त्र, भाग-२, पृ- ३५४-३४३

हो जाते हैं। एक तो गुणों की संख्या को वर्द्धमान करता है, दूसरा उसे कम से कम में समाहित ~~करता है, दूसरा उसे कम~~ कर लेना चाहता है।

वामन के पश्चात् भोजने गुणों की संख्या में और भी वृद्धि की। उन्होंने चौबीस गुणों का वर्णन किया। उन्होंने तीन प्रकार के गुण माने— बाह्य, आभ्यन्तर और वैशेषिक। उनमें 'बाह्य गुण' शब्दगुण, आभ्यन्तर गुण अर्थगुण और वैशेषिक गुण सामान्य रूप से दोष हैं, किन्तु विशेष सन्दर्भ में गुण बन जाते हैं। भोज ने भरत, दण्डी और वामन के दशगुण तो किंचित लक्षण भेदों के साथ स्वीकार भी किये इसके अतिरिक्त चौदह नवीन गुणों की उद्भावना कर डाली। वे नवीन शब्द और अर्थगुण ये हैं — उदात्तता, औजीत्य, प्रेयस, सुशब्दता, सौक्ष्म्य, गाम्भीर्य, विस्तार, संक्षेप, सम्मितत्व, भाविक, गति, रीति, उक्ति तथा प्रौढ़ि।

भोज के द्वारा आकलित वैशेषिक गुणों का विवरण इस प्रकार है —असाधु (अनुकरण में), अप्रयुक्त (अनुकरण में), कष्ट (दुर्वचनादि में), अनर्थक (यमकादि अलंकारों में), अन्यार्थ (प्रहेलिका आदि में), अपुष्टार्थ (छन्द: पूर्ति में), असमर्थ (कामशास्त्र में), अप्रतीति (विद्वानों के सम्भाषण आदि में), क्लिष्ट (व्याख्यानादि में--जहां गूढ़ अर्थ का स्पष्ट संकेत होता है) नेयार्थ (प्रहेलिका आदि में), सन्दिग्ध (प्रसंग आदि के कारण आशय स्पष्ट हो जाने पर), विरुद्ध (इच्छा पूर्वक प्रयुक्त किये जाने पर, जहां विपरीत कल्पना भी अभीष्ट हो), अप्रयोजक (अप्रयोजक विशेषण के अपने आप सुन्दर होने के कारण), देश्य (महाकवियों द्वारा प्रयुक्त होने पर), ग्राम्य (घृणावत्, अश्लील तथा अमंगल रूप ग्राम्य दोष क्रमश: (संवित् अर्थात् सद्भाव से स्वीकृत, गुप्त और लक्षित होने पर गुण हो जाते हैं। ग्राम्य के घृणावत्, अमंगल और अश्लील रूपों के तीन तीन भेद और कर के भोज ने वैशेषिक गुणों की संख्या भी २४ कर दी। इनके अतिरिक्त वाक्य और वाक्यार्थ दोषों पर आश्रित चौबीस-चौबीस वैशेषिक गुण और भी हैं।[१]

---

१. विस्तृत विवेचन— भोजाज शृंगारप्रकाश, पृ० ३०१— ३१५

अग्निपुराण ने श्लेष, लालित्य, गांभीर्य, सुकुमारता, औदार्य, तथा ओजस्-ये छः शब्दगुण, माधुर्य, संविधान, कोमलता, उदारता प्रौढि तथा सामयिकता-ये छः अर्थगुण एवम् प्रसाद, सौभाग्य, यथासंख्य, प्राशस्त्य, पाक और राग इन छः उभयगुणों को मिलाकर अठारह गुण माने हैं।[१]

दूसरी ओर आनन्दवर्धन, अभिनव, मम्मट तथा हेमचन्द्र आदि आचार्यों ने भामह द्वारा प्रवर्तित गुणत्रय के ही सिद्धान्त को अंगीकार किया। गुणों की संख्या के सम्बन्ध में इन आचार्यों ने भामह को पूर्णतः स्वीकार किया।

कुन्तक ने परम्परा से हट कर गुणों का विवेचन किया। उन्होंने कविस्वभाव को प्रमाण मानते हुए सुकुमार विचित्र और मध्यम-तीन काव्य मार्ग और उनमें से प्रत्येक के चार विशेष और दो सामान्य गुणों का निरूपण किया। सामान्य गुण काव्य के अनिवार्य गुण हैं -उनके अभाव में काव्य काव्य नहीं रहता। अतएव तीन मार्गों में उनकी स्थिति समान रूप से रहती है। सामान्य गुण हैं, औचित्य और सौभाग्य -औचित्य का अर्थ है यथोचित विधान और सौभाग्य का अर्थ है चेतना को चमत्कृत करने का गुण, जिसका मूल आधार प्रतिभा है। इनके अतिरिक्त चार विशिष्ट गुण हैं जिनके स्वरूप प्रत्येक गुण में भिन्न रहते हैं -ये हैं:- माधुर्य, प्रसाद, लावण्य और आभिजात्य।[२] इस प्रकार कुन्तक के अनुसार गुणों की संख्या ६ है।

गुणों की संख्या के सम्बन्ध में इन दृष्टिकोणों को देखते हुए दो भिन्न प्रवृत्तियां स्पष्ट हो जाती हैं। गुणों की संख्या को अत्यन्त प्रवृद्ध करने में भोज ने सबसे बड़ा हिस्सा लिया। किन्तु उन्होंने गुण सम्बन्धी विवेचन को स्पष्ट करने के स्थान पर और भी अस्पष्ट कर दिया। भोज के

---

१. भोजराज शृंगार प्रकाश-पृ० ३१६-२०
२. कान्सेप्ट आफ रीति एण्ड गुण, पृ० १३१-४८ (वक्रोक्तिजीवित-भूमिका, दे

अनेक गुण तो मान्य गुणों के प्रभेद मात्र थे। कुछ अलंकार ही हैं। कुछ एक ध्वनि-व्याप हैं। प्रेयस् और औजौल्य ध्वनि काल से पूर्ववर्ती आचार्यों की दृष्टि में अलंकार हैं, किन्तु बाद के आचार्यों के मत से रसभाव हैं। भोजने दण्डी और वामन के विवेचन के आधार पर उद्भावनाएं कर डालीं। कभी वे एक से लक्षण और दूसरे से नाम ग्रहण कर लेते हैं। कभी किसी एक गुण के वैकल्पिक रूपों को नये नाम दे देते हैं, जैसे वामन की अर्थ प्रौढि के तीन रूपों को उन्होंने तीन रूपों को उन्होंने तीन स्वतंत्र गुणों का नाम दे दिया। भोज के शब्दगुण, गाम्भीर्य, प्रौढि, औजौल्य तथा प्रेयस् स्पष्टत: अर्थ के चमत्कार हैं। इसी प्रकार कतिपय गुण ऐसे हैं जिनका सौन्दर्य शब्द-अर्थोभयाश्रित है। किन्तु भोज उन्हें स्वेच्छया शब्दगुण या अर्थगुण में डाल देते हैं। वस्तुत: शब्द और अर्थ का पार्थक्य दूर तक निभा पाना ही कठिन है। वामन दश गुण में ही इस पार्थक्य को निभा सकने में असफल सिद्ध हुए, फिर भोज उसे चौबीस गुण में कैसे निभा पाते। इस पार्थक्य का आधार आश्रयाश्रयिभाव है, किन्तु भोज ने उसे भी विधिवत ग्रहण नहीं किया। इसीलिए उनका विवेचन अत्यन्त असंगत और अनर्गल हो गया है।[1] अग्निपुराण के प्रभेदों के विषय में भी यही कहा जा सकता है। उसका विवेचन और भी अस्पष्ट है। पहले तो शब्दगुण, अर्थगुण और उभयगुण के वर्ग ही प्रामाणिक नहीं हैं। शब्द और अर्थ के चमत्कार प्राय: एक दूसरे की सीमा का उल्लंघन कर बैठते हैं। फिर उभय गुणों का पृथक् वर्ग तो अपनी स्वतंत्र सत्ता की रक्षा करने में सर्वथा असमर्थ ही है। पुराणकार ने दण्डी , वामन और भोज के विवेचन को और उलझा दिया है।

यह भी तथ्य है कि भोज के द्वारा प्रतिपादित चौबीस गुण या अग्निपुराण द्वारा कथित अठारह गुणों के विचार को मान्यता प्राप्त नहीं हुई। वास्तविक विवाद दशगुण और तीन गुण मानने के सम्बन्ध में ही रही

---

१. हिन्दी काव्यालंकार सूत्रवृत्ति, संपा० डा० नगेन्द्र, भूमिका, पृ० ६९-७०

यह विवाद केवल गुणों की संख्या का ही नहीं, अपितु गुण के स्वरूप और काव्य के स्वरूप को भी है। वामन ने गुण को शब्द और अर्थ का धर्म माना और रीति के चमत्कार रूप है। ध्वनिवादियों के अनुसार गुण काव्य की अन्तःप्रवृत्ति से सम्बद्ध हैं और अलंकार बाह्यरूप से सम्बद्ध हैं। ध्वनिकारने गुण और अलंकार में अन्तर किया -

"तमर्थमवलम्बन्ते येऽङ्गिनं ते गुणाः स्मृताः।
अङ्गाश्रितास्त्वलङ्कारा मन्तव्याः कटकादिवत्॥"
(ध्वन्या- २।७)

इसका अर्थ है कि गुण अङ्ग्याश्रित हैं और अलंकार अङ्गाश्रित। आनन्दवर्धन ने, भामह से तीन गुण ग्रहण कर गुणसम्बन्धी विवेचन को सर्वथा नया आधार दिया। उनके मत में गुण रस के धर्म हैं, अतएव चित्तवृत्ति रूप हैं। वामन ने गुणों को जो आधार दिये, वे स्थूल और मूर्त थे, आनन्दवर्धन प्रदत्त आधार सूक्ष्म और व्यापक हैं। फलतः वामन के गुणों की संख्या अधिक और आनन्दवर्धन के गुणों की संख्या कम है। ध्वनिवादियों माधुर्य, ओज और प्रसाद ये तीन ही गुण माने। उनके अनुसार रसानुभूति की प्रक्रिया में चित्त की तीन अवस्थायें होती हैं - द्रुति, दीप्ति और व्यापकत्व। शृंगार और करुण आदि के आस्वादन में चित्त द्रवीभूत तथा वीर रौद्र आदि के आस्वादन में दीप्त हो जाता है। इसके अतिरिक्त सभी रसों की अनुभूति के समय चित्त की एक और अवस्था होती है जिसे 'समर्पकत्व' या 'व्यापकत्व' कहते हैं। यह रस प्रतीति का सहज परिणाम होती है। इन्हीं चित्तवृत्तियों के तद्रूप होने के कारण गुण भी केवल तीन होते हैं। द्रुति का प्रतीक माधुर्य दीप्ति का ओज और व्यापकत्व का प्रसाद।

आनन्दवर्धन के इस विवेचन के बावजूद कुछ प्रश्न रह जाते हैं कि गुण को काव्याश्रय (तन्मयं काव्यमाश्रित्य (ध्वन्यालोक २-८) अर्थात् काव्य शरीर का आश्रय कह) कह कर फिर उन्हें अंगी अर्थ का आश्रित कहना असंगत

नहीं है ? द्रुति, दीप्ति आदि चित्तवृत्तियों का रस से क्या सम्बन्ध है ? क्या वे रस से अभिन्न हैं या वे रस का कार्य हैं, अतः भिन्न हैं ? जब रस से पृथक् गुण का अनुभव नहीं हो पाता, तो गुणों की संज्ञा मानने की आवश्यकता ही क्या है ?

अभिनव गुप्त ने इस सम्बन्ध में विवेचन किया । मुख्यतः चित्त-वृत्तियां ही गुण हैं । ओजस् , प्रसाद और माधुर्य दीप्ति,समर्पकत्व अथवा व्यापकत्व तथा आर्द्रताव या द्रुति के रूप में ही रहते हैं । अतः रस के बिना गुण का प्रश्न ही नहीं उठता । फलतः रस कारण है और गुण कार्य । इसलिए जब यह कहा जाता है कि दीप्ति रौद्र आदि का धर्म है, जो दीप्ति का रौद्र में अन्तर्भाव अथवा कार्य का कारण पर आरोपण (super-imposition) किया जाता है । किन्तु रसास्वाद की स्थिति विगलित-वेद्यान्तर कही गयी है, अतः कार्य-कारण का विवेकभाव नहीं किया जा सकता ।

इस स्थिति में गुण को पृथक् काव्य तत्त्व का पद ~~देना~~ देने में निश्चय ही सन्देह पैदा हो जाता है, किन्तु चूंकि ध्वनिवादी पूर्वाचार्यों के द्वारा आकलित सारे तत्त्वों को स्वीकार करते प्रतीत होते हैं, तो उनसे गुण का (जो कि रीति सम्प्रदाय के अनुसार मुख्य तत्त्व हैं) अस्वीकार कठिन ही है । जब हम ध्वनिवादियों के दृष्टिकोण ठीक समझ लेते हैं और उनकी काव्य पुरुष[1] की कल्पना को पूरी तरह मिलाते हैं, तो गुण को पृथक्तत्त्व मानना ठीक तरह से समझ में आ जाता है । विभानुभाव आदि के द्वारा स्थायी आस्वादभूमि तक पहुंचाया जाता है, किन्तु यह आस्वाद कब होता है ? निश्चय ही किसी न किसी चित्तवृत्ति की दशा में , चाहे वह कितनी ही सत्वर क्यों न हो , यदि यह सत्य है कि गुण का कारण रस है, तो समान रूप से यह भी सत्य है कि गुण रसास्वाद की प्रक्रिया के अविच्छेन्न अंग है ।

---

१. लोचन २-७, १० पृ० ८०

वस्तुत: आस्वाद की चरम परिणति द्रुति, दीप्ति और समर्पकत्व में ही है।

चूंकि रसानुभूति की प्रक्रिया में केवल तीन दशाएं ही अनुभूत होती हैं अत: तीन से अधिक गुणों की कल्पना गलत है। आचार्य मम्मट ने वामन के गुणों का खण्डन करते हुए उन्हें या तो गुणत्रय में अन्तर्भूत कर दिया या दोषाभावमात्र बताया अथवा उन्हें अलंकार एवम् उक्ति वैचित्र्य-मात्र सिद्ध किया।

वामन के द्वारा कथित दश गुण ओज, श्लेष, समाधि, उदारता प्रसाद, ओज गुण में अन्तर्भूत हो जाते हैं। माधुर्य `माधुर्य` में और अर्थ-व्यक्ति प्रसाद गुण में अन्तर्भूत हो जाता है। ओज का लक्षण गाढ़बन्धत्व है, श्लेष में अनेक पद एक जैसे प्रतीत होते हैं, प्रसाद में पदरचना ओज मिश्रित शैथिल्ययुक्त होती है, समाधि में आरोह-अवरोह क्रम रहता है, उदारता में विकटत्व रहता है — उसमें पद नृत्यत्प्राय रहते हैं। ये सभी विशेषताएं ओज गुण के लक्षण में समाहित हैं अत: ये सारे गुण ध्वनिवादियों के `ओज` में समाहित हो जाते हैं। वामन के शब्दगुण `माधुर्य` का स्वरूप `पृथक्पदत्व` है, यह भी ध्वनिवादियों के `माधुर्य` का बाह्यतत्व है। अर्थव्यक्ति में पद अपने अर्थ की तुरन्त प्रतीति करा देते हैं, यह `प्रसाद` का लक्षण ही है। `समता` में एक ही मार्ग का आरम्भ से अन्त तक अवलम्बन रहता है, किन्तु यह `मार्गाभेद रूप` तत्व तो एकरसता उत्पन्न करने के कारण दोष है। अपरुष — बन्ध रूप सौकुमार्य कष्टत्व और श्रुतिकटु दोष का अभाव रूप है। पदौज्ज्वल्यरूप कान्ति `ग्राम्यत्व` दोष का निषेध मात्र है। अत: वामन के दशशब्द गुण की कल्पना ठीक नहीं है।

अर्थ प्रौढ़ि रूप ओज, जिसमें एक शब्द के लिए सम्पूर्ण वाक्य का प्रयोग, सम्पूर्णवाक्य के लिए एक शब्द का प्रयोग, व्यास, समास तथा साभिप्राय विशेषण का प्रयोग होता है, उक्तिवैचित्र्य ही है। ये दोनों गुण

भावात्मक नहीं हैं । अर्थ-वैमल्यरूप प्रसाद--जहां आवश्यक का ग्रहण और अनावश्यक का परित्याग रहता है --अधिकपदत्वदोष का निषेधमात्र है । अर्थगुण माधुर्य उक्तिवैचित्र्य मात्र है और यह उक्तिवैचित्र्य काव्य शैली में अवश्य ही रहना चाहिए, अन्यथा रचना अनवीकृतत्व दोष से युक्त हो जायगी । यह भी अनवीकृतत्व दोष का निषेधमात्र है । उदारता 'ग्राम्यत्व' दोष का अभाव है । सौकुमार्य भी 'पारुष्य' दोष का अभाव है । ~~सौकुमार्य भी उसके विपरीत है ।~~ पारुष्य का अर्थ है --अप्रिय अथवा अमंगल । सौकुमार्य में अमंगल वाचक शब्दों के परिहार द्वारा अमंगल की परुषता का परिहार किया जाता है । अतएव' सौकुमार्य अमंगलरूप अश्लील दोष का परिहार ही है । अर्थ के अवैषम्य या क्रम के भंग न होने को समता नामक अर्थगुण कहते हैं, यह 'प्रक्रमभंग दोष' का अभाव रूप है । वस्तुओं के स्वभाव की अभिव्यक्ति रूप अर्थ व्यक्ति 'स्वभावोक्ति' अलंकार से अभिन्न है । रस से दीप्तिरूप कान्ति-गुण रसध्वनि आदि में समाहित हो जाता है । अर्थगुण समाधि कोई गुण ही नहीं है । वामन के अर्थगुण समाधि का स्वरूप है जिसमें चित्त के एकाग्र होने से वास्तविक अर्थ प्रकट हो । किन्तु यह तो गुण हो नहीं सकता । हां काव्य स्वाद के लिए यह यों आवश्यक है कि अर्थदर्शन के बिना रस, गुण, रीति, अलंकार--कुछ भी हाथ नहीं लगेगा । अत: वामन के इन दश अर्थ गुणों की कल्पना भी निराधार है ।[१]

इस प्रकार ध्वनिवादी आचार्यों ने वामन के दशगुणों का अन्तर्भाव तीन गुणों में कर दिया । उत्तरवर्ती युग में सिद्धान्तत: ये तीन गुण ही स्वीकृत हुए । पंडितराज ने भी गुणों की संख्या तीन ही मानी ।

पण्डितराज ने 'जरत्तर' --दण्डी और विशेषत: वामन के दृष्टिकोण को भी सामने रखा । उन्होंने शब्द और अर्थ के गुणों की वामनकृत

---

१. हिन्दी काव्यालंकार सूत्रवृत्ति भूमिका, पृ० ७१--७२

(ब) काव्यप्रकाश--सूत्र --९६-९७, अष्टम उल्लास, पृ० ४७८-४८४

परिभाषाओं को परिवर्तित कर उन्हें वैकल्पिक रूप देते हुए उपस्थित किया - इस प्रकार वामन का "औज्ज्वल्यं कान्तिः" पण्डितराज के यहाँ - "अविदग्ध - वैदिकादिप्रयोग-योग्यानां पदानां परिहारेण ~~परिहारेण~~ प्रयुज्यमानेषु पदेषु लौकोत्तरशोभारूपमौज्ज्वल्यं कान्तिः" - बन गया। वामन का "आरोहावरोह" क्रम कर उन्होंने समाधि का नवीन लक्षण किया - " बन्धत्वगाढत्वशिथिलत्वयोः क्रमेणावस्थापनं समाधिः।"

दश अर्थगुणों का वामनाभिमत स्वरूप देते हुए भी उन्होंने विशेष परिवर्तन किया।[१] वामन का अर्थगुण "श्लेष" का लक्षण "घटना श्लेषः" बदल कर " एवं क्रियापरस्परया विदग्ध चेष्टितस्य तदस्फुटत्वस्य तदुपपादकयुक्तेश्च सामानाधिकरण्यरूपः संसर्गः श्लेषः" हो गया।

वामन के दश शब्दगुण और दश अर्थगुणों को ध्वनिवादी मार्ग के अनुकूल ही पण्डितराज ने तीन गुणों, दोषाभाव और अलंकारों से इस प्रकार गतार्थ कर दिया -

" श्लेषोदारताप्रसादसमाधीनामोजोव्यंजकघटनायामन्तर्भावः। न च श्लेषोदारतयोः सवांशे गाढबन्धात्मनो रोजोव्यंजकघटनान्तर्भावोऽस्तु नाम, प्रसादसमाध्योस्तु गाढशिथिलात्मनोरंशेनोजोव्यंजकान्तर्भावेऽप्यंशान्तरेण कुत्रान्तर्भाव इति वाच्यम्, माधुर्याभिव्यंजके प्रसादाभिव्यंजके चेति सुवचत्वात्। माधुर्यं तु परेषामस्मदभ्युपगतमाधुर्यव्यंजकमेव। एवं च सर्वत्र व्यंग्यशब्द प्रयोगो भाक्तः। समता तु सर्वथानुचितैव। प्रतिपाद्योद्भटत्वानुद्भटत्वाभ्यामेकस्मिन्नेव पथे मार्गभेदस्येष्टत्वात्।...... ग्राम्यत्वकष्टत्वयोस्त्यागात् कान्तिसौकुमार्ययोर्गतार्थता, प्रसादेन चार्थव्यक्तेरिति।

---

१. (क) भोजराज शृंगारप्रकाश, पृ० ३५०

(ख) विस्तृत-कान्सेप्ट आफ रीति एण्ड गुण, पृ० २५४-२६२

अर्थगुणेष्वपि- श्लेषः ओजस् आद्यास्त्वारो भेदाश्च, वैचित्र्य-मात्ररूपा न गुणान्तर्भावमर्हन्ति, अन्यथा प्रतिश्लोकमर्थवैचित्र्यवैलक्षण्याद्गुण-भेदापत्तेः । अनधिकपदत्वात्मा प्रसादः, उक्तिवैचित्र्यमात्ररूपं माधुर्यम् , अपारुष्यरूपं सौकुमार्यम्, अग्राम्यरूपोदारता, वैषम्याभाव लक्षणा समता, साभिप्रायात्मकः पंचम ओजसः प्रकारः, स्वभावस्फुटत्वात्मिकार्थव्यक्तिः, स्फुट-रसत्वरूपा कान्तिश्च, अधिकपदत्वानवीकृतत्वामङ्गलरूपाश्लीलग्राम्यभग्नप्रक्र-मापुष्टार्थरूपाणां दोषाणां निराकरणेन स्वभावोक्त्यलंकारस्य रसध्वनिरसवद-लंकारयोश्च स्वीकरणेन गतार्था।" [१]

गुणों का स्वरूप:—

काव्यशास्त्र के प्रथम आचार्य भरत ने गुण का लक्षण और परिगणन करने के पूर्व दोषों का लक्षण परिगणन किया । उन्होंने कहा —

" गुणाः विपर्ययादेषाम्..... ।" [२]

गुण इन (दोषों) के `विपर्यय` स्वरूप है ।`विपर्यय` के अर्थ के सम्बन्ध में मतभेद रहा है । अभिनव गुप्त के अनुसार ` विपर्यय` का अर्थ `अभाव` अथवा `विघात` है । बाद के ध्वनिवादी आचार्य भी इसी मत के हैं उन्होंने भी दोष के अभाव को गुण माना है । डा० नगेन्द्र ने इस सम्बन्ध में निम्नलिखित विवेचन किया है —

" परन्तु फिर भी भरत के गुण विवेचन से यह सिद्ध नहीं होता कि उनके सभी गुणों की स्थिति अभावात्मक है । उनके लक्षणों से स्पष्ट है कि कुछ गुणों को छोड़ कर शेष सभी की स्थिति निश्चय ही भावात्मक है ।

---

१. रसगंगाधर, पृ० ७८-८०

२. नाट्यशास्त्र, जी०ओ०एस०

उदाहरण के लिए समता की स्थिति अवश्य ही अभावात्मक है, परन्तु उदारता, सौकुमार्य, ओजस् आदि गुण जिनमें दिव्यभाव, सुकुमार अर्थ और शब्दार्थ सम्पत्ति आदि का निश्चित रूप से सद्भाव रहता है, कैसे अभावात्मक हो सकते हैं ? अन्यथाभाव और वैपरीत्य की स्थिति विलोम रूप से भावात्मक हो जाती है, परन्तु गुण का सद्भाव रूप पुन: भावात्मक स्थिति है, क्योंकि गुण के अभाव रूप में उसकी अभावात्मक स्थिति भी होती है। इसलिए विपर्यय का अर्थ वैपरीत्य ही मानना संगत है। भरत ने दोषों का विवेचन पहले किया है अतएव उसी क्रम से दोषों के सम्बन्ध से -उनके विपर्यय रूप में -उन्होंने गुणों का भी विवेचन किया है। और जैसा कि जैकोबी ने समाधान किया है यह क्रम सामान्य व्यवहार की दृष्टि से रखा गया है जिसके अनुसार मनुष्य दोष से अधिक स्पष्ट रहते हैं और गुणों की कल्पना हम प्राय: उन सहज ग्राह्य दोषों के निषेध (अभाव अथवा विपर्यय) रूप में ही करते हैं।

अतएव हमारा निष्कर्ष यह है कि भरत ने गुण को दोष का वैपरीत्य ही माना है, परन्तु (जैसा कि भिन्न मत रखते हुए भी एक स्थान पर डा० लाहिरी ने संकेत किया है) निर्दिष्ट दश गुण पूर्व विवेचित दश दोषों के ही क्रमश: विपरीत रूप नहीं हैं यह तो उनके नामकरण से ही स्पष्ट है। अर्थात् यह वैपरीत्य सामान्य है, विशिष्ट नहीं है।"[1]

भरत ने गुण को परम्परा सम्बन्ध से रसाश्रय भी माना।[2]

दण्डी ने भी भरत के ही दश गुणों का उल्लेख किया। उनके अनुसार गुण भी काव्य के शोभाविधायक धर्म हैं और वे रसाश्रय नहीं हैं। काव्य की शोभा और उसके विधायक गुणों का सम्बन्ध उनके अनुसार सीधे शब्द

---

१. हिन्दी काव्यालंकार सूत्रवृत्ति -संपा० डा० नगेन्द्र -भूमिका - पृष्ठ ५८-५६
२. वही।

और अर्थ से है।[१]

वामन ने गुण का लक्षण सर्वप्रथम किया। उनके अनुसार "काव्य के शोभाकारण धर्म" गुण कहलाते हैं। शब्द और अर्थ के वे धर्म जो काव्य को शोभासम्पन्न करते हैं, गुण कहलाते हैं। वे हैं — ओज, प्रसादादि — यमक उपमादि नहीं, क्योंकि यमक उपमादि अलंकार अकेले काव्य शोभा की सृष्टि नहीं कर सकते।[२]

गुण नित्य हैं, उनके बिना काव्य में शोभा नहीं आ सकती। वामन ने गुणों को शब्द-अर्थ का ही धर्म माना, बल्कि रस को गुण का ही अंग मान लिया।

ध्वनिकार ने गुणों को रस के आश्रित माना। उनके अनुसार जो प्रधानभूत रस के आश्रित रहने वाले हैं, उन्हें रस कहते हैं।[३] आचार्य मम्मट ने भी गुणों को आत्मा के शौर्य आदि गुणों की ही भाँति अंगीभूत रस के उत्कर्ष हेतु अचलस्थित गुण माना।[४] विश्वनाथ आदि ने भी इस मार्ग का अनुसरण किया।

दण्डी वामन आदि ध्वनिपूर्व आचार्यों ने गुण को शब्द और अर्थ का धर्म माना। उनके विवेचन से स्पष्ट है कि शब्द और अर्थ के चमत्कार गुण के आधार तत्त्व हैं। किन्तु ध्वनिकार और उनके अनुयायियों ने गुणों को रस धर्म माना। गुणों को रस का धर्म मानने के कारण उनका स्वरूप,

---

१. हिन्दी काव्यालंकार सूत्रवृत्ति, सं० डा० नगेन्द्र, पृ० ६०-६१

२. काव्यालंकार सूत्रवृत्ति — ३।१।१

३. तमर्थमवलम्बन्ते ये ङ्गिनं ते गुणाः स्मृताः। — ध्वन्यालोक, पृ० -३१२

४. काव्यप्रकाश — अष्टमउल्लास — सूत्र ८७, पृ० — ४६२

'चित्तवृत्ति' मूलक हो गया । माधुर्य, ओज और प्रसाद चित्त की निर्मलता की स्थिति है, जो सभी रसों के आस्वादन के लिए अनिवार्य है । चित्त की यही निर्मलता आनन्दवर्धन के शब्दों में समर्पकत्व अथवा व्यापकत्व कहलाती है । [१] इसी आधार पर प्रसाद को शब्द और अर्थ की स्वच्छता का रूप माना है ।'

कोमल और परुष अथवा मधुर और ऊर्जस्वित् -इन दोनों प्रवृत्तियों के प्रतीक रूप माधुर्य और ओज गुण माने गये ।

आनन्दवर्धन ने शृंगार, रौद्र आदि रसों में,जहां चित्त आह्लादित और दीप्त होता है, वहां माधुर्य और ओज आदि गुणों के रहने की बात कही, किन्तु द्रुति, दीप्ति आदि चित्तवृत्तियों और गुणों के सम्बन्ध पर प्रकाश नहीं डाला ।

इस पर अभिनवगुप्त ने प्रकाश डालते हुए बताया कि गुण चित्त की अवस्था का ही नाम है । माधुर्य चित्त की द्रवित अवस्था है, ओज दीप्ति, है और प्रसाद व्यापकत्व है । चित्त की यह द्रुति, दीप्ति और व्याप्ति रस-परिपाक के साथ घटित होती है । इस प्रकार अभिनव के अनुसार माधुर्य आदि गुण चित्त की द्रुति आदि अवस्थाओं से सर्वथा अभिन्न हैं और चूंकि ये अवस्थाएं रसानुभूति के कारण उत्पन्न होती हैं, अतएव रस को कारण और गुण को कार्य कहा जा सकता है । [२] कारण और कार्य में अन्तर अनिवार्य है इसलिए रस और द्रुत्यादि में भी अन्तर है , वह कालक्रम का है । किन्तु चूंकि रस के आस्वाद में वैयान्तरता नहीं होती, अत: चित्त द्रुति आदि का भी सहृदय को पृथक् अनुभव नहीं होता । वह रस के अनुभव में निमग्न हो जाता है ।

---

१. 'समर्पकत्वं काव्यस्य यत्तु सर्वरसान् प्रति ।
स प्रसादो गुणो ज्ञेय: सर्वसाधारणक्रिय: ।'

— ध्वन्यालोक २।१०

२. लोचन, ध्वन्यालोक, पृ० ३०८-९ :

आनन्दवर्धन ने गुणों को रस के नित्य धर्म इसी रूप से माना है।

मम्मट ने गुणों को रस के उत्कर्षहेतु और अचलस्थिति धर्म माना और उन्हें चित्तद्रुति आदि का कारण माना। अभिनव गुप्त ने गुणों को चित्तद्रुति आदि से अभिन्न और रस को गुण का कारण माना था, किन्तु मम्मट गुण को चित्तद्रुति का कारण मानते हैं। मम्मट ने गुणस्वरूप पर प्रकाश नहीं डाला।

विश्वनाथ ने अभिनव के ही अनुसार द्रुति, दीप्ति आदि आनन्द को ही गुण माना। परन्तु उनका मत था —" द्रवीभाव या द्रुति आस्वादनरूप आह्लाद से अभिन्न होने के कारण कार्य नहीं है, जैसा कि अभिनव ने किसी अंश तक माना है। आस्वाद या आह्लाद रस के पर्याय हैं। द्रुति रस का ही स्वरूप है, उससे भिन्न नहीं।"[१] इस तरह विश्वनाथ ने गुण को रस से ही अभिन्न मान लिया।

इस भूमिका के बाद पंडितराज जगन्नाथ आये। उनके सम्मुख ये सारे विवेचन और दृष्टिकोण थे। उन्होंने मम्मट आदि विद्वानों के पक्ष को इस प्रकार रखा कि इन पूर्वोक्त रसों में माधुर्य, ओज, प्रसाद नामक तीन गुण रहते हैं।

इन रसों में माधुर्य की आपेक्षिक मात्रा आनन्दवर्धन के अनुसार विप्रलम्भ और करुण में उत्तरोत्तर बढ़ती जाती है —

" शृंगारे विप्रलम्भाख्ये करुणे च प्रकर्षवत्।
माधुर्यमार्द्रतां याति यतस्तत्राधिकं मनः॥[२]

---

१. साहित्यदर्पण—परिच्छेद ८।३

२. ध्वन्यालोक—२।८

अभिनव ने भी कहा—

" संभोगश्रृंगारान्मधुरतरो विप्रलम्भः ततोऽपि मधुरतमः करुणः" [1]
अन्य आचार्यों ने इस क्रम को बदला,[2] जिसका संक्षिप्त विवरण पण्डितराज ने इस प्रकार दिया —

" उनमें संयोग श्रृंगार में जितना माधुर्य है, उससे अधिक करुण रस में, उन दोनों से अधिक विप्रलम्भ श्रृंगार में, इन सब से भी अधिक शान्त शान्त रस में होता है, क्योंकि पूर्व पूर्व रस की अपेक्षा उत्तर उत्तर रस में चित्त अधिक द्रुत होता है। यह कुछ लोगों का मत है।"

" दूसरों के अनुसार 'संभोग श्रृंगार से अधिक करुण, शान्त में, इन दोनों से अधिक विप्रलम्भश्रृंगार में होता है।"

अन्यों के अनुसार 'संभोग श्रृंगार से करुण, विप्रलम्भ, शान्त में अधिक ही होता है, इनमें भी (परस्पर) तारतम्य नहीं है।' [3]

इन तीन मतों में आदि से अभिन्न और रस को गुण का कारण माना था, किन्तु मम्मट गुण को चित्तद्रुति का कारण मानते हैं। मम्मट ने गुण स्वरूप पर प्रकाश नहीं डाला।

---

१. ध्वन्यालोक लोचन
२. भोजराज श्रृंगारप्रकाश—राघवन्, पृ० ३४८
३. (क) " करुण इति। तदेव माधुर्यं करुणादिषु त्रिष्वन्यन्तद्रुतिहेतुत्वात् सातिशयम्, तेषु हि शून्यमनस्कतयैव जायते।"

— काव्यप्रकाश, संप्रदायप्रकाशिनी, भाग २, पृ० १७७
(त्रिवेन्द्रम्)

(ख) " करुण इति...। तन्माधुर्यं करुण-विप्रलम्भशान्तेषु यथोत्तरमतिशयेनान्वीयते।"

—काव्यप्रकाश, साहित्यचूडामणि, भाग-२, पृ— १७७ (त्रिवे०)

(अगले पृष्ठ पर देखें)

इन तीन मतों में से प्रथम और तृतीय मत में "करुणे विप्रलम्भे च तच्छान्ते चातिशयान्वितम्"[1] यह प्राचीन आचार्यों का सूत्र अनुकूल है, क्योंकि उसके आगे के सूत्र में जो 'क्रमेण' पद है, उसे प्रथम सूत्र में अपकर्षण और अपकर्षण से दो व्याख्याएं हो सकती हैं। मध्यम मत में तो यदि करुणा और शान्त की अपेक्षा विप्रलम्भ शृंगार के माधुर्य की अधिकता का अनुभव यदि सहृदयों को होता है, तो उसे भी प्रमाण मान लेना चाहिए।

आनन्दवर्धन ने ओज को रौद्र धर्मों का गुण माना। किन्तु मम्मट ने इसमें थोड़ा परिवर्तन किया :- "दीप्त्यात्म-विस्तृतेर्हेतुः ओजो वीररस स्थितिः। बीभत्सरौद्ररसयोः तस्याधिक्यं क्रमेण च॥" पण्डितराज ने मम्मट का अनुसरण किया। वीर, बीभत्स और रौद्र रसों में पहले की अपेक्षा पिछले में अधिक ओज होता है, क्योंकि इनमें प्रत्येक पिछला रस मन को अधिक दीप्त करने वाला होता है।

डा० वी० राघवन् के अनुसार मम्मट का मत, जिसका पंडितराज ने अनुसरण किया, सही नहीं है। बीभत्स में दीप्ति की मात्रा कम है, जब कि अद्भुत में वह विपुलरूप में उपस्थित है।[2]

अद्भुत, हास्य और भयानक रसों के विषय में कुछ विद्वानों का मत है कि इनमें माधुर्य और ओज दोनों गुण रहते हैं और दूसरों के अनुसार में इनमें केवल प्रसाद गुण ही रहता है।

पिछले पृष्ठ का शेष-

(ग) "संभोगाद्विप्रलम्भे ततोऽपि शान्तेऽतिशयिते माधुर्यम्।"

—काव्यप्रकाश, प्रदीप, ३६२ (आनन्दाश्रम सीरीज़)

---

१. काव्यप्रकाश, पृ० ८।६६

२. भोजाज़ शृंगार प्रकाश, वी०राघवन्, पृ० ३४८

प्रसाद तो सारे रसों और सारी रचनाओं में रहता है ।

इन गुणों के द्वारा क्रम से द्रुति, दीप्ति, विकास ये चित्त की वृत्तियां उभारी जाती हैं । ये गुण चित्तवृत्तियों के प्रयोजक हैं — जनक नहीं । द्रुत्यादि चित्तवृत्तियां उक्त तीनों गुणों से साक्षात् उत्पन्न नहीं होती, अपितु इन गुणों से विशिष्ट रसों के आस्वादन से साक्षात् उत्पन्न होती हैं ।

" गुणानां तेषां द्रुतिदीप्तिविकासाख्याश्चित्तवृत्तय: क्रमेण प्रयोज्या: ।"

इस प्रकार रस मात्र के इन गुणों के सिद्ध होने पर ' मधुर रचना' ' ओजस्वी बन्ध' इत्यादि व्यवहार ' उसका आकार शूर है' इत्यादि व्यवहार की भांति औपचारिक है । यह मम्मट भट्ट आदि का मत है ।

परन्तु पण्डितराज के विचार भिन्न हैं । उन्होंने तर्क किया कि इन प्रसाद आदि गुणों को केवल ' रस के धर्म' ही मानने में क्या प्रमाण है ? यदि कहें कि प्रत्यक्ष प्रमाण है, क्योंकि पूर्वोक्त रीति से तत्तत् रसों के आस्वादन से उनउन चित्तवृत्तियों की उत्पत्ति का हमें अनुभव होता है, तो यह नहीं कहा जा सकता । इसका कारण है कि जैसे अग्नि का कार्य दग्ध करना है और उष्ण स्पर्श उसका गुण है और उन दोनों का पृथक्-पृथक् अनुभव होता है , उसी प्रकार रसों के कार्य द्रुत्यादि चित्तवृत्ति और उनके गुणों का अलग-अलग अनुभव नहीं होता ।

" तेषां रसधर्मत्वे किं मानम् प्रत्यक्षमेवेति चेत्, न, दाहादे: कार्यादनलगतस्योष्णस्पर्शस्य यथा भिन्न तयानुभवस्तथा द्रुत्यादिचित्तवृत्तिभ्यो रस कार्येभ्योऽन्येषां रसगतगुणानामननुभवात् ।"[1]

अनुमान का आश्रय भी नहीं किया जा सकता । इस यदि अनुमान करें कि माधुर्य आदि गुणों से युक्त ही रस, माधुर्यादीनामनुपपन्नम् , होते हैं, अत: कारणतावच्छेदक के रूप में उनका परीत्या गुणेगुणान्तरस्याना-

1- रसगङ्गाधर - पृ० ६८

तो इसका उत्तर है कि जब प्रत्येक रस बिना गुणों के ही उन वृत्तियों का कारण हो सकता है, तो गुणों की कल्पना करने में गौरव है ।

" तादृशगुणविशिष्टरसानां द्रुत्यादिकारणत्वात्कारणता-वच्छेदकतया गुणानामनुमानमिति चेत् , प्रातिस्विकरूपेणैव रसानां कारणतोपपत्तौ गुणकल्पने गौरवात् ।"[1]

यह तर्क भी निःसार है कि शृंगार, करुण और शान्त रसों में से प्रत्येक को द्रुति का कारण मानने की अपेक्षा 'तीनों माधुर्यगुणयुक्त हैं, अतः तीनों से द्रुति उत्पन्न होती है -यह मानने में लाघव है, क्योंकि मम्मट आदि ने मधुरस से द्रुति, अत्यन्त मधुरस से अत्यन्त द्रुति आदि से जो कार्यों में तारतम्य माना है, उसके कारण माधुर्य गुण से युक्त होने से रस द्रुति का कारण होता है, यह मानना केवल गड्डुभूत होगा ।

" परेण मधुरतरादिगुणानां पृथग्द्रुततरत्वादिकार्यतारतम्य-प्रयोजकतयाभ्युपगमेन माधुर्यवत्त्वेन कारणताया गड्डुभूतत्वात् ।"[2]

आशय यह है कि अन्ततः एक एक कार्य का एक एक रस को पृथक् कारण मानना ही होगा । अतः प्रत्येक रस को माधुर्य आदि का पृथक कारण मानने में ही लाघव है ।

इसके अतिरिक्त यह भी तर्क पण्डितराज ने दिया कि आत्मा निर्गुण है और रस काव्यात्मभूत है , अतः माधुर्य आदि को रस का गुण मानना युक्तियुक्त भी नहीं है । इनको रसों के उपाधिरूप रत्यादि स्थायीभावों के भी गुण नहीं माना जा सकता क्योंकि प्रथमतः इसमें कोई प्रमाण नहीं है, दूसरे मम्मट आदि के अनुसार रति आदि गुणरूप हैं, अतः वे स्वयं गुण हैं गुण में गुण का मानना ठीक नहीं है ।

" किं चात्मनो निर्गुणतयात्मरूपरसगुणत्वं माधुर्यादीनामनुपपन्नम् । एवं तदुपधाधिरत्यादिगुणत्वमपि, मानाभावात्, पररीत्या गुणेगुणान्तरस्यानौचित्याच्च ।"[3]

१- रसगङ्गाधर पृ० ६८
२- वही, पृ० ६८, ६९
३- वही पृ० ६९

शृंगाररस मधुर होता है, इस प्रकार का व्यवहार माधुर्य आदि को गुण न मानने पर भी इस तरह से होगा कि द्रुत्यादि चित्तवृत्तियों की प्रयोजकता, जो रसों में रहती है, उसे ही माधुर्य आदि समझा जाये और उसके ही रहने से रसों को मधुर आदि कहा जाता है। या द्रुति आदि चित्तवृत्तियां ही जब किसी रस आदि के साथ प्रयोजकता सम्बन्ध रखती हैं, तो उन्हें माधुर्य आदि कहा जाता है।

इस प्रकार इस पर एक कठिनाई हो सकती है कि यदि प्रयोजकता सम्बन्ध से रहने वाली द्रुति आदि चित्तवृत्तियों का नाम ही माधुर्य आदि है, तो "शृंगाररस मधुर होता है"-इत्यादि व्यवहार असंगत होगा, क्योंकि द्रुत्यादि चित्तवृत्तियां रसों में रहती तो हैं नहीं, उनसे उभार दी जाती हैं फिर रसों को माधुर्य युक्त कैसे कहा जा सकता है? इसका समाधान पंडितराज ने इस प्रकार से किया, जिस प्रकार 'वाजिगन्धा' उष्णता उत्पन्न करती है, अत: 'वाजिगन्धा उष्णा होती है' यह व्यवहार होता है, उसी प्रकार माधुर्य आदि के प्रयोजक होने से शृंगार आदि को मधुर कहा जाता है।

—" व्यवहारस्तु वाजिगन्धोष्णेति व्यवहारवदुपपद्यते व्यवहारवदतात: ।[1]

व यह प्रयोजकता अदृष्ट आदि की प्रयोजकता से भिन्न है। पण्डितराज ने इस प्रयोजकता को शब्द, अर्थ, रस और रचना-गत ही ग्राह्य माना है, अत: पूर्वोक्त व्यवहार की अदृष्ट आदि में अतिव्याप्ति नहीं हो सकती। आशय यह है कि अदृष्ट आदि की प्रयोजकता भिन्न प्रकार की। अत: अदृष्ट आदि में द्रुत्यादि प्रयोजकता होने पर भी उन्हें मधुर नहीं कहा जा सकता।

अत: इस तरह का माधुर्य शब्द और अर्थ में भी रहता है, केवल रस में ही नहीं, अत: शब्द के माधुर्य को कल्पित नहीं कहा जा सकता।

" तथा च शब्दार्थयोरपि माधुर्यादेरीदृशस्य सत्त्वादुपचारो नैव कल्प्यः इति तु मादृशाः ।"[2]

1- रसगङ्गाधर पृ० ६८
2- वही - पृ० ६८

पण्डितराज ने गुण सम्बन्धी विवेचन में अपने कुछ नवीन और दृढ मन्तव्यों का प्रकाशन किया । उन्होंने वामन के अभिमत को अस्वीकार कर ध्वनिवादियों द्वारा अभिमत गुणत्रयवाद को ही माना किन्तु जहां वामन ने गुणों को शब्द और अर्थ धर्म माना और आनन्दवर्धन एवं मम्मट ने उन्हें रस-धर्म माना, पण्डितराज ने उन्हें शब्द, अर्थ, रस और रचना का धर्म स्वीकार किया । रसमात्रधर्मता के विरुद्ध ही उन्होंने एक ओर नैयायिक दृष्टि से तर्क दिये, दूसरी आत्मस्थानीय रस के धर्म मानने पर वेदान्ती दृष्टि से असंगति की ओर ध्यान आकृष्ट किया, जिस दृष्टि को उन्होंने स्वयं प्रतिष्ठित किया गुण के सम्बन्ध में उनकी यह दृष्टि महत्वपूर्ण नवीन उपलब्धि थी ।[१]

पण्डितराज ने गुण को शौर्य आदि की भांति आत्मा का धर्म न मानकर और वामन की भांति शब्द अर्थ से भी न मानकर एक नवीन मान्यता के लिये नया आधार भी किया । उन्होंने गुण का स्वरूप 'द्रुत्यादिचित्तवृत्ति-प्रयोजक' निरूपित किया । अत: द्रुत्यादि चित्तवृत्ति प्रयोजक अथवा प्रयोजकता सम्बन्ध से द्रुत्यादिचित्तवृत्ति ही गुण है ।[२] यह प्रयोजकता शब्द , अर्थ, रस और रचना सभी में है । यहां यह उल्लेखनीय है कि पण्डितराज ने गुणों की चित्तवृत्ति रूपता का खंडन करके पुन: 'चित्तवृत्तिरूपता' की जो बात की उसमें अन्तर है । पण्डितराज ने 'चित्तवृत्तिरूपता' असमवायिकारणतासम्बन्धरूप' न मान कर प्रयोजकता सम्बन्ध से मानी ।[३]

श्री पी० सी० लाहिड़ी ~~की व्यंजकता मानने पर~~ ने पंडितराज द्वारा वर्ण आदि में गुणों की व्यंजकता मानने पर टिप्पणी की है —

१: कान्सेप्ट्स आफ रीति एण्ड गुण— पृ० २६८

२: रसगंगाधर, चंद्रिका, पृ० २०७

३: रस गंगाधर का शास्त्रीय अध्ययन, पृ० — २५४

And lastly, his description of theletters (Varna), composition (Rachana) and structures (Nirmiti or Gumpha) as the suggestors (Vyangaka) of particular Gunas shows another clear instance of Mammata's influence upon him. In the treatment of Mammata, whose Guna resides in Sabda and Aartha only secondarily, the relationship of vyangya and vyanjakabetween Gunna and on the one hand and Sabda, Rachana etc. on the other is quite justified, but in the case in the case of Jagannatha who is an adherent of the theory of Guna as a primary virtue of the Sabda, such a procedure is absolutely unwarrantable. This together with the more important position of Jagannatha regarding the question of substrata of Gunas, may be explained by the fact that he was trying to effect a synthesis of the views of the old school and those of new by borrowing materials from both. This was to a great extent responsible for the curious combination and apparent contradiction."[1]

डा० लाहिड़ी की आलोचना के सन्दर्भ में यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि पण्डितराज ने शब्द, अर्थ तथा रचना को भी द्रुत्यादि का `प्रयोजक` ही माना है, फलत: उनसे गुणों की व्यंजना ही हो सकती है। अत: शब्दादि को गुणों का व्यंजक मानने में पण्डितराज कहीं परस्पर विरुद्ध नहीं कहे जा सकते।

---

१. Concepts of Riti and Guna PP.265-266.

उन्होंने तो शब्दादि से गुणों की अभिव्यंजना में 'गुणी' रस की मध्यस्थता स्वीकार नहीं की ।

"वर्णरचनाविशेषाणां माधुर्यादिगुणाभिव्यंजकत्वमेव न रसाभिव्यंजकत्वम् ,गौरवान् मानाभावात् । न हि गुण्यभिव्यंजनं विना गुणाभिव्यंजकत्वं नास्तीति नियमः , इन्द्रियत्रये व्यभिचारात् ।"[१]

अन्य दृष्टि से भी पंडितराज के मत पर विचार अपेक्षित है । उनके अनुसार चित्तवृत्ति और गुणों में परस्पर क्या सम्बन्ध है । भट्टनायक ने 'द्रुति-विस्तर-विकासात्मना ...... भोगेन' कह कर चित्तवृत्तियों को भोग व्यापार से अभिन्न बताया और भोग को 'संविद्विश्रान्तिसतत्व' भी कहा । अभिनव ने चित्तवृत्तियों को ही गुण कहा और उन्हें रस का कार्य भी स्वीकार किया ।[२] मम्मट ने रस के धर्म आह्लादकत्व आदि को गुण माना, गुण को द्रुति आदि का कारण । विश्वनाथ ने 'चित्तद्रवीभावमय ह्लाद को माधुर्य' कह कर सभी को अभिन्न मान लिया ।[३]

पण्डितराज ने गुण और चित्तवृत्तियों को अभिन्न और चित्तवृत्तियों को प्रयोज्य प्रयोजक सम्बन्ध के सन्दर्भ में ही उन्होंने द्रुति आदि को रस का कार्य माना । किन्तु यह प्रयोजकता शब्द, अर्थ और रचना में भी विद्यमान है । ~~वह अवश्य है कि रसप्रयोज्य रसकार्यरूप द्रुत्यादि रस के बाद होगी और रचना में भी विद्यमान है ।~~ यह अवश्य है कि रस-प्रयोज्य रस-कार्यरूप द्रुत्यादि रस के बाद होगी और शब्द , अर्थ-रचना-प्रयोज्य-द्रुत्यादि रसपूर्व होकर रसपरिपाक में साधन रूप से अन्वित होगी तथा अन्ततः रस-प्रयोज्य-द्रुत्यादि में पर्यवसित होगी ।

---

१. लोचन, ध्वन्यालोक, पृ० ३०८-९ ध्वन्यालोक २।७, पृ० २०५

२. रस गंगाधर, पृ० १३३

३. साहित्यदर्पण, पृ० २६४

इस प्रकार पण्डितराज ने गुण विवेचन का जो मौलिक मार्ग अपनाया, उसमें ध्वनिवादी अन्य आचार्यों से सम्मति होते हुए भी नवीनता थी। उनके विश्लेषण से एक ओर शब्द, अर्थ तथा रचना द्वारा गुण की व्यंजनाप्रक्रिया स्पष्ट हुई दूसरी ओर इस दृष्टि से शब्दादि के महत्त्व पर नवीन प्रकाश पड़ा। पण्डितराज का गुण विवेचन अपने इन विशिष्टताओं से उनके मौलिक चिन्तन तथा प्रतिपादनपद्धति का सुन्दर उदाहरण बन गया है।

गुणों के अभिव्यंजक

गुणों के स्वरूप के साथ ही उनके व्यंजक का विवेचन भी सम्मिलित है। मम्मट के अनुसार वर्णसमूह, समास एवं रचना गुणों के व्यंजक हैं —

" वर्णाः समासो रचना तेषां व्यंजकतामिता।" [1]

अभिनव गुप्त ने भी गुणाभिव्यंजकता के सम्बन्ध में संक्षिप्त विवरण किया है।[2] किन्तु पंडितराज ने इस सम्बन्ध में विस्तृत विवेचन किया और न केवल अभिव्यंजक, अपितु वर्जनीयों के बारे में अपना निश्चित मत दिया।

माधुर्यव्यंजक रचना

विभिन्न गुणों को व्यंजित करने वाली रचनाओं का विवेचन करते हुए पंडितराज ने आकलन किये। माधुर्यगुण की व्यंजिका रचना के सम्बन्ध में, उन्होंने कहा कि टवर्ग के अतिरिक्त अन्य वर्गों के प्रथम, तृतीय अक्षर तथा श, ष, स, य, र, ल, से रचित, समीप-समीप में प्रयुक्त अनुस्वारों, परसवर्णों और केवल अनुनासिकों से युक्त, आगे वर्णित सामान्य और विशेष रूप से संयोगादिकों के स्पर्श से रहित, समास के प्रयोग से शून्य अथवा समास के कोमल प्रयोगों से युक्त रचना मधुर होती है।

तत्र टवर्गवर्जितानां वर्गाणां प्रथमतृतीयैः शभिरन्तस्थैश्च घटिता, नैकट्ये प्रयुक्तैरनुस्वारपरसवर्णैः शुद्धानुनासिकैश्च शोभिता, वक्ष्यमाणैः सामान्यतो विशेषतश्च निषिद्धैः संयोगाद्यैरचुम्बिता अवृत्तिर्मृदुवृत्तिर्वा रचनानुपूर्वात्मिका माधुर्यस्य

---

1. काव्यप्रकाश ८।७३
2. ध्वन्यालोक, पृ० २०८, २१०.

व्यंजिका ।"[1] वर्गों के दूसरे तथा चौथे वर्ण यदि दूर दूर हों, तो वे न इस गुण के प्रतिकूल होते हैं और न अनुकूल किन्तु उनके प्रयोग यदि पास-पास हों और अनुप्रास का निर्माण करते हों, तो प्रतिकूल भी हो जाते हैं। कुछ लोगों के अनुसार टवर्ग के अतिरिक्त वर्गों के पांचों वर्ण समान रूप से माधुर्यव्यंजक होते हैं।[2]

ओजोव्यंजक रचना-

ओजोगुण के बन्ध में पास-पास में प्रयुक्त वर्गों के दूसरे और चौथे वर्ण, टवर्ग के वर्ण, जिह्वामूलीय, उपध्मानीय, विसर्ग एवं सकार बहुल वर्ण, वर्णों के प्रथम, द्वितीय, तृतीय और चतुर्थ वर्णों अथवा रफघटित संयोग जिनके आगे हों, ऐसे ह्रस्व स्वर तथा बड़े बड़े समास होते हैं। इस बंध के भीतर आये वर्गों के पहले और तीसरे वर्ण यदि संयुक्त न हों, तो न अनुकूल होते हैं, न प्रतिकूल और यदि संयुक्त हों, तो अनुकूल होते हैं। अनुस्वार और परसवर्ण न अनुकूल होते हैं, न प्रतिकूल।[3]

प्रसादव्यंजक रचना-

प्रसाद गुण की रचना वाक्यार्थ को करतल पर स्थित बेर की भांति अनायास निवेदित करती है। यह गुण सभी रस, भाव आदि में रहता आदि है :-

---

१. रसगंगाधर, पृ० ८०

२. तुलनीय - " मूर्ध्नि वर्गान्त्यगा:स्पर्शा अटवर्गा रणौलघू ।
अवृत्तिर्मध्यवृत्तिर्वा माधुर्ये घटना तथा ।।"
— काव्यप्रकाश ८।७४

३. तुलनीय— " योग आद्यतृतीयाभ्यामन्त्ययो रेण तुल्ययो: ।
टादि: शषौ वृत्तिदैर्घ्यं गुम्फ उद्धत ओजसि ।।
— काव्यप्रकाश-८।७५

श्रुतमात्रा करतलबदरमिव निवेदयन्ती
घटना प्रसादस्य । अयं च सर्वसाधारणो गुणः ।"[१]

रचना के दोष–

माधुर्य, ओजस् और प्रसाद की व्यंजिका रचना के लिए कुछ सामान्यतः और कुछ विशेषतया वर्जनीय दोष हैं ।

सामान्य दोष–

एक अक्षर का साथ ही फिर से प्रयोग, यदि एक पद में एक बार हो, तो सुनने में कुछ अनुचित प्रतीत होता है, किन्तु यदि वही बार बार हो, तो अधिक अनुचित मालूम होता है । इसी प्रकार भिन्न भिन्न पदों में बार-बार हो तो, और भी अनुचित होता है ।

इसी तरह पहले जिस वर्ग का वर्ण आया है, उसके साथ ही साथ उसी वर्ग के अन्य वर्णों का प्रयोग, यदि एक पद में और एक बार हो तो, कानों को कुछ अनुचित लगता है, पर यदि बार बार हो तो अधिक अश्रव्य होता है । इसी तरह भिन्न भिन्न पदों में हो, तब भी अधिक अश्रव्य होता है और यदि भिन्न भिन्न पदों में बार बार हो, तो और भी अधिक अश्रव्य होता है ।

यह एक वर्ग के अक्षरों का सह प्रयोग पहले के बाद दूसरे और तीसरे के बाद चौथे का हो, तभी अनुचित होता है । पहले और तीसरे एवं दूसरे और तीसरे और का प्रयोग तो उतना अश्रव्य नहीं होता, कम अश्रव्य होता है ।

---

१. रसगंगाधर, पृ० ८१-८२
तुलनीय –

" श्रुतिमात्रेण शब्दात्तु येनार्थप्रत्ययो भवेत् ।
साधारणः समग्राणां स प्रसादो गुणो मतः ।।"
– काव्यप्रकाश–८।७६

जिसे रचनामर्मज्ञ ही समझ सकते हैं। यह अर्थात् पहले के बाद तीसरे का और दूसरे के बाद तीसरे का प्रयोग भी यदि बार बार हुआ, तो उसे साधारण लोग भी समझ सकते हैं। पंचम वर्णों का अपने वर्ग के वर्णों के पहले या पीछे आना बुरा नहीं प्रतीत होता, किन्तु एक ही वर्ण का साथ ही साथ यदि बार बार प्रयोग हो, तो उनका प्रयोग भी अश्रव्य होता है।

ये अश्रव्यताएं कुछ गुरु वर्ण के बीच में आ जाने से हट जाती हैं। यह गुरुस्वर जिन दो वर्णों के बीच में आता है, उन दो में एक के बाद दूसरे के आने के कारण जो अश्रव्यता उत्पन्न होती है, उसे ही दूर करता है। इसी प्रकार तीन तथा तीन से अधिक वर्णों का संयोग भी अश्रव्य होता है। पूर्वपद के अन्त में दीर्घ हो और उसके आगे दूसरे पद में संयोग हो तो, तो उसका एक बार भी प्रयोग अश्रव्य होता है। यदि बार बार हो तो बहुत अधिक अश्रव्य होता है।

~~ये अश्रव्यताएं गुरु वर्ण के बीच में आ जाने से हट जाती हैं। यह~~ गुरुस्वर परसवर्ण के कारण जो संयोग होता है, उसका दीर्घ के अनन्तर विद्यमान होना नाममात्र भी अश्रव्य नहीं होता, क्योंकि वह सर्वथा भिन्न पद में नहीं होता और मधुर भी होता है। पूर्वोक्त भिन्न पदगत संयोग आदि यदि बार बार आवे, तो अत्यन्त कर्णकटु हो जाता है।

इन अश्रव्यताओं के कारण काव्य पंगु सा लगता है, उसकी सरस धारा में अवरोध आ जाता है, अतः इनका परिहार आवश्यक है :—

"इदं चाश्रव्यत्वं काव्यस्य पंगुत्वमिव प्रतीयते।"[1]

सन्धि के सम्बन्ध में यह उल्लेखनीय है कि सन्धि का अपनी इच्छानुसार एक बार भी तिरस्कार अश्रव्य होता है, किन्तु प्रगृह्य संज्ञा के कारण होने वाली असन्धि यदि बार बार आवे तभी अश्रव्य होती है। इसी प्रकार `य्` `व्` के लोप के कारण जो सन्धि नहीं की जाती, यदि वह बार बार न की जाये तभी अश्रव्य होती है।

इसी तरह `ल` के `ड`, ख् पर रहने पर `य्` के लोप, यण्,

1- रसगङ्गाधर - पृ० ८५

गुण, वृद्धि, सवर्णदीर्घ, पूर्वरूपादिकों के पास पास में अधिक प्रयोग भी अश्रव्यता के कारण होते हैं ।

उपर्युक्त सभी अश्रव्य भेद सभी काव्यों में वर्जनीय हैं । किसी रस के वर्णन में इन अश्रव्यताओं का न आने देना ही उचित है ।[१]

विशेष दोष :—

विशेषतया वर्जित जो दोष मधुर रसों में निषिद्ध हैं, वे ओजस्वी रसों के अनुकूल होते हैं और जो मधुर रसों के अनुकूल होते हैं, वे ओजस्वी रसों के प्रतिकूल होते हैं,।

" तत्र मधुररसेषु ये विशेषतो वर्जनीया अनुपदं वक्ष्यन्ते त एवौजस्विष्वनुकूला:, ये चानुकूलतयोक्तास्ते प्रतिकूला इति सामान्यतो निर्णय: ।"[२]

मधुररसों में निषिद्ध :—

मधुर रसों में लम्बे समासों, वर्गों के प्रथम, द्वितीय, तृतीय , चतुर्थ वर्णों के संयोगपर ह्रस्वों, विसर्गों, विसर्गों के आदेशभूतसकारों, जिह्वामूलीय, उपध्मानीय, टवर्ग के वर्ण और प्रत्येक वर्ग के आदि चार वर्णों, रेफ तथा हकार से निर्मित संयोगों को छोड़ना चाहिए । ल, म, न के अतिरिक्त अन्य व्यंजनों के उन्हीं के साथ संयोगों से-चतुर्थ अर्थात् उनके द्वित्वों और वर्गों के प्रथम से चतुर्थ पर्यन्त वर्णों में से किन्हीं दो संयोगों के पास पास बार बार के प्रयोगों को छोड़ना चाहिए । जिनके स्थान और प्रयत्न समान हों—ऐसे वर्गों के प्रथम से चतुर्थ तक के वर्णों के संयोग और श, ष, स के अतिरिक्त किसी महाप्राण अक्षर से निर्मित संयोग का एक बार भी प्रयोग न आने देना चाहिए ।

इसी तरह `त्व` प्रत्यय , यङन्त, यङ्लुगन्त तथा अन्य इसी

---

१. रसगंगाधर, पृ० ८३-८५

२ " " " ८५

प्रकार के वैयाकरणप्रिय प्रयोगों को मधुर रसों में प्रयुक्त न करना चाहिए ।

पण्डितराज ने यमक और अनुप्रास के प्रयोगों के प्रति विशेषरूप से साव-धान किया है । व्यंग्यों के आस्वादन से पृथक्, विशेष प्रकार की योजना की अपेक्षा रखने वाले, ऊपरी तौर से अधिक चमत्कारी अनुप्रासों के समूहों तथा यमकादिकों को, यद्यपि वे बन सकते हों, तथापि प्रयोग न करना चाहिए ।

" एवं व्यंग्यचर्वणातिरिक्त विशेषापेक्षान् आपाततोऽधिकचमत्कारिणोऽनुप्रास निचयान् यमकादींश्चसंभवतोऽपि कविर्ननिबध्नीयात् ।"

क्योंकि यदि ये अधिक और प्रधान हुए, तो उनका समावेश रस चर्वणा में नहीं हो सकेगा और वे सहृदय लोगों को अपनी तरफ खींच कर, रसपराङ्मुख कर देंगे । विप्रलम्भ शृंगार में तो इस बात का पूर्ण ध्यान रखना चाहिए, क्योंकि वह मधुरतम होता है और जैसे निर्मल मिश्री से निर्मित पानक रस में थोड़ी सी भी दूसरी चीज़ अपनी स्वतंत्रता जमाने लगे, तो सहृदयों को पसन्द नहीं आती उसी तरह विप्रलम्भ शृंगार मे भी । पण्डितराज का इस सम्बन्ध में ध्वनि-कार से पूर्ण मतैक्य है :—

ध्वन्यात्मभूते शृंगारे यमकादिनिबन्धनम् ।
शक्तावपि प्रमादित्वं विप्रलम्भे विशेषत: ।। "[1]

परन्तु जो अनुप्रासादि क्लिष्ट तथा विस्तृत न होने के कारण पृथक् अनुसन्धेय नहीं होते, अपितु रसों के आस्वादन में ही सुखपूर्वक आस्वादनीय होते हैं उन्हें छोड़ना भी नहीं चाहिए ।

इस विशेष और साधारण दोषों से रहित, माधुर्य के भार से फटे से पड़ते सुन्दर पदों और वर्णों के विन्यास से युक्त, निर्माता की व्युत्पत्ति की प्रकाशिका, प्रसादगुणमयी और पूर्णपरिपक्व वृत्ति को वैदर्भी कहते हैं ।

---

१. ध्वन्यालोक: २।१४,१५

इस रीति के निर्माण में अत्यन्त सावधानी बरतनी चाहिए, अन्यथा परिपाक भंग हो जाता है।

पंडितराज ने ध्वनिमार्ग के अनुरूप इन गुणों की व्यंजिका रचनाओं और उनके सामान्य विशेष दोषों का जितना सूक्ष्म विवेचन किया, वह काव्य-शास्त्र की बहुमूल्य संपत्ति है। इस विवेचन में उनकी अपनी काव्य-सर्जनात्मक प्रतिभा और अनुभव का योग है। अतएव अत्यन्त सन्तुलित और स्पष्ट दृष्टि के साथ उन्होंने काव्य रचना के इस पक्ष का सुन्दर आकलन किया।

चतुर्थ अध्याय

भाव और ध्वनि

भाव

रसों और गुणों के विवेचन के अनन्तर पण्डितराज ने भावों का विवेचन किया है। सर्व प्रथम उन्होंने 'भाव' के स्वरूप पर ही विचार किया, 'भाव' के लक्षण निर्धारण की प्रक्रिया में भी उन्होंने क्रमिक तर्क रखे हैं। 'विभाव और अनुभाव के अतिरिक्त जो रसव्यंजक हों, उन्हें भाव कहते हैं' यह लक्षण नहीं किया जा सकता, क्योंकि इस लक्षण से रसों को प्रतिपादित करने वाले काव्य की पदावलि में अतिव्याप्ति हो जायगी। अर्थों के द्वारा शब्द भी रस को ध्वनित करते हैं। इस लक्षण में इतना और परिष्कार कर देने पर —जो बिना किसी के द्वारा रसों के अभिव्यंजक हों —पदावलि में अतिव्याप्ति का परिहार तो जायेगा किन्तु लक्षण में स्वयम् असम्भवदोष आ जायेगा। स्वयम् 'भाव' भी 'पुन: पुन: अनुसन्धान के द्वारा ही रस को अभिव्यक्त करते हैं, उपर्युक्त परिष्कार जोड़ देने पर इनमें ही भावलक्षण घटित न होगा। इसके अतिरिक्त 'पुन: पुन: अनुसन्धान अर्थात् भावना में अतिव्याप्ति हो जायगी।

'अथ किं भावत्वम्? विभावानुभावभिन्नत्वे सति रसव्यंजकत्वमिति चेत्, रसवाक्येऽतिव्याप्त्यापत्तेः। अर्थद्वारा शब्दस्यापि व्यंजकत्वात्। द्वारान्तरनिरपेक्षत्वेन व्यंजकत्वे विशेषिते त्वसम्भवः प्रसज्येत। भावस्यापि भावनाद्वारैव व्यंजकत्वात्, भावनायामतिव्याप्तेश्च।'[१]

इसी तरह 'विभावों, अनुभावों और शब्द के अतिरिक्त —यह कर देने पर भी, 'भावना' में अतिव्याप्ति तो बनी ही रहेगी, और जो भाव प्रधानतया ध्वनित होता है, वह रसों का व्यंजक नहीं होता, उसमें लक्षण की अव्याप्ति रहेगी जहां भाव प्रधानतया ध्वनित होता है वहां भी अन्तत: रस

---

१. रसगंगाधर, पृ० ६१

की अभिव्यक्ति तो होती ही है। यह मान कर भाव में रसव्यंजकता और इस प्रकार लक्षण का समन्वय करना चाहें तो 'भावध्वनि' का लोप ही हो जायेगा —

"न च तत्रापि प्रान्ते रसोऽभिव्यज्यत एवेति वाच्यम्, भावध्वनिविलोपप्रसंगात्।"[१]

यदि यह कहें कि भाव के अधिक चमत्कारी होने के कारण उसे 'भावध्वनि' कहा जाता है और अन्तत: वहां रस अभिव्यक्त होने पर भी, उसके चमत्काररहित होने से उसे 'रसध्वनि' नहीं कहा जाता, तो यह कथन भी गलत है, क्योंकि रस चमत्काररहित होता ही नहीं। जिस प्रमाण से रस के अस्तित्व का समर्थन होता है वही यह भी सिद्ध करता है कि रस आनन्दांश से रहित होता ही नहीं —

"रसेधर्मिग्राहकमानेनानन्दांशाविनाभावस्य प्रागेवावेदनात्।"[२]

रस की अपेक्षा गौण होने पर भी वाच्य से श्रेष्ठ होने के कारण राजा द्वारा अनुगम्यमान दूल्हा बने अनुचर की भांति रस की अपेक्षा 'भाव' का प्राधान्य बना रहेगा अतएव 'भावध्वनि' का लोप न होगा।[३] इस तर्क को ध्यान में रख कर 'प्रधानतया ध्वनित होने वाले' भाव को भी अन्तत: रसाभिव्यंजक मान लेने पर भी देश, काल, अवस्था आदि अनेक पदार्थों से घटित पदार्थों में अतिव्याप्ति हो जायगी, क्योंकि वह विभाव, अनुभाव

---

१. रसगंगाधर, पृ० ६२

२. वही, पृ० ६२

३. "रसं प्रति गुणीभूतत्वेऽपि वाच्यातिशायिध्वनित्वं राजानुगम्यमानविवाहप्रवृत्तभृत्यस्येव रसापेक्षयापि हि अस्य प्राधान्यमस्ति। अतएव न भावध्वनिविलोप इति भाव:।"

से अतिरिक्त भी है और रसाभिव्यंजक भी ।

'रस को अभिव्यक्त करने वाले आस्वादन की विषयभूत चित्तवृत्ति' को भी 'भाव नहीं कह सकते, क्योंकि —

"कालागुरुद्रवं सा हालाहलवद्विजानती नितराम् ।
अपि नीलोत्पलमालां बाला व्यालावलिं किलामनुते ।।" [१]

इत्यादि स्थलों में सहृदय भावक को जो 'हालाहलवत्' होने के ज्ञान में भी अतिव्याप्ति हो जायेगी, क्योंकि यह ज्ञान विप्रलम्भ का अनुभाव है, उसके द्वारा उत्पन्न हुआ है । अत: रस को ध्वनित करने वाले आस्वादन में आता भी है, क्योंकि भावों के समान अनुभाव भी आस्वाद्य हैं, वह ज्ञान है, अत: चित्तवृत्ति रूप भी है ।

भावों में विद्यमान 'भावत्व' अखण्ड उपाधि है, अत: भाव के लक्षण की आवश्यकता नहीं है, यह नहीं कहा जा सकता, क्योंकि 'भावत्व' को अखण्ड मानने में प्रमाण नहीं है ।

अत: भाव का लक्षण है — 'विभावादि के द्वारा व्यज्यमान हर्ष आदि में से कोई एक भाव कहलाता है'—

"विभावादिव्यज्यमानहर्षाद्यन्यतमत्वम् तत्त्वम् ।"

पण्डितराज ने भाव का यह लक्षण प्रस्तुत कर सारी ध्वनिवादी परम्परा की दृष्टि को पूर्णता प्रदान की ।

भरत ने भाव का लक्षण करते हुए कहा —

"कवेरन्तर्गतं भावं भावयन् भाव उच्यते ।।
नानाभिनयसम्बद्धान् भावयन्ति रसानिमान् ।
यस्मात्तस्मादमी भावा विज्ञेया नाट्ययोक्तृभि: ।।" [२]

---

१. रसगंगाधर, पृ० ६३

२. नाट्यशास्त्र, भाग १, पृ० ३४६

भरत ने एक ओर काव्यार्थ भावक को 'भाव' कहा, दूसरी ओर 'विभाव से आहृत और अनुभावों, वाचिक, आंगिक, सात्त्विक अभिनयों द्वारा गम्य' को भाव कहा। इस प्रकार उन्होंने 'भाव' की स्वयम् आख्यता तथा उनके द्वारा काव्यार्थ का भावन-व्यंजन— इन दो रूपों को कहा। इसमें ८ संचारी, तैंतीस संचारी और आठ सात्त्विक सभी आ गये।

अभिनव ने इसकी व्याख्या करते हुए स्पष्टत: 'भाव' को 'चित्त-वृत्ति विशेष' कहा।[१] धनंजय-धनिक ने 'काव्य या अभिनय में उपनिबद्ध आश्रय (दुष्यन्तादि) के सुख-दु:ख आदि भावों के द्वारा सामाजिक के हृदय का उस भाव से भावित होना' भाव माना।[२] इनके लक्षण में स्थायी और संचारी का भी आलिंगन होता है।

आचार्य मम्मट ने 'देवादिविषया रति और अंजित व्यभिचारी को भाव'[३] कहा। विश्वनाथ ने उद्बुद्ध मात्र स्थायी को भी इसमें सम्मिलित करना चाहा।[४] प्रदीपकार ने भी मम्मट की व्याख्या करते हुए अपुष्ट स्थायिमात्र को भाव कहना चाहा। यही नागेश आदि को भी अभिप्रेत है।[५]

स्थायी प्रधानीभूत स्थिति में व्यंजित होने पर रस होते हैं, अप्रधानीभूत होने पर रसवदलंकार अथवा 'अपरांग' गुणीभूत व्यंग्य होंगे। विभावादि से अपुष्ट रहने के कारण अप्रधान होने पर वे प्रधान रस के संचारी

---

१. अभिनव भारती, नाट्यशास्त्र, भाग १, पृ० ३४६

२. दशरूपक, ४।४

३. काव्यप्रकाश—उल्लास ४ : सूत्र ४८ वृत्ति।

४. साहित्यदर्पण ३।२३५

५. प्रदीप, पृ० १२६

नागेश —उद्योत, पृ० १२६

ही रहते हैं । अतः उद्बुद्धमात्र स्थायी को भावध्वनि में रखा नहीं जा सकता ।

इन्हीं विभिन्न पक्षों पर विचार कर पंडितराज ने अपना 'भाव' लक्षण प्रस्तुत किया । उसे उन्होंने मम्मट के अनुकूल बताया । पंडितराज के इस लक्षण में रस के व्यंजक और प्रधानतया व्यंजित दोनों प्रकार के भाव आ जाते हैं । इसमें स्थायी और सात्त्विक का सन्निवेश नहीं होता । पण्डितराज ने इस प्रकार 'भाव' को विभाव, अनुभाव, रस का आव्य वाक्य, भावना आदि से पृथक् 'भावध्वनि' के स्तर पर विवेचित किया । आचार्य मम्मट द्वारा उपस्थापित दृष्टि की यह सजग परिणति थी ।

हर्षादि का परिगणन उन्होंने इस प्रकार किया :--

" हर्षस्मृतिव्रीडामोहधृतिशंकाग्लानिदैन्यचिन्तामदश्रमगर्वनिद्रा-मतिव्याधित्राससुप्तविबोधामर्षावहित्थोग्रतोन्मादमरणवितर्कविषादौत्सु-क्यावेगजडतालस्यासूयापस्मारचपलता: । प्रतिपदाकृतधिक्कारादिजन्या निर्वेदश्चेति त्रयस्त्रिंशत् । गुरुदेवनृपपुत्रादिविषया रतिश्चेति चतुस्त्रिंशत् ।"[१]

भावों का ध्वननप्रकार --

भावों के ध्वनन के सम्बन्ध में पंडितराज ने तीन मतों का उल्लेख किया है । सामाजिकगत हर्ष आदि भावों की भी अभिव्यक्ति स्थायीभावों की तरह होती है । कुछ विद्वानों के अनुसार ये भाव भी रस की भाँति अभिव्यक्त होते हैं । अन्य विद्वानों के अनुसार इनकी अभिव्यक्ति वस्तु, अलंकार आदि अन्य व्यंग्यों की भाँति ही होती है ।

स्थायीभावन्याय से व्यभिचारीभावों के ध्वनन मानने का अभिप्राय यह है कि वासना रूप से सामाजिकों में वर्तमान तथा काव्य अथवा नाटक से उपस्थितकिये गये अनुकूल-प्रतिकूल सभी प्रकारों के भावों से अनभिभवनीय स्थायिभावों की अपनी अभिव्यक्ति सामग्री से स्थिर अभिव्यक्ति होती है, उसी प्रकार इनकी भी अभिव्यक्ति होती है ।

---

१. रसगंगाधर, पृ० ९४-९५

रसन्याय से अभिव्यक्ति का आशय है कि जैसे सहृदय में स्वत: वर्तमान भी आत्मानन्द अविद्या से आवृत रहता है, पर काव्यगत अलौकिक व्यापार से अविद्यात्मक आवरण की निवृत्ति हो जाने पर वह आत्मानन्द प्रकाशित हो जाता है और उस भग्नावरण चिद्‌विशिष्टस्थायी को रस कहते हैं , उसी प्रकार आवरण युक्त चिद्विशिष्ट हर्ष आदि की अभिव्यक्ति होती है ।

व्यंग्यान्तरन्याय मे मानने का आशय है कि जैसे काव्यादि के शब्दों से वाच्यार्थोपस्थिति के बाद वक्ता और बोद्धव्य आदि के ज्ञान द्वारा वस्तु, अलंकार रूप संलक्ष्यक्रम व्यंग्य सहृदयों के हृदय में अभिव्यक्त होते हैं , उसी प्रकार हर्ष आदि भाव भी संलक्ष्यक्रमरूप में ही अभिव्यक्त होते हैं ।

भावों के व्यंजक--

भावों के अभिव्यंजक केवल विभाव और अनुभाव ही हैं । एक व्यभिचारी भाव को ध्वनित करने में दूसरे व्यभिचारी भाव को व्यंजक मानना आवश्यक नहीं, क्योंकि ऐसा मानने पर वही प्रधान हो जायगा । जिस प्रकार एक अभिव्यक्त होता है, उसी प्रकार दूसरा, फिर किसी एक को अभिव्यंजक कैसे माना जा सकता है । अत: भावों के दो व्यंजक मानना ही उचित लगता है । परन्तु वास्तविक बात तो यह है कि प्रकरणादि के अधीन होने के कारण यदि एक भाव प्रधान हो और उसको ध्वनित करने वाली सामग्री के द्वारा, अन्य भाव से रहित केवल प्रधान भाव ही ध्वनित न होता हो , अत: यदि कोई अन्य भाव भी अभिव्यक्त हो जाय और भाव प्रकरणप्राप्त की अपेक्षा हीन होने के कारण उसका अंग बन जाय तो कोई क्षति नहीं है । जैसे अमर्ष आदि में गर्व और गर्व आदि में अमर्ष ।

ऐसी स्थिति में उस काव्य को एक भाव की अपेक्षा, दूसरे भाव के गौण होने के कारण गुणीभूत व्यंग्य नहीं कह सकते , क्योंकि जो भाव

पृथक् विभावों और अनुभावों द्वारा अभिव्यक्त हुआ हो और जिसका अनुभाव विभाव के रहने से अभिव्यक्त होना आवश्यक हो, तो उसे गुणीभूत व्यंग्य कहा जा सकता है, अन्यथा गर्वादि की ध्वनि का विलोप ही हो जायेगा, क्योंकि वे कभी अमर्षादि से रहित ध्वनित ही नहीं होते।

विभाव शब्द से ही यहां व्यभिचारी भाव का साधारण निमित्त कारणमात्र लिया जाता है, रस की तरह उसका सर्वथा आलम्बन और उद्दीपन हो सके तो कोई निषेध भी नहीं है।

व्यभिचारियों के भी व्यभिचारी भाव होते हैं, इस धारणा का अभिनव गुप्त ने खंडन किया है --

" व्यभिचारिणामपि च व्यभिचारिणो भवन्ति, यथा निर्वेदस्य चिन्ता, श्रमस्य निर्वेद इत्यादि निरूपयन्ति। तच्चासत्।" [१]

अभिनवगुप्तपादाचार्य ने इस धारणा के विरुद्ध तर्क किया है कि स्थायियों की व्यभिचारिता होती है, व्यभिचारियों की स्थायिता नहीं होती। यदि ऐसा हो तो उनके आस्वाद में रसान्तर भी मानने पड़ेंगे। इसलिए जहां व्यभिचारी में व्यभिचारी संभावित है-- जैसे पुरुरवा के उन्माद में तर्क, चिन्ता आदि, वहां यह नहीं कहा जा सकता कि एक व्यभिचारी का पोषण अन्य कर रहा है, अपि तु सब व्यभिचारी मुख्य स्थायिभाव का ही पोषण करते हैं।

किन्तु ऐसा प्रतीत नहीं होता कि भरत अभिनव की इस धारणा के अनुकूल हैं। उन्होंने 'दैन्य' का लक्षण देते हुए उसे 'चिन्ता-औत्सुक्य समुत्थ' कहा है। [२] इसी प्रकार असूया को गर्व का अनुभाव बताया है। [३]

---

१. नाट्यशास्त्र, भाग १, पृ० ३४५

२. ,, ,, पृ० ३६१

३. नाट्यशास्त्र, भाग १, पृ० ३६६

औत्सुक्य में चिन्ता और निद्रा दिये गये हैं, यहां और दूसरे कई व्यभिचारी आते हैं तथा इसी प्रकार विषाद में भी ।

इसके अतिरिक्त लोचन में अभिनव ने 'क्वाकार्यं शशलक्ष्मण:' + इत्यादि श्लोक में भावशबलता बतलायी है । उनके अनुसार इस श्लोक में — वितर्क-औत्सुक्य, मति-स्मरण शंका-दैन्य और धृति-चिन्ता ये चार परस्पर बाध्यबाधकभावापन्न भावयुग्म हैं । उनके अनुसार पर्यन्त में चिन्ता ही प्रधान रूप में परमास्वादस्थान है ।[१]

पण्डितराज इस कठिनाई से अवगत थे, अतएव सामान्यतया व्यभिचारी का व्यभिचारी स्वीकार कर उसे स्थायिकोटि देने के लिए वे कथमपि प्रस्तुत नहीं है, किन्तु कहीं प्रकरणादिवशात् प्रधानभूत व्यभिचारी के नान्तरीयकरूप में व्यक्त कुछ अन्य व्यभिचारी की अंगता वे स्वीकार करते हैं । इसीलिए रस की भांति व्यभिचारी के लिए वे पूर्ण आलम्बन उद्दीपन की अनिवार्यता स्वीकार नहीं करते :—

'नत्वैकस्मिन् व्यभिचारिणि ध्वन्यमाने व्यभिचार्यन्तरं व्यंजकतयावश्यमपेक्ष्यते, तस्यैव प्राधान्यापत्तेः । वस्तुतस्तु प्रकरणादिवशात् प्राधान्यमनुभवति कस्मिंश्चिद्भावे तदीय सामग्री-व्यंग्यत्वेन नान्तरीयकतया तन्निमानभावहतौ व्यभिचार्यन्तरस्यांगत्वेऽपि न क्षतिः ।'[२]

आपाततः उनका दृष्टिकोण यही है कि व्यभिचारी का व्यंजक व्यभिचारी हो सकता है, किन्तु वह इतना लघु और नान्तरीयकतया स्थित रहता है कि व्यभिचारी रसत्व को नहीं प्राप्त कर सकता ।

अभिनवगुप्तपादाचार्य ने स्पष्ट कर दिया है कि भावध्वनि इत्यादि रसध्वनि के ही निष्यन्द हैं । जहां रस का कोई एक अंश प्रधानरूप से प्रयोजक

---

१. नम्बर आफ रसाज़- पृ० ११४-१५

२. रसगंगाधर, पृ० ६४

होता है वहां पर पृथक् रूप में उसी के अंश के नाम पर विशेष रूप से व्यवस्था की जाती है। उदाहरण के लिए यदि कोई पेय विभिन्न द्रव्यों से तैयार किया जाय और उनकी सम्मिलित सुगन्धि का उपभोग भी किया जा रहा हो, तथापि लोग पृथक् करके कहते हैं कि जटामासी की विशेष सुगन्ध है (और उसे जटामांसी का शर्बत कह सकते हैं।) इसी प्रकार शृंगारादि रस में किसी एक भाव का विशेष रूप से नाम ले लिया जाता है और उसे भावध्वनि की संज्ञा प्राप्त हो जाती है। रसध्वनि वहीं पर होती है जहां पर विभाव, अनुभाव और संचारीभाव के संयोग स्थायीभाव की प्रतिपत्ति हो और सहृदय स्थायी भाव के प्रकर्ष से आस्वाद का अनुभव करे।[१]

भावों की संख्या--

रसों की संख्या के सम्बन्ध में जिस प्रकार भरतानुमोदित मत को स्वीकार करने के लिए ध्वनिवादी आचार्यों का आग्रह था, उसी प्रकार भावों के सम्बन्ध में भी उनका दृष्टिकोण रहा है। भरत ने ३३ भावों का आकलन किया है। यह महत्त्वपूर्ण है कि तैंतीस की यह संख्या सर्वथा अन्तिम नहीं है। आधुनिक मनोवैज्ञानिक दृष्टि से विवेचन कर भरत द्वारा परिगणित भाव और उनके वर्गीकरण के आधार को ही चुनौती दी जा चुकी है, किन्तु यदि इस दृष्टिकोण को छोड़ भी दें, तब भी स्थायिभाव व्यभिचारीभाव बन जाते हैं --यदि हम स्वीकार करते हैं, तो तैंतीस की संख्या में आठ और जोड़ना पड़ेगा। उस दशा में कई व्यभिचारी गतार्थ हो जायेंगे। जब `शोक` को व्यभिचारी मानलेने पर `त्रास` गतार्थ हो जाता है। सागरनन्दिन् तो `त्रास` को स्थायी के रूप में अंकित करते हैं। `क्रोध` के व्यभिचारी बनने पर `अमर्ष` गतार्थ हो जाता है। इस तरह ३० व्यभिचारी ही बचते हैं। `ग्लानि` और `श्रम` में से एक ही पर्याप्त है। इसी प्रकार `निद्रा` और `सुप्त` में बड़ा

---

१. लोचन, पृ० १७६

सूक्ष्म अन्तर है। इनमें से एक निकाला जा सकता है। कुछ ने `सुप्त` के स्थान `शौच` व्यभिचारिभाव लिया भी है।[१]

दूसरी और भरत की सूची में कुछ नये व्यभिचारी जोड़ने की चेष्टा की गयी है। भोज ने `शृंगारप्रकाश` में `अपस्मार` और `मरण` को छोड़कर `ईर्ष्या` (जिसका शिंगभूपाल खंडन करते हैं) और `शम` को जोड़ा है। सरस्वतीकण्ठा-भरण में उन्होंने तैंतीस में `स्नेह` को जोड़ा है, जिसका शिंगभूपाल ने खंडन कर दिया है। शिंगभूपाल ने `शम` का खंडन कर शान्त स्थायी `धृति` को मानते हुए कहा है कि उद्वेग, स्नेह, दम्भ, ईर्ष्या का इन्हीं तैंतीस में अन्तर्भाव हो जायगा। भानुदत्त ने `छल` को अधिक व्यभिचारिभाव माना है[२] और इसकी स्थिति शृंगार, रौद्र तथा हास्य में बतायी है, किन्तु इसे `अवहित्थ` में अन्तर्भूतकिया जा सकता है। रूपगोस्वामी ने प्रथमत: तैंतीस व्यभिचारिभाव ही माने, किन्तु फिर तेरह व्यभिचारी सामान्य रूप से और कुछ अन्य को विशेष रसों में गिनाया। डा० दे के अनुसार ये तेरह अतिरिक्त व्यभिचारी रूपगोस्वामी द्वारा परम्परागत तैंतीस में से किसी न किसी में अन्तर्भावित कर दिये गये हैं।

पण्डितराज के सामने भी यह प्रश्न था। उन्होंने तैंतीस व्यभिचारी गिनाये और कान्तकान्ताविषयकरति को स्थायी माना। किन्तु पुत्रदेवादि-विषयक-रति को व्यभिचारी मानते हुए इन्हें चौंतीस माना। यह भरतानुमोदित है, यही उनका दृष्टिकोण है। अब प्रश्न है कि जब काव्यों में मात्सर्य, उद्वेग, दम्भ, ईर्ष्या, विवेक, निर्णय, क्लैव्य, क्षमा, कौतूहल, उत्कण्ठा, विनय, नम्रता, संशय और धृष्टता आदि भाव दिखाई देते हैं, तो

---

१. द नम्बर आफ रसाज़—पृ०, १५८-६

२. भानुदत्त—रसमंजरी, अध्याय ५

यह संख्या ही अन्तिम कैसे ? इसका उत्तर उन्होंने यह दिया कि पूर्वोक्त भावों में उनका भी समावेश हो जाता है ।

" उक्तेष्वेवैषामन्तर्भावेन संख्यान्तरानुपपत्ते: ।" [1]

अत: उन्हें पृथक् गिनने की आवश्यकता नहीं है । यद्यपि असूया से मात्सर्य का, त्रास से उद्वेग का, अवहित्थ से दम्भ का, अमर्ष से ईर्ष्या का मति से विवेक का और निर्णय का, दैन्य से , क्लैव्य का, धृति से क्षमा का, दैन्य से औत्सुक्य से कौतूहल और उत्कण्ठा का, लज्जा से , विनय का, तर्क से संशय का और चपलता से धृष्टता का सूक्ष्म भेद है, तथापि वे भाव एक दूसरे के बिना नहीं रह सकते , अत: उन्हें पृथक नहीं माना गया, क्योंकि जहां तक भरतमुनि के वचन का पालन हो सके उच्छृंखलता अनुचित है ।

" मुनिवचनानुपालनस्य संभव उच्छृंखलताया अनौचित्यात् ।" [2]

इसी श्रद्धाबुद्धि के कारण ही उन्होंने भरत की सूची में न्यूनता और आधिक्य को बचाने की चेष्टा की ।

इन संचारिभावों में कुछ भाव अन्य भावों के विभाव और अनुभाव हो जाते हैं, जैसे ईर्ष्या निर्वेद का विभाव है और असूया का अनुभाव । चिन्ता का औत्सुक्य का अनुभाव है । यहां चिन्ता को निद्रा का विभाव सम्भवत: शीघ्रता में उन्होंने लिख दिया ।

अभिनवगुप्त ने इस प्रश्न को स्पष्ट कर दिया है कि कभी कभी चमत्कार की अधिकता विभाव और अनुभाव के कारण भी देखी जाती है, अत: भावध्वनि के समान ही विभावध्वनि और अनुभावध्वनि भी क्यों न मानी जाय ? इसका उत्तर देते हुए उन्होंने कहा कि विभाव और अनुभाव

---

१. रसगंगाधर, पृ० ११६

२. ,, ,, ११६

सर्वदा वाच्य ही होते हैं, व्यंग्य कभी नहीं होते । अत: विभाव-ध्वनि और अनुभाव-ध्वनि नहीं होतीं । विभाव और अनुभाव की चर्वणा का पर्यवसान भी चित्तवृत्ति में ही होता है, अत: उनका आस्वाद रस और भाव से पृथक् नहीं हो सकता । यदि विभाव और अनुभाव को कभी व्यंग्य माना भी जाय तो उसे भावध्वनि नहीं, बल्कि वस्तु-ध्वनि ही कहा जायगा ।[१]

हमने इस समस्त विवेचन में देखा कि पण्डितराज ने `भाव` सम्बन्धी विवेचन को निश्चित दिशा देकर उन्हें भरत और ध्वनिवादी मार्ग के अनुकूल परिणति दी । वे भावों को `चित्तवृत्ति` रूप मानते हैं और उनकी भरतोक्त संख्या में वृद्धि नहीं करते । आचार्य भरत ने इन भावों का विस्तृत विवेचन करते हुए स्वरूप बताया और उनका अनुभाव भी निर्दिष्ट किया । पण्डितराज ने भी भावों के स्वरूप आदि का स्पष्ट विवेचन किया और उनकी चित्तवृत्ति-रूपता को स्पष्ट किया ।[२] पण्डितराज ने भाव ध्वनियों के विभाव, अनुभाव तथा संचारी का सूक्ष्म विवेचन कर` भावध्वनि` की स्वतंत्र सत्ता की स्थापना की । एतत्सम्बन्धी समस्त विषयों पर विचार करते हुए पण्डितराज ने जो विवेचन प्रस्तुत किया, वह संस्कृत काव्यशास्त्र में अद्वितीय है ।

---

१. लोचन, पृ० ७७

२. रसगंगाधर, पृ० ९५-११८

रसाभास

रसादि-ध्वनि के प्रसंग में रसाभास पर विचार करना भी आवश्यक है। पंडितराज ने रसाभास की परिभाषा करते हुए इस पूर्व-पक्ष को उठाया है कि अनुचित विभाव को आलम्बन कर यदि रति आदि का अनुभव किया जाय तो 'रसाभास' हो जाता है। विभाव के अनौचित्य का निर्णय लोक व्यवहार से होता है। जिसके सम्बन्ध में लोग यह समझें कि यह अनुचित है वही विभाव अनुचित है।

किन्तु दूसरे लोग इस लक्षण को नहीं मानते। क्योंकि इस लक्षण से मुनिपत्नी आदि विषयक रति का संग्रह तो हो जाता है, क्योंकि साधारण मनुष्य के लिए मुनिपत्नी अनुचित आलम्बन है, किन्तु बहुनायकविषया और एकनिष्ठरति का संग्रह इस लक्षण से नहीं हो सकेगा।

अत: अनुचित विशेषण रति आदि के सम्मुख लगाना चाहिए। अर्थात् जहां रति आदि अनुचित रूप से प्रवृत्त हुए हों, वहां रसाभास होता है। इस तरह जिसमें अनुचित विभाव आलम्बन हो, जो अनेक नायकों के विषय में हो और जो एकनिष्ठ हो, सभी रतियों का संग्रह हो जाता है। अनौचित्य का ज्ञान तो पूर्ववत् लोकव्यवहार से ही होगा।

इस प्रश्न के समाधान के लिए पिछले इतिहास पर दृष्टिपात आवश्यक है। उद्भट ने ऊर्जस्वि को परिभाषित करते हुए कहा—

अनौचित्यप्रवृत्तानां कामक्रोधादिकारणात् ।
भावनां च रसानां च बन्ध ऊर्जस्विकथ्यते ।।

— काव्यालंकार सार संग्रह, पृ० ३५

किन्तु औचित्यप्रवृत्त रस-भाव को उन्होंने रसवद् और प्रेयस् नाम दिये। आचार्य मम्मट की रसाभास की परिभाषा 'तदाभासा अनौचित्यप्रवर्तिता:' पर अनेक टीकाकारों ने अपने विविध अभिमत प्रकट किए। श्रीधर[1] ने 'अनौचित्य' का तात्पर्य रसलक्षण की अप्रवृत्ति या आंशिक प्रवृत्ति को माना। किसी सीमा तक विद्याचक्रवर्तिन् और भट्ट गोपाल[2] ने भी इस सिद्धान्त को ही माना। चण्डीदास ने 'लोकशास्त्रातिक्रमण' को अनौचित्य बताया।[3] दूसरे वर्ग के लोगों ने केवल रसशास्त्र के लक्षणों की प्रवृत्ति-अप्रवृत्ति मात्र को ही नहीं, अपितु शास्त्र और लोक के व्यवहार से विरुद्ध वर्णनजनित अनुचितता को रसाभास का कारण माना। इस मत को भोज और विद्यानाथ भी मानते थे और गोविन्द ठक्कुर[4] तथा नागेश[5] ने इसका समर्थन किया। विश्वनाथ ने इन दोनों मतों का उपयोग शृंगाराभास, हास्याभास तथा वीराभास के विवेचन में किया।[6] एक तृतीय दृष्टिकोण भीमसेन दीक्षित ने सुधासागर में रखा। उनके अनुसार अनौचित्य का अर्थ 'प्रकर्ष विरोधी रूप' है।[7] भीमसेन दीक्षित ने विद्यानाथ कृत रसाभास

---

१. काव्यप्रकाशप्रवेशिका- "आभासत्वमविस्पष्ट प्रवृत्त्या अनौचित्यम्..... आभासोऽयं शुक्तिकायां रजतवत्।"

२. त्रिवेन्द्रम संस्कृत सीरीज़, पृ० १४५।

३. काव्यप्रकाशदीपिका- "अनौचित्यं लोकशास्त्रातिक्रम:।"

४. प्रदीप, पृ० ९२

५. उद्योत- "अनौचित्यं सहृदयव्यवहारतो ज्ञेयम् यत्र तेषामनुचितामितिधी:।"

६. साहित्यदर्पण, तृतीय परिच्छेद, पृ० १२५

७. सुधासागर- "अनौचित्येन प्रकर्षविरोधिना रूपेणेत्यर्थ:। अतएव रान्य - रानैककामुकविषयरतेराभासत्वे पि पाण्डवेषु द्रौपद्या न तथा। स्वस्त्रियामपि शोकाद्याविष्टायां शृंगारवर्णनमाभासमौचित्यानौचित्याभ्यामेवाव- सेयम्।"

के त्रिधा विभाजन प्रतापरुद्रयशोभूषण,(पृ० २६८)का खंडन किया ।
विद्याधर ने भोज , विद्यानाथ की मान्यता -कि तिर्यगादि में रसाभास
होता है--का विरोध किया ।

भोज के अनुसार (सरस्वतीकण्ठाभरण- पंचम परिच्छेद ,श्लोक ५)
हीन पशु आदि आलम्बन विभाव हो, तो श्रृंगाराभास होता है ।हेमचन्द्र
की भाषा में ऐसा विभाव ' निरिन्द्रिय' कहा जायगा । संभवत:
इस मत को भरत का अनुमोदन प्राप्त है ।[1] किन्तु मम्मट संभवत: हीन-
पात्र में श्रृंगार रस मानलेते हैं ।[2] किन्तु भरतके मत से मम्मट का विरोध
हो, यह कल्पनातीत है । अत: टीकाकारों ने इसका भरतानुसारी व्या-
ख्यान किया है ।

इस प्रकार ज्ञात होता है कि रसाभासमें अनौचित्य के अर्थ के सम्बन्ध
में आचार्यों में मतभेद है ।'अनौचित्य' की उपर्युक्त व्याख्याओं की परम्परा
पण्डितराज के सामने थी । पण्डितराज ने इस पक्ष को स्पष्टत: दो
वर्गों में विभक्त कर दिया --

(१) विभाव का अनौचित्य ।

(२) भावप्रवर्तन का अनौचित्य ।

पण्डितराज की सूक्ष्म दृष्टि यह निर्णय करने में नहीं चूकती कि
अनुचित विभाव अनुचित भावप्रवर्तन के कारणों में एक हो सकता, अत:
वे 'अनुचित' विशेषण रत्यादि के साथ ही देना अधिक ठीक समझते हैं।

---

१. नाट्यशास्त्र, पृ० ३०१-२

२. काव्यप्रकाश, पृ० १५८

रसाभास इन अलंकार लिटरेचर-- शिवप्रसाद भट्टाचार्य, स्टडीज़ इन
संस्कृत लिटरेचर , पृ० ६६

रसाभास का स्वरूप--

रसाभास का वास्तविक स्वरूप क्या है ? क्या वह रस से सर्वथा भिन्न है अथवा रस से नीचे की कोटि है, इस प्रकार इस प्रश्न पर पंडितराज ने दो भिन्न मतों की चर्चा की है। कुछ के अनुसार जहां रसादि का आभास होता है, वहां रस आदि नहीं होता और जहां रस आदि होते हैं, वहां रसाभास आदि नहीं होते। उन दोनों का साथ साथ रहना नियमविरुद्ध है, क्योंकि जो निर्मल हो, जिसमें अनौचित्य न हो, उसीका नाम रस है, जैसे कि जो हेत्वभास होता है, वह हेतु नहीं होता।[१] किन्तु अन्य पक्ष का मत है कि अनुचित होने के कारण स्वरूपनाश नहीं हो सकता। अनुचित होने पर भी वह रस ही है, किन्तु दोष-युक्त होने के कारण उन्हें रसाभास आदि कहा जाता है, जैसे कोई अश्व दोष-युक्त हो तो उसे 'अश्वाभास' कहते हैं।[२]

अभिनव गुप्त ने रसाभास के सम्बन्ध में यह स्पष्ट किया है कि जहां विभाव का आभास होता है अर्थात् रति आदि भाव किसी ऐसे व्यक्ति के प्रति व्यक्त किये गये हों, जिनके प्रति उनका प्रकट करना अनुचित है, तब उस विभावाभास से चर्वणाभास होता है और वह रसाभास का विषय है। जैसे रावण की सीताविषयक रति का वर्णन। यह आभास शुक्ति में रजत के आभास जैसा है। अभिनव ने स्पष्ट किया है कि यह रसाभास और भावाभास रस और भाव की अनुकृति अर्थात् अमुख्यता है। अनुकृति, अमुख्यता और आभास एक ही अर्थ के वाचक शब्द हैं।

---

१. रसगंगाधर, पृ० ११९,२०
२. ,, पृ० १२०

अभिनव गुप्त ने यह माना है कि विभावाभास के स्थल पर रति नहीं होती, अपितु रति का आभास होता है। यह शुक्ति में रजत के आभास सा है। इस उदाहरण से स्पष्ट है आभास से उनका आशय `अतत्` में `तत्` बुद्धि से है। यहां पर वे रसाभास स्थल में वास्तविक रस की स्थिति मानते नहीं प्रतीत होते, कम से कम `शुक्ति` में `रजत` के उदाहरण से यह स्पष्ट हो जाता है। [1]

रसाभासादि के स्वरूप के सम्बन्ध में एक अन्य विचार का संकेत अभिनवगुप्त ने रसभास को अलंकारता के विवेचन के स्थल पर दिया है वहां पर वे रसभास इसलिए मानते हैं, क्योंकि नायिका के निर्गुण और निरलंकार रहने के कारण श्रृंगार` पूर्ण` नहीं हो पाता। [2] यहां अभिनव

---

१. "यदा तु विभावाभासाद्रत्याभासोदयस्तदा विभावानुभावाचर्वणाभास इति रसाभासस्य विषय:। यथा रावणकाव्याकर्णने श्रृंगाराभास:। यद्यपि `श्रृंगारानुकृतिर्यातु स हास्य:` इति मुनिना निरूपितं तथाप्यौत्तरकालिकं तत्र हास्यरसत्वम्। "दूराकर्षणमोहमन्त्र इव मे तन्नाम्नि याते श्रुतिम् चेत: कालकलामपि प्रकुरुते नावस्थितिं तां विना।"

– इत्यत्र तु न हास्यचर्वणावसर:। ननु नात्र रति: स्थायिभावोऽस्ति, परस्परास्थासम्बन्धाभावात्। कैनैतदुक्तं रतिरिति। रत्याभासो हि स: अतश्चाभासता येनास्य सीता मयि उपेक्षिका द्विष्टा वेति प्रतिपत्तिर्हृदयं न स्पृशत्येव। तत्स्पर्शे हि तस्याप्यभिलाषो विलीयेत। न च मयीयमनुरक्तेत्यपि निश्चयेन कृतं, कामकृतान्मोहात्। अतएव तदाभासत्वं वस्तुतस्तत्र स्थाप्यते शुक्तौ रजताभासवत्। एतच्च श्रृंगारानुकृतिशब्दं प्रयुञ्जानो मुनिरपिसूचितवान्। अनुकृति मुख्यता आभास इति ह्येकोऽर्थ:।

–लोचन, पृ० १७७-७६

२. "रसाभासस्यालंकारता, यथा ममैव स्तोत्रे –

(अगले पृष्ठ पर देखें)

के अनुसार रसाभास वह प्रतीत होता है, जहां रस आदि का पूर्ण परिपाक न हो ।

रसभास के स्वरूप-सम्बन्ध में ये उभयविध धारणायें अभिनव गुप्त द्वारा उल्लिखित हैं, पण्डितराज ने भी उनका उल्लेख कर दिया है । अभिनव गुप्त इन दो परस्पर विरोधी दृष्टिकोणों पर विचार किया होगा । वे भरत के 'शृंगारानुकृति' शब्द की व्याख्या करके अनुकृति, अमुख्यता और आभास को एकार्थक मानते हैं ।

अभिनव गुप्त ने उपर्युक्त दृष्टिकोण प्रस्तुत किये । ये दोनों ही दृष्टिकोण परवर्ती आचार्यों में प्राप्त होते हैं । इन्हीं दृष्टिकोणों को पण्डितराज ने 'हेतुत्व से सर्वथा भिन्न हेत्वाभास' की तरह या 'सदोष अश्व में अश्वाभास' व्यवहार की तरह वर्गीकृत करके रख दिया । यदि प्रथम मत के अनुसार रसाभास का स्वरूप मानें, तो जैसे हेतु के समानाधिकरण हेत्वाभास को नहीं माना जा सकता, उसी प्रकार रस के समानाधिकरण रसाभास को कैसे गिना जा सकेगा । दूसरे मत के अनुसार रसाभास रस से सर्वथा भिन्न नहीं, कुछ सदोष हो सकता है ।

अभिनव गुप्त ने इस बात का संकेत किया है कि आस्वाद प्रकर्ष तो रस ध्वनि में ही होता है, किन्तु रसाभास-प्रथम क्षण में भावोद्बोध तो होता ही है । बाद के अनौचित्य का बोध होता ही है । उसकी प्रतिक्रिया में हास्य, क्रोध किसी का भी उद्बोध हो सकता है, किन्तु पहली बार तो रति का उद्बोध और तन्मयीभाव में रति की आस्वाद्यता शृंगारता के रूप में ही होती है । बालप्रियाकार ने भी इस बात को बताया है ।[१] अतः अभिनव गुप्त प्रथम प्रतिक्रिया में प्रस्तुत भाव की अनुभूति मानते हैं, तदन-

---

१. लोचन, पृ० ६७, बालप्रिया, ध्वन्यालोक, पृ० ७६

अनौचित्य के कारण अन्यभाव तुरन्त द्वितीय प्रतिक्रिया में आते हैं, इसीलिए यह रसाभास होता है। इसी दृष्टिकोण से अभिनव ने 'शुक्ति में रजत' के आभास से रसाभास की तुलना भी की। प्रथमक्षण में तो शुक्ति में भी रजत का ही बोध होता है, उत्तरकालीन बाध होने पर ही उसे शुक्ति जान पाते हैं। पण्डितराज द्वारा प्रस्तुत प्रथम इसी सिद्धान्त के अनुसार है।

पण्डितराज द्वारा प्रस्तुत द्वितीय मत में रसाभास में सदोषता होने के कारण सहृदय चेतना पूर्णतया लीन नहीं हो पाती, किन्तु इतने से उसे सर्वथा भिन्न नहीं कहा जा सकता। इसका भी संकेत अभिनव ने किया था और इसे ही भीमसेन दीक्षित ने 'प्रकर्ष विरोधी रूप' कहा है। निर्दोष सदोष भाव की आनन्दकोटि में भिन्नता मान कर भी तभी रसाभास को भावात्मक आनन्द में परिगणित किया जा सकता है।

रसचर्वणा में 'विगलित वेद्यान्तरता' की स्थिति रहती है, रसाभास की चर्वणा में वेद्यान्तरता विद्यमान रहती है। रसानन्द में रत्यादि से उपहित चित् का स्वरूपानन्द अभिव्यक्त होता है और रसाभास में भी सदोष रति की उपाधि को भी चिदानन्द प्रकाशित कर सकता है। यह अवश्य है कि निर्मल रस की, आनन्द की पूर्णघनता रसाभास में न हो, किन्तु एक विशिष्ट भावात्मक आनन्द होने के कारण ही इसे प्राचीन आचार्यों ने 'रसादि ध्वनि' में आकलित किया।

इस प्रकार आनन्द कोटि में कुछ भिन्नता होने पर भी रसाभास का आनन्द ध्यान में रख कर पंडितराज ने इसके स्वरूप को स्पष्ट किया। रसाभास के स्वरूप के सम्बन्ध में दोनों मत उपस्थित किये किन्तु उनका पक्षपात द्वितीय मत के प्रति ही अधिक प्रतीत होता है। अनुपपत्ति का बीज नागेश ने बताया है, दुष्टहेतु की भांति दुष्टरस का व्यवहार होने की आपत्ति होने लगेगी।[१] किन्तु द्वितीय मत में भी सदोषता को आभास व्यवहार का कारण

---

१. नागेश--रसगंगाधर, पृ० १२०

माना ही जाता है। वस्तुत: पण्डितराज द्वारा द्वितीय मत को वरीयता देने का कारण यही प्रतीत होता है कि जहाँ प्रथम मत में अनौचित्य आश्रय, पात्र अथवा विभाव की दृष्टि से अधिक देखा गया है, वहाँ द्वितीय मत में 'सदोषता के कारण 'अश्वाभासवद् व्यवहार' में अनौचित्य रति में है, अतएव यह दृष्टि सहृदयोन्मुख अधिक है। पण्डितराज द्वारा प्रस्तुत रसाभास के द्वितीय लक्षण के साथ भी द्वितीय मत अधिक संगत ठहरता है।

इस विवेचन के द्वारा पंडितराज ने रसाभास और उसी के तरह भावाभास के सम्बन्ध में एक निश्चित और सन्तुलित दृष्टि प्रदान की। जहाँ उन्होंने अनौचित्य सम्बन्धी विवेचन को सन्तुलन प्रदान किया, वहीं रसाभास के स्वरूप को भी स्फटिक-निर्मल रूप में समझा कर एक निश्चित मत भी दिया।

भावशान्त्यादि ध्वनि

किसी भाव के नाश को 'भावशान्ति' कहते हैं। पर वह नाश उत्पत्ति के समय का ही होना चाहिए, अर्थात् भाव के उत्पन्न होते ही उसके नाश का वर्णन होना चाहिए। भाव की उत्पत्ति को भावोदय कहते हैं। यद्यपि भावशान्ति में किसी दूसरे भाव का उदय तथा भावोदय में किसी पूर्व-भाव की शान्ति आवश्यक है और इस तरह भावशान्ति और भावोदय एक दूसरे के साथ नियत रूप से रहते हैं अत: इन दोनों के व्यवहार का विषय पृथक् पृथक् नहीं हो सकता, तथापि एक ही स्थल पर दोनों तो चमत्कारी हो नहीं सकते और व्यवहार चमत्कार के अधीन है। अत: जो चमत्कारी होगा, उसी के नाम से ध्वनि कही जायगी। इस प्रकार चमत्कार के आधार पर दोनों का विषय विभाग हो जाता है —

'चमत्काराधीनत्वाच्च व्यवहारस्य अस्ति विषयविभाग:।' [१]

इसी तरह एक दूसरे दबे हुए न हों, किन्तु परस्पर दबाने की योग्यता रखते हों, ऐसे दो भावों के एक स्थान पर रहने को 'भावसन्धि' कहते हैं।

एक दूसरे के साथ बाध्यबाधकता का सम्बन्ध रखने वाले अथवा उदासीन रहने वाले भावों के मिश्रण को 'भावशबलता' कहते हैं। मिश्रण का अर्थ है कि अपने अपने वाक्य में पृथक् पृथक् रहने पर भी महावाक्य का जो चमत्कारोत्पादक एक बोध होता है, उसमें सबका अनुभूत हो जाना।

भावशबलता के सम्बन्ध में पूर्वतन आचार्यों से पण्डितराज का

---

१. रसगंगाधर, पृ० १२५

मतभेद है, काव्यप्रकाश के टीकाकारों ने भावशबलता को अपने ढंग से स्पष्ट किया है। प्रदीपकार ने 'सततता से पूर्वपूर्वोपमर्दी' भावों के आस्वादकों को 'भावशबलता' बताया है।[१]

पण्डितराज ने इस सिद्धान्त का खण्डन किया है। स्वयं मम्मट ने 'पश्येत् कश्चिच्चल' चपल रे का त्वराहं कुमारी' इत्यादि श्लोक में भावशबलता को राजस्तुतिरूपभाव का गुणीभूत माना है। यहां शंका, असूया, धृति, स्मृति, श्रम, दैन्य, मति और और औत्सुक्यभाव एक दूसरे का उपमर्द नहीं करते, किन्तु मम्मट ने भावशबलता स्वीकार की है।

यदि 'अनन्तरभावी विशेष गुण से पूर्वभावी विशेषगुण का नाश हो जाता है' इस नियम को मान कर और चित्तवृत्ति रूप भावों को न्याय-सिद्धान्तानुसार इच्छा आदि विशेष गुणों में समाविष्ट कर के यह तर्क दिया जाय कि बिना पूर्व-भाव का नाश हुए उत्तरभाव उत्पन्न ही नहीं हो सकता —तो यह तर्क ठीक नहीं। क्योंकि इस तरह नाश न तो व्यंग्य होता है, न उसका नाम उपमर्द है और न वह चमत्कारी ही है कि उसे व्यंग्य के भेदों में गिना जा सके। वस्तुत: शबलता अर्थात् भावों की संगति में उसी प्रकार का आस्वाद होता है जैसे नारिकेल जल, दूध, मिश्री, कदली आदि के मिश्रण होने पर वे सब एक दूसरे का स्वाद न नष्ट करके अपना अपना स्वाद देते हुए भी एकनये स्वाद को भी प्रदान करते हैं, उसी तरह ये भाव परस्पर मिश्रण में अपने अपने आस्वाद के साथ एक नवीन आस्वाद प्रदान करते हैं। अत: पूर्वपूर्वभावों के उपमर्द का प्रश्न भावशबलता में नहीं उठता।

भावोदय, भावशान्ति आदि की संज्ञा—

पंडितराज की स्थापना है कि जिस प्रकार 'स्थिति' दशा की

---

१. 'शबलता तु निरन्तरतया पूर्वपूर्वोपमर्दिनाम्' —प्रदीप, पृ० ५६
रामशक्ति भागवताचार्य।

चमत्कारिता के अनुभवसिद्ध होने पर भी उसे 'भावस्थिति' नाम न देकर 'भाव' ही नाम देते हैं, उसी प्रकार सन्धि, शबलता, शान्ति आदि अन्य भावस्थितियों की मुख्यता इन संज्ञाओं में नहीं होनी चाहिए।

'य एते भावशान्त्युदयशबलताध्वनयः उदाहृतास्तेऽपि भावध्वनयः एव। विद्यमानतया चर्व्यमाणोऽष्ववोत्पत्त्यवच्छिन्नत्व--विनश्यदवस्थत्व सन्धीयमानत्व--परस्परसमानाधिकरणत्वैः प्रकारैश्चर्व्यमाणेषु भावेष्वेव प्राधान्यस्यौचित्यात्, चमत्कृतेस्तत्रैव विश्रान्तेः।' [१]

फिर भाव ध्वनि और भावशान्ति आदि में क्या अन्तर है? पण्डितराज इसका उत्तर देते हैं कि भावध्वनि में भावस्थिति के साथ अमर्षादि के रूप में अथवा केवल अमर्ष रूप में आस्वादन होता है, किन्तु भावशान्ति में 'भाव' के साथ शान्ति आदि अवस्था से युक्त होने का भी आस्वादन होता है --

'यदेकत्र चर्वणायां भावेषु स्थित्यवच्छिन्नोऽमर्षादित्वम्, अमर्षादित्वमेव वा प्रकारः, अन्यत्र तु प्रशमावस्थत्वादिरपि।' [२]

रसों की शान्ति आदि ध्वनियाँ नहीं --

रसों की शान्ति आदि होती ही नहीं, क्योंकि उनका आधार है स्थायीभाव, और यदि उस स्थायिभाव की भी उत्पत्ति एवं शान्ति आदि होने लगे तो उसका स्थायित्व ही नष्ट हो जाय। उसमें और व्यभिचारियों में वर्तमान भेदकता ही नष्ट हो जाय। स्थायी की अभिव्यक्ति की विभावादिसापेक्ष होने के कारण समाप्य होती है, अतः उसकी समाप्ति को ही शान्ति मानने की भूल नहीं करनी चाहिए। क्योंकि स्थायी की

---

१. रसगंगाधर, पृ० १२७
२. रसगंगाधर, पृ० १३०

अभिव्यक्ति समाप्त होने के बाद रहेगा ही क्या और तब चमत्कार की सृष्टि भी कैसे होगी ? अत: रस की शान्ति आदि का सिद्धान्त त्याज्य ही है ।

रस भावादि की संलक्ष्यक्रमता –

रति आदि स्थायिभाव जब व्यंग्य होते हैं, तब यदि प्रकरण स्पष्ट हो तो अत्यन्त सहृदय लोगों को तत्काल विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भावों का ज्ञान हो जाता है । यह ज्ञान होते ही बहुत शीघ्र ही रसपरिपाक की दशा का अनुभव हो जाता है, अत: अनुभवकर्ता को कारण और कार्य की पूर्वापरता का क्रम लक्षित नहीं हो पाता इसलिए `असंलक्ष्य-क्रम व्यंग्य` नाम दिया गया है ।

किन्तु जहां प्रकरण विचार करने के अनन्तर परिज्ञात होता है और जहां प्रकरण के स्पष्ट होते हुए भी विभावादि उन्नेय हो अर्थात् उनकी तर्कणा करनी पड़ती है, वहां रसपरिपाक की सामग्री की उपस्थिति में विलम्ब होने के कारण चमत्कार में भी कुछ मन्थरता आ जाती है । अत: कार्यकारण पौर्वापर्य प्रतीत हो जाने के कारण वहां रत्यादि का क्रम लक्षित हो जाता है । पण्डितराज इस सम्बन्ध में अपने उदाहरण` तल्पगतापि-च सुतनु:` पद्य में` संप्रति` पद के विलम्ब से अर्थज्ञान के कारण संलक्ष्यक्रम व्यंग्यता बताते हैं ।

पण्डितराज ने इस सम्बन्ध में इस तर्क को अस्वीकार किया कि जिस प्रमाण से रति आदि ध्वनिता ग्रहण की जाती है, उसी प्रमाण से यह भी मालूम होता है कि वे सदैव असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य हैं, क्योंकि उन्हें स्वयं रसभावादि की कहीं कहीं संलक्ष्यक्रमता के समर्थन में आनन्दवर्धनाचार्य आदि का प्रमाण प्राप्त है ।

आनन्दवर्धनाचार्य` अर्थशक्त्युद्भव` ध्वनि का विवेचन करते हुए `एवंवादिनि देवर्षौ`

"एवंवादिनि देवर्षौ"[1] इत्यादि पद्य में अर्थशक्त्युद्भुत ध्वनि बताते हैं। उनका स्पष्ट कथन है —

" यह अलक्ष्यक्रमव्यंग्य ध्वनि का ही विषय है यह नहीं कहना चाहिए, क्योंकि जहां पर साक्षात् शब्द के द्वारा निवेदित विभाव, अनुभाव और संचारीभावों से रस की प्रतीति है केवल वही उसका मार्ग होता है। जैसे कुमारसम्भव में वसन्तवर्णन के प्रसंग में वसन्त पुष्पाभरणों को धारण किये हुए देवी के आगमन इत्यादि का मनोभव शरसन्धानपर्यन्त वर्णन तथा परिवृत्त धैर्य वाले भगवान् शिव की चेष्टा इत्यादि का वर्णन साक्षात् शब्द के द्वारा निवेदित किया गया है। यहां पर तो सामर्थ्य से आक्षिप्त व्यभिचारियों के द्वारा रस की प्रतीति होती है। अतः यह ध्वनि का दूसरा ही प्रकार है।"[2]

इसी पर अभिनव गुप्त लोचन में कहते हैं —

" एतदुक्तं भवति — यद्यपि रसभावादिरर्थो ध्वन्यमान एव भवति न वाच्य : कदाचिदपि, तथापि न सर्वोऽलक्ष्य क्रमस्य विषय: ।"[3]

अतः यह स्पष्ट है कि आनन्दवर्धन और अभिनवगुप्त रस और भावादि को एकमात्र असंलक्ष्यक्रम व्यंग्य ही नहीं मानते।

किन्तु इस मान्यता के साथ ही अभिनवगुप्त एवं मम्मट के इस कथन में विरोध पड़ता है कि अर्थशक्तिमूलक ध्वनि के बारह भेद ही होते हैं। व्यंजक अर्थ वस्तु एवम् अलंकार भेद से दो प्रकार का होता है। उनमें से स्वतः प्रत्यैक सम्भवी , कविप्रौढोक्ति सिद्ध तथा कविनिबद्धप्रौढोक्तिसिद्ध ।

---

१. ध्वन्यालोक, पृ० २४६

२. ,, २।२२

३. ,, लोचन

अत: जिस प्रकार, वस्तु एवं अलंकार ६-६ रूपों में अभिव्यक्त होते हैं, उसी प्रकार रसादि भी ६ रूपों में अभिव्यक्त होंगे और इस तरह अठारह भेद होने लगेंगे ।

पण्डितराज ने इस कठिनाई का हल इस प्रकार किया है कि स्पष्ट प्रतीत होने वाले विभाव , अनुभाव और व्यभिचारी भावों के परि-ज्ञान होने के अनन्तर क्रम का ज्ञान न होकर जिस रति आदि स्थायीभाव की अभिव्यक्ति होती है वही रसरूप बनता है, क्रम के लक्षित होने पर नहीं । क्योंकि रस का अर्थ ही है कि स्थायीभाव का झट से होने वाले अलौकिक चमत्कार का विषय बन जाना । उसमें धीरे धीरे [१] समझने के बाद चमत्कार-विषयता नहीं आती । अत: जिस रति आदि की प्रतीति का क्रम लक्षित हो जाता है, उसे वस्तुमात्र --अर्थात् केवल रति आदि कहना चाहिए, रसादि नहीं । इस प्रकार अभिनवगुप्त आदि के अभिप्राय की व्याख्या करदेने पर उनके कथन में विरोध की गुंजायश नहीं रह जाती । किन्तु इस बात को सिद्ध करने के लिए उपपत्ति का विचार तो करना ही होगा । अर्थात् इस कथन में कोई युक्ति नहीं है, अत: संलक्ष्यक्रम होने पर भी रस मानने में कोई बाधा नहीं है । क रता पूर्वोक्त अभिनवगुप्त का वाक्य, उसमें जो `रस`,भाव आदि अर्थ लिखा है, वहां रस आदि का अर्थ` रदि आदि` समझना चाहिए, वास्तविक रस नहीं --

" उपपत्तिस्त्वर्थस्मिन् विचारणीया । रस भावादिरर्थ इत्यत्र रसादिशब्दो रत्यादिपर: ।"

किन्तु पण्डितराज के इस कथन पर नागेश का मतभेद है । उनका कथन है कि विभावादि की प्रतीति और रस की प्रतीति में जो सूक्ष्मकाल का अन्तर है, जिसे ही क्रम कहा जाता है, उसकी यदि संलक्ष्य को प्रतीति हो जाये, तो विभावादि के और रस के पृथक् पृथक् प्रतीत होने के कारण

---

१. रसगंगाधर, पृ० १३२

रति आदि की प्रतीति के समय भी विभावादिकों की पृथक् प्रतीति होती रहेगी और इस तरह विगलितवेद्यान्तरता की स्थिति नहीं हो सकती । और जब तक अन्य वेद्य का तिरोभाव न हो , तब तक रस की प्रतीति ही नहीं हो सकती ।[१] रसास्वाद वेला में अन्य समस्त वेद्य (ज्ञान) विगलित हो जाते हैं, इस अंश में स्वयं पण्डितराज को भी आपत्ति नहीं होनी चाहिए । अत: इस उपपत्ति अर्थात् युक्ति के रहते क्रमज्ञान होते जाने पर रत्यादि को वस्तु-मात्र मान लेने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए ।[१]

किन्तु नव्य लोग इस प्रकार समाधान करते हैं कि कोई पद या पदार्थ वक्ता आदि की विशेषता और प्रकरण आदि का साथ होने पर ही व्यंजक हो सकता है, अत: यह सिद्ध होता है कि उनके सहित ही विभावादिकों का ज्ञान होने के अनन्तर रस की प्रतीति होती है और विभावादि के ज्ञान तथा रस की प्रतीति के मध्य में जो क्रम रहता है, उसके न दिखाई देने के कारण अलक्ष्यक्रम कहा जाता है । अब यदि प्रकरण आदि के ज्ञान में विलम्ब होने से विभावादि के ज्ञान में भी विलम्ब हो भी जाय, तथापि पूर्वोक्त उदाहरण में, अलक्ष्यक्रमता में कोई बाधा नहीं होती, क्योंकि विभावादिकों के ज्ञान और उसके उत्पन्न करने वाले प्रकरणादि के ज्ञान के क्रम को लेकर अलक्ष्यक्रमता नहीं मानी जाती, किन्तु विभावादिकों के ज्ञान से उत्पन्न होने वाले रस आदि के ज्ञान के क्रम को लेकर मानी है । इसी अभिप्राय के अनुसार 'अर्थशक्तिमूलक के बारह भेद होते हैं ।' इस अभिनवगुप्त की उक्ति को और विभावादिकों के अतिरिक्त अन्य किसी वाच्यार्थ की अपेक्षा से क्रम भी ग्रहण किया जा सकता है, अत: लक्ष्यक्रम होने की उक्ति को - दोनों को - किसी तरह ठीक कर देना चाहिए । ' सहृदयों का अनुभव इस बात की साक्षी नहीं देता कि विभावादि की प्रतीति के अतिरिक्त अन्य किसी वाच्यार्थ की प्रतीति होने पर भी विगलितवेद्यान्तरता हो जाय कि जिससे वाच्यार्थ और विभावादि के क्रम का ज्ञान होने पर रसत्व भी नष्ट हो जाय ।

---

१ गुरुमर्मप्रकाश, रसगंगाधर, पृ० १३२

तात्पर्य यह है कि विगलितवेद्यान्तरता विभावादि की प्रतीति और रस की प्रतीति और उस की प्रतीति का क्रम झान जाने पर होती है, वाच्यार्थ और विभावादि के क्रम से उससे कुछ सम्बन्ध नहीं ।[१]

वस्तुत: पण्डितराज ने तो यह स्पष्ट कर दिया कि जब प्रकरण विचारवेद्य होता है या विभावादि उन्नेय होते हैं, तो सामग्री की उपस्थिति में विलम्ब के कारण चमत्कृति की गति में मन्थरता आ जाती है और इसीलिए संलक्ष्यक्रमता हो जाती है ।[२] इस प्रकार पंडितराज ने चमत्कार की मन्थरता और तीव्रता के आधार पर ही क्रम की संलक्ष्यता और असंलक्ष्यता का निर्णय रखा है अभिनव गुप्त की दृष्टि से इस संलक्ष्यक्रमता को "वस्तुमात्रता" का नाम दिया जाय तो पंडितराज इसे "रस " कहना अधिक उचित समझेंगे । तात्त्विक दृष्टि से इसमें अन्तर नहीं पड़ता ।

----

१. हिंदी रसगंगाधर- पुरुषोत्तम शर्मा चतुर्वेदी

२. रस गंगाधर, पृ० १३०

ध्वनियों के व्यंजक

इन रस आदि ध्वनियों के व्यंजक पद, वर्ण, रचना, वाक्य, प्रबन्ध, पदांश और राग आदि हैं। इन सब की व्यंजकता में समस्त ध्वनिवादियों का ऐकमत्य है, किन्तु वर्णध्वनि तथा रचना ध्वनि के सम्बन्ध में प्राचीनों तथा नवीन के मत में अन्तर है। रचना और वर्ण पदों और वाक्यों के अन्तर्गत रह कर ही व्यंजक होते हैं, क्योंकि रचना और वर्णमात्र अलग से कहीं भी व्यंजक नहीं देखे जाते, अत: यह कहा जा सकता है कि तत्तत् रचना और वर्ण से युक्त पद और वाक्य व्यंजक होते हैं। उनकी व्यंजकता में जो पदार्थ विशेषरूप से रहने वाले हैं, उन्हीं में इनका भी प्रवेश हो जाता है, इसलिए इन्हें पृथक व्यंजक मानने की आवश्यकता नहीं रह जाती --इसका प्राचीन आचार्य यह उत्तर देते हैं कि पदों और वाक्यों से युक्त रचना और वर्ण व्यंजक हैं अथवा रचना और वर्ण से युक्त पद तथा वाक्य व्यंजक हैं, इन दोनों में से किसी एक बात को प्रमाणित करने का कोई साधन नहीं है, इसलिए इनमें से प्रत्येक की व्यंजकता सिद्ध हो जाती है जैसे चक्रसहित दण्ड कारण है अथवा दण्ड सहित चक्र इस बात के विनिगमक के न रहने के कारण चक्र और दण्ड दोनों को ही घट का कारण मान लिया जाता है।

किन्तु इस सम्बन्ध में नवीनों का मतभेद है। उनका कहना है कि वर्ण और उनकी विभिन्न वैदर्भी आदि रचनाएं माधुर्य आदि गुणों को ही अभिव्यक्त करती हैं, रसों को नहीं, क्योंकि इनको रसव्यंजक मानने में एक तो व्यर्थ ही व्यंजकों की संख्या बढ़ाने से गौरव पड़ता है, दूसरे इस मान्यता में कोई प्रमाण भी नहीं है। किन्तु यदि यह तर्क दिया जाय कि माधुर्य आदि गुण रसों में रहते हैं, अत: उन्हें अभिव्यक्त किये बिना केवल गुणों की अभिव्यक्ति कैसे की जा सकती है, तो तर्क ठीक नहीं, क्योंकि गुणी की अभिव्यक्ति के बिना गुणों की अभिव्यक्ति न होती हो ऐसा नहीं है। घ्राण आदि तीन इन्द्रियों

क

के सम्बन्ध में यह स्पष्ट है कि वे गुणी की अभिव्यक्ति के बिना गुण की अभिव्यक्ति करती हैं अर्थात् घ्राणेन्द्रिय से पृथ्वी का अनुभव नहीं होता, गन्ध का ही अनुभव होता है। इस तरह यह सिद्ध होता है कि गुणी गुण और इनके अतिरिक्त अन्य तटस्थ पदार्थों को अपने अपने अभिव्यंजक उपस्थित करते हैं, फिर वे कभी परस्पर सम्मिलित रूप से और कभी उदासीन रूप से उन उन ज्ञानों (दर्शन श्रवण आदि) के विषय हो जाते हैं। उसी प्रकार रस और उनके गुण भी पृथक्-पृथक् व्यंजकों द्वारा व्यक्त किये जाते हैं, और फिर कभी सम्मिलित रूप से तथा कभी उदासीन रूप से ग्रहण किये जाते हैं। अत: वर्णों और रचनाओं को रसों का व्यंजक मानना उचित नहीं उन्हें केवल गुणों का व्यंजक माना जाना चाहिए।

नाम निर्धारण —

इन ध्वनियों के नाम के सम्बन्ध में भी पण्डितराज ने दो मत उल्लिखित किये हैं। कुछ लोगों का मत है — जब ये रसादि प्रधान होते हैं, तभी इनको रसादि कहना चाहिए, अत: गौणता की दशा में `रसवत्` आदि में जो `रस` शब्द है उसका अर्थ `रति` है, `शृंगार` नहीं।

किन्तु दूसरों का मत है रसादि तो वे भी हैं, किन्तु उनके कारण उन काव्यों को ध्वनिकाव्य नहीं कहा जा सकता।

ध्वनि के भेद

पण्डितराज ने काव्य के चार प्रकारों में उत्तमोत्तम ध्वनि के भेदों का विवेचन करते हुए सावधान दृष्टि अपनायी है। वे जानते हैं कि यों तो ध्वनि के भेद असंख्य हैं, तथापि सामान्यत: कुछ भेद निरूपणीय हैं। ध्वनि प्रथमत: दो प्रकार की है, अभिधामूल और लक्षणामूल। उनमें पहली तीन प्रकार की हैं —रस, अलंकार और वस्तुध्वनियां। रसध्वनि असंलक्ष्यक्रम ध्वनि की उपलक्षण है, अत: इसे रस, भाव, रसाभास, भावाभास, भावशान्ति भावोदय,भावसन्धि और भावशबलता का ग्रहण भी है। द्वितीय ध्वनि अर्थात् लक्षणामूल ध्वनि दो प्रकार की है :— अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य और अत्यन्ततिरस्कृत वाच्य।

ध्वनिकार और उनकी अनुवर्ती परम्परा में अभिधामूलक ध्वनि के वस्तु और अलंकार ध्वनि भेदों को ही संलक्ष्यक्रम में गिना गया है। लक्षणा-मूलक ध्वनियों का संलक्ष्यक्रम के रूप में स्पष्ट आकलन नहीं किया गया। किन्तु पण्डितराज ने द्वितीय आनन में संलक्ष्यक्रमध्वनियों के विवेचन करने की प्रतिज्ञा से यह स्पष्ट कर दिया कि वे वस्तु और अलंकार ध्वनियों के साथ साथ लक्षणा-मूलक ध्वनियों को भी संलक्ष्यक्रम रूप में गिनते हैं। यद्यपि आपातत: यही अभि-प्रेत पूर्ववर्ती ध्वनि आचार्यों का भी है, किन्तु पण्डितराज ने इसे और भी स्पष्ट रूप में कह दिया है। अवान्तर भेद:— असंलक्ष्यक्रम ध्वनि को ध्वनिकार तथा काव्य उनके अनुवर्ती काव्यप्रकाशकार यद्यपि अनन्त होने के कारण एक भेद के रूप में ही गिनते हैं।[१] तथापि पदगत वाक्यगत, प्रबन्धगत,पदांशगत रचना-

---

१. काव्यप्रकाश—उल्लास—४, सूत्र ५७

गत और वर्णगत -- इन व्यंजकों के आधार पर ६ भेद करते हैं । पण्डितराज ने इन व्यंजकों के आधार पर अवान्तरभेद करने के लिए बहुत उत्साहित नहीं दीख पड़ते, कदाचित् इसीलिए उन व्यंजक भेदों के आधार पर किये जाने वाले भेदों को उपस्थित करते हुए वे बताते है कि ये (और लोगों को) अभिमत हैं ।[१] फिर भी उन्होंने व्यंजकों का विस्तृत विवेचन किया है । यदि व्यंजकों के आधार पर अवान्तरभेद हम समझना चाहें, तो वह इस प्रकार होगा --

पण्डितराजाभिमत

असंलक्ष्यक्रम व्यंग्य

प्रबन्धगत | वाक्यगत | पदगत | पदांशगत | रागादिगत

मम्मटाभिमत

असंलक्ष्यक्रम व्यंग्य

प्रबन्धगत | वाक्यगत | पदगत | पदांशगत | रागगत | रचनागत

अभिधामूल संलक्ष्यक्रम के अवान्तर भेद--
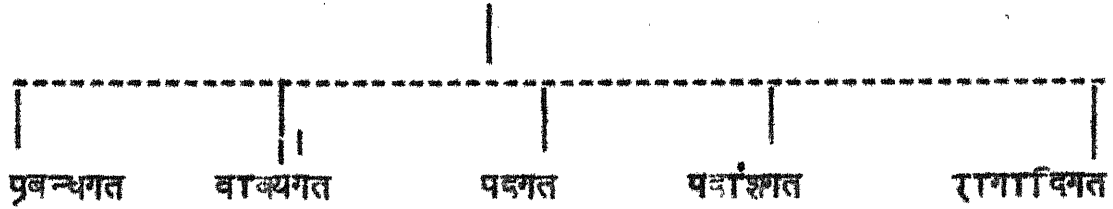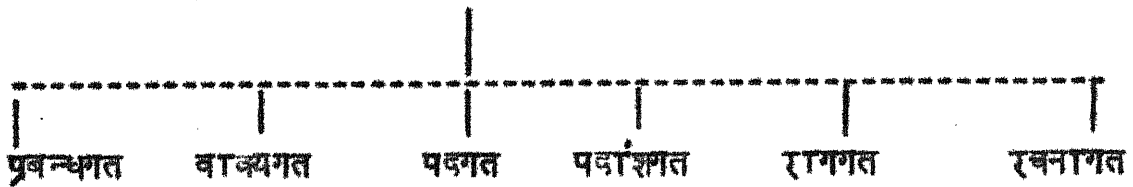
अभिधामूल संलक्ष्यक्रम ध्वनियाँ अर्थात् वस्तु और अलंकार ध्वनियाँ

रस गङ्गाधर पृ० १३२
१. काव्यप्रकाश, उल्लास ४, सूत्र-- ५२,५५

का अभिव्यंजन कभी शब्द सामर्थ्य से होता है और कभी अर्थसामर्थ्य से । किन्तु एक की व्यंजकता में दूसरे की सहकारिता अवश्य रहती है ।[१] ~~किन्तु~~ प्राधान्य के आधार पर इनका भेद किया जाता है जहां प्रधानतया शब्द व्यंजक होता है, वहां शाब्दी व्यंजना, जहां प्रधानतया अर्थ व्यंजक रहता है, वहां आर्थी तथा शब्दार्थोभय व्यंजकता में उभयशक्तिमूलक तृतीय भेद स्वीकार किया जाता है । मम्मट ने शब्दशक्तिमूलध्वनि के चार, अर्थशक्ति मूल के ध्वनि के रूप को छत्तीस तथा उभयशक्तिमूल ध्वनि का एक भेद मान कर संलक्ष्यक्रम ने कुल ४१ भेद स्वीकार किये हैं :[२]—
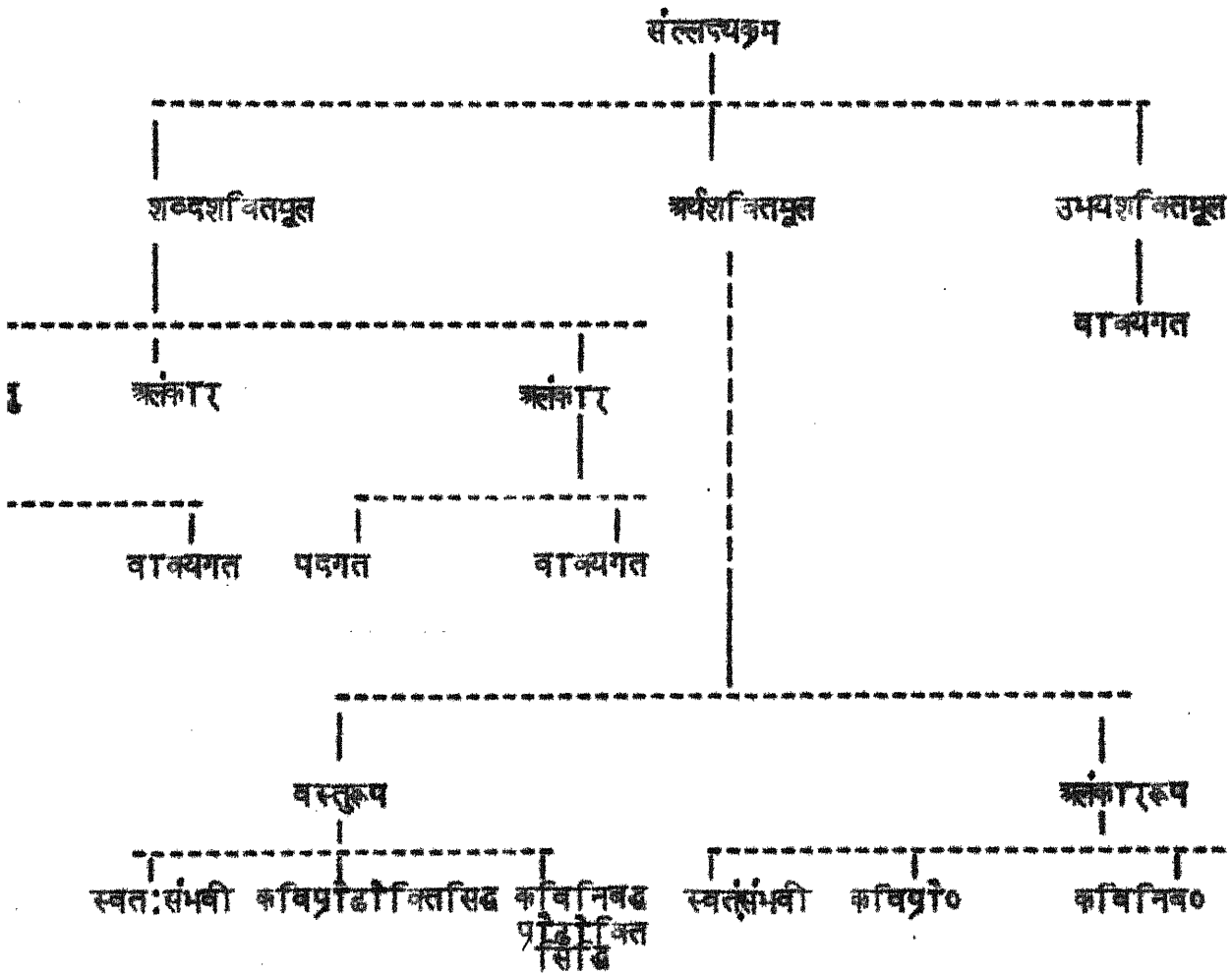
(शेष अगले पृष्ट पर)

---

१. काव्यप्रकाश—उल्लास २, सूत्र ३३-३४ तथा उल्लास-३, सूत्र ३८

२. काव्यप्रकाश—उल्लास ४, सूत्र ५२-५५

:संभवी
कविप्रौढोक्तिसिद्ध
कविनिबद्धप्रौढोक्तिसिद्ध
स्वत:सं० कविप्रौ० कविनि०
वस्तुसे अलंकार
वस्तु से वस्तु
वस्तुसेअलंकार
त
प्रबन्ध गत
वाक्यगत
पदगत वाक्यगत प्रबंधगत
वाक्यगत
प्रबन्धगत
पदगत
वाक्यगत
प्रबन्धगत
वस्तु से वस्तु
वस्तु से अलंकार
वाक्यगत
प्रबन्धगत
पदगत
वाक्यगत प्रबन्धगत
व०सेव०
वस्तु अलंकार
वस्तु से वस्तु
वस्तु सेअलंकार
पदगत
वाक्यगत
प्रबन्धगत
पदगत
वाक्यगतव प्र०
पदगत
वाक्यगत
प्रबन्धगत
पदगत
वाक्यगत
प्रबन्धगत
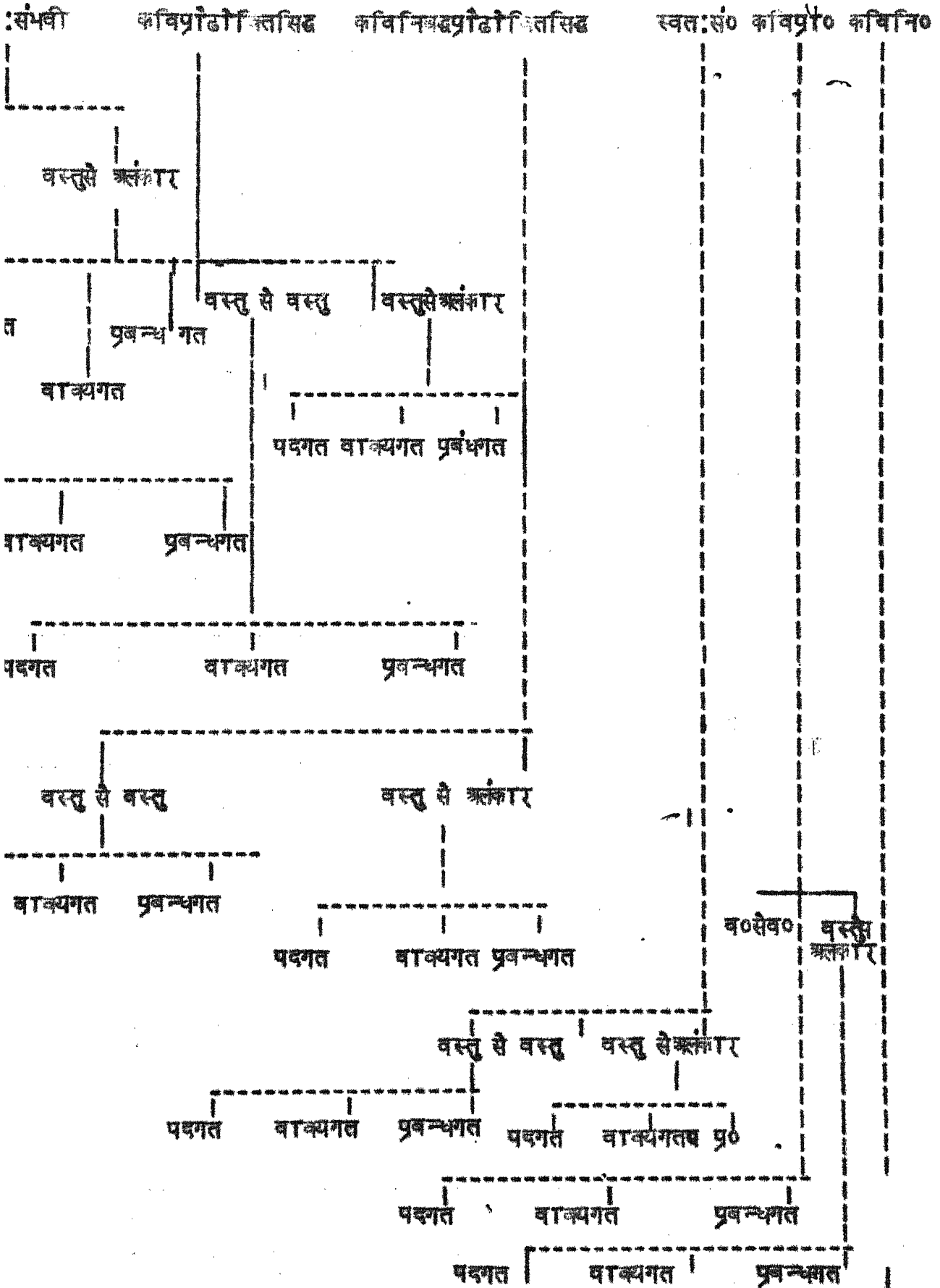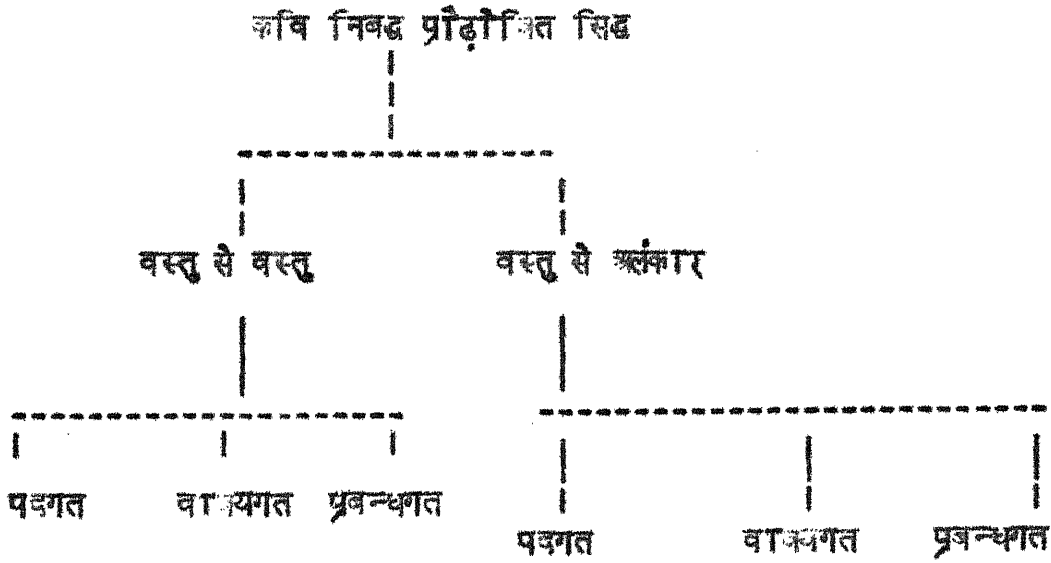
पण्डितराज ने कविनिबद्धप्रौढ़ोक्ति के पृथक् भेद को स्वीकार नहीं किया है। व्यंजकों के आधार पर अवान्तरभेदों की चर्चा करते हुए उन्होंने शब्दशक्तिमूल और अर्थशक्तिमूल सभी ध्वनियों के पदगत और वाक्यगत भेदों को बताया है, वाक्य से उनका तात्पर्य पद-समूह से भी है, अत: समस्त पद में वह भेद होता है जिसमें कोई पद नानार्थक हो, कोई अनानार्थक ।

रसगंगाधर का अभिमत —

संलक्ष्य कम के अन्तर्गत किये गए भेद उपभेद नीचे दिए जा रहे हैं जो इस सारणी से भली भांति स्पष्ट हो जायगा :-

पण्डितराज ने मम्मटादि को अभिमत प्रबन्धगत भेद नहीं मानते, संभवत: इसका कारण यही है कि वे पूरे प्रबन्ध से किसी वस्तु या अलंकार मात्र की
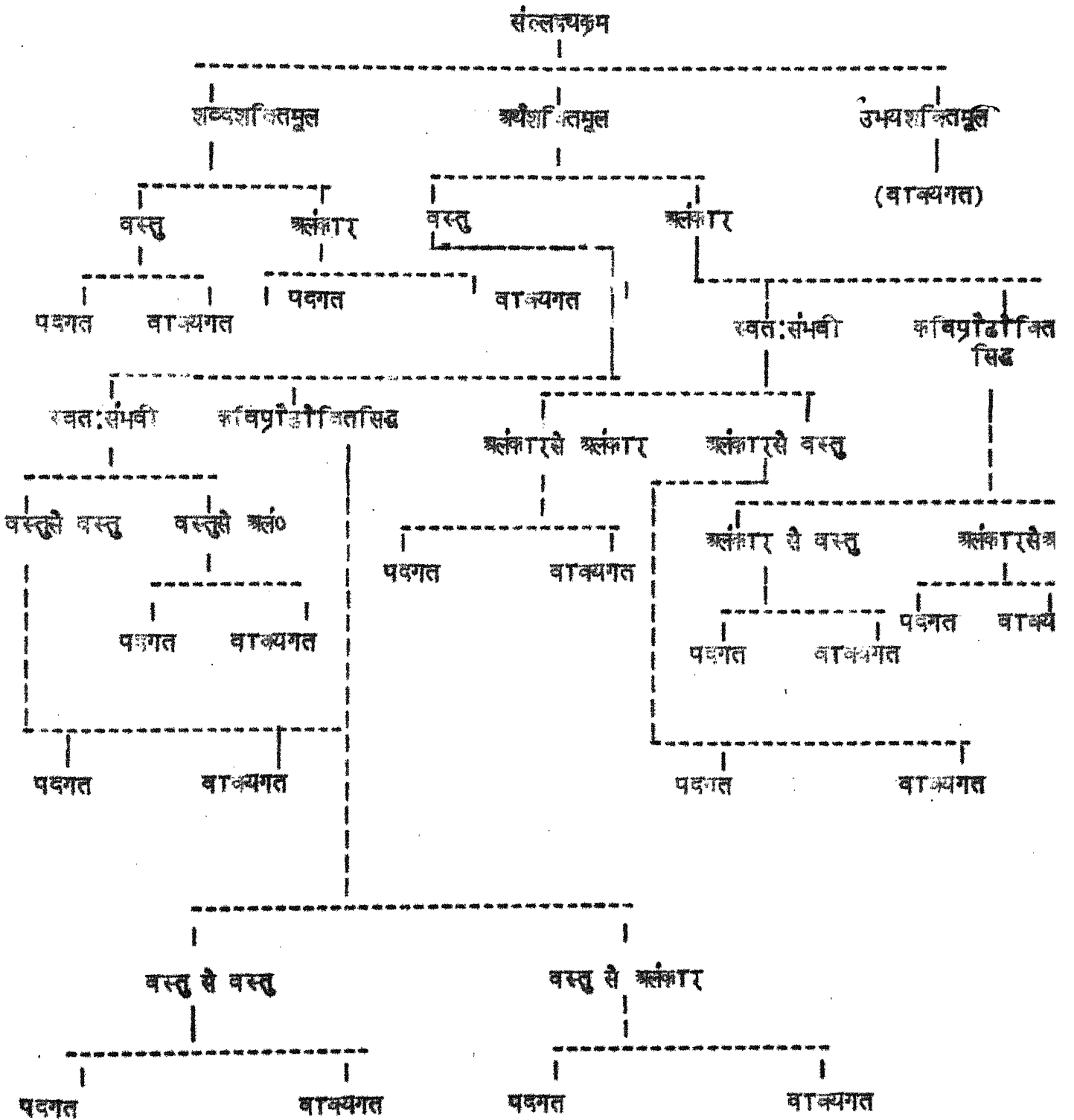
अभिव्यक्ति को स्वीकार नहीं करते । डा० प्रेमस्वरूप गुप्त ने यह ठीक ही कहा है कि पंडितराजन की प्रवृत्ति भेद को बढ़ाने की नहीं है, उन्होंने यह मत भी प्रकट किया है कि व्यंजकत्व के आधार पर पंडितराज ध्वनिभेदों को वांछित नहीं मानते,[१] किन्तु जिस प्रकार उन्होंने व्यंजकों के बारे में विवेचन किया है और संलक्ष्यक्रमध्वनि विवेचन के अन्त में प्रबन्धगतता को स्पष्ट रूप से अनाकलित कर जिस प्रकार पदध्वनिव्यपदेश तथा वाक्यध्वनि व्यपदेश की बात की है, उससे हम स्पष्टत: उनके अभिवांछित को समझ सकते हैं ।

लक्षणा के ६ भेदों में से गौणी सारोपा, गौणी साध्यवसाना को पण्डितराज क्रमश: रूपक, अतिशयोक्ति तथा हेतु अलंकार विषय मानते हैं, किन्तु जहत्स्वार्था और अजहत्स्वार्था को अत्यन्ततिरस्कृत वाच्य तथा अर्थान्तर संक्रमित वाच्य ध्वनि के रूप में स्वीकार करते हैं ।[२] इनके पदगत और वाक्यगत भेदों को स्वीकार करने पर चार भेद होते हैं ।
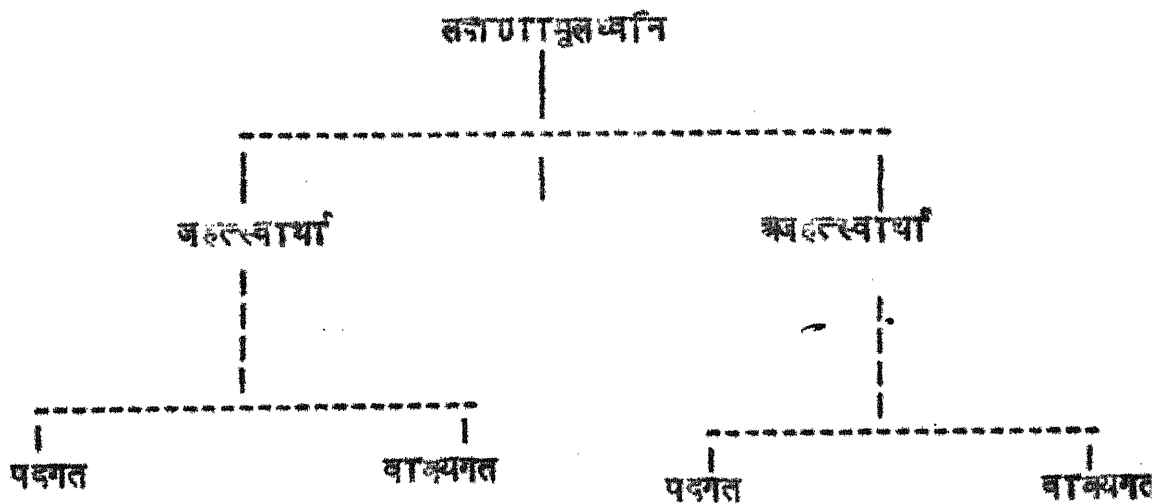
इस प्रकार यदि हम असंलक्ष्यक्रम के भेद को व्यंजक के आधार पर मानें और संलक्ष्यक्रम ध्वनि के पदगत और वाक्यगत (शब्दार्थोभयध्वनि के पदगत

---

१. रसगंगाधर का शास्त्रीय अध्ययन, प्रेमस्वरूप गुप्त, पृ० ८४, ८८, ८६
२. रसगङ्गाधर पृ० १७५

और वाक्यगत (शब्दार्थोभयध्वनि का केवल वाक्यगत) भेद माने, तो पण्डित-राज के अनुसार ध्वनि के २६ भेद होंगे, किन्तु यदि व्यंजकाधृत तथा पदगत वाक्यगत भेदों का पण्डितराज का विशेष अभिमत न मानें, तो संलक्ष्यक्रम का एक भेद अभिधामूल ध्वनि का ग्यारह अर्थात् शब्दशक्तिमूलक दो, अर्थशक्तिमूलक आठ तथा शब्दार्थोभयशक्तिमूलक एक एवं लक्षणामूलक दो ध्वनिभेदों को मिलाकर कुल चौदह भेद हुए। पंडितराज ने ध्वनि का उदाहरण देते हुए भी इसी भेदीकरण को प्रस्तुत किया है। इससे पंडितराज की भेदों के प्रति आग्रहहीनप्रवृत्ति का भी परिचय मिलता है। कदाचित इसीलिए पंडितराज ने काव्यप्रकाशकार की भांति त्रिविधि संकर और एक विध संसृष्टि के अनुसार मिश्रण मान कर ध्वनि के सहस्रों प्रकार का निरूपण नहीं किया। इस दिशा में उनकी प्रवृत्ति चण्डीदास, प्रदीपकार और साहित्यदर्पणकार से भिन्न है।

शब्दशक्तिमूलक व्यंग्य का शास्त्रार्थ

अभिधामूल ध्वनि के विवेचन के प्रसंग में पण्डितराज ने यह महत्वपूर्ण प्रश्न उठाया है कि अनेकार्थक शब्दों से प्राकरणिक अर्थ के अतिरिक्त एक जो अन्य अर्थ प्रतीत होता है, वह कैसे होता है ? पंडितराज ने इस सम्बन्ध में विभिन्न मत प्रस्तुत कर सूक्ष्म विवेचन किया है ।

प्रथम मत :—

प्राचीन आचार्यों के अनुसार द्वितीय अप्रस्तुत अर्थ अभिधा के द्वारा नहीं, अपितु व्यंजना द्वारा प्रतीत होता है, अतः उसे व्यंग्य समझना चाहिए यद्यपि द्वितीय अर्थ भी संकेत ज्ञान के द्वारा ही विदित होता है, अतः नियमानुसार उसे भी वाच्य अर्थ ही मानना चाहिए,तथापि कोषादि द्वारा एक शब्द के अनेक अर्थ ज्ञात होने पर भी संयोग आदि अन्य अर्थ की उपस्थिति के प्रतिबन्धक हो जाते हैं और एक ही अर्थ का स्मरण होता है, अन्य का नहीं अतः यहाँ अभिधा शक्ति का क्षेत्र नहीं रहता और वह अर्थ व्यंजना से ही प्रतीत होता है । व्यंजना द्वारा प्रतीत अर्थ में प्रतिबन्ध हो ही नहीं सकता क्योंकि व्यंजना प्रतिबन्धक को प्रभावहीन करने के लिए ही अथवा उसकी उपस्थिति में भी अप्राकरणिक अर्थज्ञान के उत्तेजक के रूप में मानी ही गयी है । [१]

द्वितीय मत—

इस मत के अनुसार संयोगादि को द्वितीय अर्थ का प्रतिबन्धक मानना ही नहीं चाहिए । वे तो अनेकार्थक शब्दों में से वक्ता के तात्पर्यभूत अर्थ को बताने में निर्णायक मात्र होते हैं । वक्ता के तात्पर्यभूत अर्थ का ज्ञान होने

---

१. रसगंगाधर, पृ० १३५-१३६

के बाद उस अर्थ का अन्वयज्ञान होता है, अर्थ का नहीं । संयोगादिकों के द्वारा न तो एक अर्थ का स्मरण होता है, न अन्य अर्थों का प्रतिबन्ध , किन्तु उनसे केवल वक्ता के तात्पर्य का निर्णय होता है । उसी का अन्वयज्ञान होता है । अत: जो अन्य अर्थ प्रतीत होता है वह ~~अभिधा~~ अभिधा द्वारा प्रतीत नहीं हो सकता , क्योंकि अभिधा में तात्पर्यनिर्णय हेतु होता है, अत: वक्ता का तात्पर्यभूत अर्थ ही अभिधा से प्रतीत हो सकता है, दूसरा नहीं; फलत: अन्य अर्थ व्यंग्य ही हो सकता है ।[१]

तृतीय मत:--

इस मत ने उपर्युक्त दोनों धारणाओं को अस्वीकार कर दिया है । अनेकार्थक शब्दों में अनेक अर्थों में से प्रकरणादि द्वारा केवल एक ही अर्थ के स्मरण का तर्क स्वीकार्य नहीं है, क्योंकि संस्कार और उसके उद्बोधक के रहते स्मरण न होना असंभव है । यदि अनेकार्थक शब्दों से एक अर्थ का ही स्मरण हो, अन्य अर्थ का नहीं; तो ` पयो रमणीयम् ` इत्यादि स्थलों में `पय` का अर्थ यदि वक्ता के तात्पर्य के विपरीत `जल` कहा जाता है, तब प्रकरणादि जानने वाले प्रकरणज्ञ को वक्ता के तात्पर्य का ज्ञान कराते हैं । यदि श्रोता को प्रकरणादि के कारण दूसरे अर्थ का ~~निषेध कैसे करते~~ बोध ही न होता, तो वह उस अर्थ का निषेध कैसे करता ।

द्वितीय मत द्वारा प्रतिपादित यह सिद्धान्त कि अभिधा द्वारा प्रतीत अर्थ तात्पर्यनिर्णय के बिना प्रतीत नहीं हो सकता, अत: अप्रस्तुत अर्थ सर्वत्र व्यंजना द्वारा विदित होता है --यह मत ठीक नहीं, क्योंकि `तात्पर्यज्ञान अभिधा से उत्पन्न बोध का कारण है -- इस नियम में कोई उपपत्ति नहीं

---

१. रसगंगाधर, पृ० १३७-१३८

है । तात्पर्यज्ञान का उपयोग तो केवल इसमें है कि इस शब्द के द्वारा यहाँ यही अर्थ सिद्ध होता है यही प्रवृत्तियोग्य है, दूसरा तो प्रतीत मात्र होता है, प्रवृत्तियोग्य नहीं है । अत: उक्त स्थलों में प्रस्तुत और अप्रस्तुत दोनों ही अर्थ अभिधेय ही हैं ।

यदि यह मानें कि अप्रस्तुत अर्थ को प्रतीत कराने वाली व्यंजना का उल्लास कहीं कहीं होता है और वक्ता का तात्पर्यज्ञान एवं श्रोता की विशिष्ट शक्ति का कारण है, तो यह भी उचित नहीं । क्योंकि तात्पर्यज्ञान तो शब्द से अभीष्ट अर्थ का ज्ञान भर करा देता है, श्रोता की बुद्धि-शक्ति को व्यंजना की उल्लासिका के स्थान पर अभिधा की उद्बोधिका ही मानना चाहिए । वह किसी पद की अन्य अर्थ समझाने वाली अभिधा को उद्बुद्ध न कर व्यंजना को उल्लसित करती है -- यह मानना उपपत्ति-रहित है ।

अप्राकरणिक अर्थ शक्तिवेद्य होकर ही अन्वयबुद्धिगोचर हो जाता है यह मान लें , किन्तु जहाँ दूसरा जुगुप्सित अर्थ बाधित होता है, उन 'जैमिनीयमूलं धत्ते रसनायामयं द्विज:' इत्यादि स्थलों में अन्य अर्थ की प्रतीति व्यंजना द्वारा ही माननी पड़ेगी -- यह मान्यता भी ठीक नहीं, क्योंकि 'गामवतीर्णा सत्यं सरस्वतीयं पतंजलिव्याजात्' तथा 'सोधानां नगरस्यास्य मिलन्त्यर्केण मौलय:' इत्यादि स्थलों में अपनाये गये उपाय कि बाधज्ञान शब्द से होने वाले बोध को रोक नहीं सकता -- यहाँ भी बोध करायेंगे । अत: द्वितीय अप्रस्तुत अर्थ का बोध व्यंजना द्वारा नहीं, अभिधा द्वारा ही मानना चाहिए । किन्तु प्रस्तुत और अप्रस्तुत अर्थों की उपमा अवश्य व्यंग्य होती है । इसी तरह योगरूढिस्थल में अप्रस्तुत यौगिक व्यंग्य ही होता है, क्योंकि 'रूढिर्योगापहारिणी' नियम के अनुसार प्रस्तुत रूढ अर्थ की प्रतीति के अनन्तर भी अप्रस्तुत यौगिक अर्थ अभिधा से प्रतीत नहीं हो सकता । मुख्यार्थ बाध के अभाव में लक्षणा भी नहीं हो सकती । अत: उक्त अर्थ व्यंग्य ही मानना होगा । अत: योगरूढि और यौगिकरूढि स्थल में अप्रस्तुत यौगिक अर्थ के लिए व्यंजना का आश्रय अनिवार्य है ।१.

---

१. रसगंगाधर, पृ०१३६-१४५ .

पंचम अध्याय

शब्दशक्ति

शब्दशक्ति विवेचन के प्रसंग में पण्डितराज ने अभिधा और लक्षणा का विवेचन ही प्रस्तुत किया। व्यंजना की स्थापना के लिए जो भगीरथ प्रयास ध्वनिकार से आरंभ हुआ था, पण्डितराज के समय तक वह सर्वथा परिणत हो चुका था और व्यंजना की स्थापना के लिए किसी अतिरिक्त प्रयास की आवश्यकता न थी। इसके अतिरिक्त काव्य विवेचन के प्रसंग में पंडितराज ने जिस ध्वनि काव्य का प्रतिपादन किया और उसका विभाजन किया, उस विभाजन का आधार अभिधा और लक्षणा का ही था। पण्डितराज ने अभिधा और लक्षणा के विवेचन के लिए दी गयी अवतरणिकाओं में यह स्पष्ट कर दिया है कि विवेचित ध्वनिप्रपंच यन्मूलक है, उन अभिधा और लक्षणा का वे विवेचन प्रस्तुत कर रहे हैं।[1]

अभिधा का विवेचन प्रस्तुत करते हुए पण्डितराज ने उसका स्वरूप इस प्रकार रखा:-

"शक्त्याख्योऽर्थस्य शब्दगतः, शब्दस्य अर्थगतो वा। सम्बन्ध-विशेषोऽभिधा। सा च पदार्थान्तरमिति वैचित्। अस्मात्पदादयमर्थोऽवगन्तव्य: इत्याकारेश्वरेच्छैवाभिधा। तस्याश्च विषयतया सर्वत्र सत्त्वात्पटादीनामपि घटादिपदवाच्यता स्यात्। अतो व्यक्ति-विशेषोपधानेन घटादिपदाभिधात्वं वाच्यमित्यपरे।"[2]

इससे स्पष्ट है कि पण्डितराज अर्थ का शब्दगत अथवा शब्द का

---

1. रसगंगाधर, पृ० १४०, १४४

2. रसगंगाधर, पृ० १४०

अर्थगत सम्बन्ध विशेष ही अभिधा मानते हैं। इसका नाम वे शक्ति मानते हैं। इस शक्ति का स्वरूप क्या है, इस सम्बन्ध में केचित् और अपरे के नाम से मत प्रस्तुत करते हैं। नागेश 'केचित्' से तात्पर्य वैयाकरणों और मीमांसकों से बतलाते हैं और 'अपरे' नैयायिक हैं।[१]

वैयाकरणों ने शक्ति के स्वरूप का सुस्पष्ट और गहन विवेचन किया है। उन्होंने शब्द का नियमन ही नहीं किया, उसके स्वरूप, अर्थ के स्वरूप और शब्दार्थ सम्बन्ध को भी भली भांति विवेचित किया है। वार्तिककार वररुचि ने 'सिद्धे शब्दार्थसम्बन्धे' वार्तिक लिखकर वैयाकरणों की विचारसरणि सामने रख दी। महाभाष्यकार ने इसका तात्पर्य स्पष्ट करते हुए साफ माना कि शब्द अर्थ और शब्दार्थ सम्बन्ध तीनों ही 'सिद्ध' अर्थात् नित्य हैं।[२] 'जाति स्फोट लक्षण' अथवा 'व्यक्तिस्फोट लक्षण' शब्द नित्य है। जातिरूप अर्थ भी नित्य है और व्यवहार परम्परा से अनादि होने के कारण सम्बन्ध भी नित्य है।[३] शब्द और अर्थ का सम्बन्ध तादात्म्यता का (है और वह) शक्तिरूप है।[४] नित्य शब्द और नित्य अर्थ का सम्बन्ध तथा योग्यता भी इसी प्रकार अनादि है, जिस प्रकार इन्द्रियों की अपने विषयों में।[५]

नागेश ने महाभाष्यकार और भर्तृहरि आदि के विवेचन का आलो-

---

१. मर्म प्रकाश, रसगंगाधर, पृ० १४०

२. महाभाष्य, ~~सू०~~ १।१।१, पृ० ५८-६२

३. प्रदीप, पृ० ५८

४. उद्योत, पृ० ५८

५. भर्तृहरि, वाक्यप्रदीप—

'इन्द्रियाणां स्वविषयेष्वनादिर्योग्यता यथा।
अनादिरर्थैः शब्दानां सम्बन्धो योग्यता तथा।'

३।३।२९

* समवायादिनिमित्तान पेक्षयैवोच्चरितमात्रा —

(अगले पृष्ठ पर

हन करके पद और पदार्थ के सम्बन्धान्तर को ही शक्ति बताया । इसका ही दूसरा नाम वाच्यवाचकभाव है । इस शक्ति का ग्राहक इतरेतराध्यासमूल तादात्म्य है । वही संकेत है । उसी तादात्म्य के पदनिष्ठ शक्ति के उपकारक होने के कारण उस शक्तित्व का आरोप कर शक्ति रूप में व्यवहार किया जाता है, किन्तु शक्ति और तादात्म्य को एक नहीं मान लेना चाहिए, क्योंकि शक्ति सम्बन्ध-विशेष है और तादात्म्य में है सम्बन्ध का अभाव । तादात्म्य का स्वरूप भेदाभेद का है । तादात्म्याघटकभेद का अथवा अभेद का सम्बन्ध कहीं नहीं देखा गया है । इसीलिए महाभाष्यकार ने संकेत को इतरेतराध्यासरूप और स्मृत्यात्मक माना है ।[1]

यह तादात्म्य तद्भिन्नता में भी तदभेद प्रतीति है । अभेद के अध्यस्त होने से दोनों का विरोध नहीं होता । इस इतरेतराध्यास का व्यवहार न तो अत्यंत भेद में होता है, न ही अत्यन्त अभेद में ।[2]

यही अध्यास संकेत है और यह शक्ति का ग्राहक है । आदिव्यवहारकर्ता ईश्वर द्वारा कृत ही यह अध्यास है । आशय यह है कि उन उन पदों में अनादिरूप से सिद्ध वाच्यवाचकभाव रूप शक्तिविशेष ईश्वरसंकेत को प्रकाशित करता है, उत्पन्न नहीं करता जिस प्रकार दीपक स्थित वस्तुओं को ही प्रकाशित करता है या जैसे पिता और पुत्र में संस्थित जन्यजनकभावरूपसम्बन्ध " वह इसका पिता है, यह इसका पुत्र है" इस लोक व्यवहार से व्यक्त होता है ।[3]

पिछले पृष्ठ का शेष— "शब्दादर्थप्रत्ययोत्पत्तेरकृत्रिमा शक्तिरवसीयते ।..... तथा च योग्यता स्वाभाविकी सिद्धा, संकेतस्तु, तामेव द्योतयति ।"

— कैयट:

----

१. वैयाकरण सिद्धान्तलघुमंजूषा, रत्नप्रभा, पृ० २३-२५
२ ,, ,, ,, पृ० ३४
३ ,, ,, ,, पृ० ३४-३६

मीमांसक शब्दप्रमाणवादी है और जहां प्रभाकर शब्द से तात्पर्य केवल वेद से लेते हैं, कुमारिल आप्तवाक्य को भी शब्दप्रमाण में परिगणित कर लेते हैं।[१] मीमांसक शब्द को नित्य मानते हैं। यद्यपि वे वैखरीविषयक शब्दानुपूर्वी को नित्य नहीं मानते, किन्तु वे पद को वर्णात्मक तथा वर्णों को नित्य मानते हैं। प्रत्येक वर्ण में शक्ति होती है। यद्यपि केवल वर्णशक्ति अर्थ नहीं देती तथापि शब्दगत वर्णों की सामूहिक शक्ति अर्थ बोध कराती हैं।[२] इस प्रकार मीमांसक 'पद' 'वर्ण' तथा उनकी अर्थ-बोधक शक्ति को नित्य स्वीकार करता है।[३] शबर स्वामी ने शब्द और अर्थ के सम्बन्ध को नित्य माना है। शब्द और अर्थ का यही सम्बन्ध मीमांसक-सम्मत शक्ति है। यह शक्ति वह्नि की दाहकता के समान ही स्वाभाविक रूप से शब्दों में रहती है। केवल आधुनिक नामों में होने वाले संकेत शक्ति के कारण से हो सकती हैं, किन्तु स्वतः प्रमाण वेद के शब्दों में ऐसा नहीं है।[४] यह शक्ति नैयायिकों के सात पदार्थों से पृथक् स्वतंत्र पदार्थ है।

नैयायिक 'यह पद इस अर्थ को बोधित करे' अथवा इस पद से यह अर्थ बोधनीय है। इस प्रकार की संकेतरूपा इच्छा को अभिधावृत्ति मानता है। यह पदनिष्ठ और पदार्थविषयक संकेत दो प्रकार का होता है — आधुनिक संकेत और ईश्वरसंकेत। आधुनिकसंकेत विभिन्न शास्त्रों में 'नदी' 'वृद्धि' जैसे पारिभाषिक शब्दों में रहता है और यह संकेत परिभाषा रूप है। ईश्वर संकेत ही शक्ति है, उससे अर्थबोधक पद वाचक बनता है, जैसे गोत्वादिविशिष्ट व्यक्ति का बोधक 'गो' आदि — पद वाचक है और

---

१. हिस्ट्री आफ इण्डियन फिलासफी — दासगुप्त, भाग १, पृ० ३६७

२. ,, ,, ,, पृ० ३६५

३. ,, ,, ,, पृ० ३७४

४. शक्तिवाद, पृ० १२

तद्बोध्य गवादि वाच्य । वही मुख्यार्थ भी कहा जाता है ।[1] इस प्रकार संकेत ईश्वरेच्छारूप हुआ, किन्तु पारिभाषिक शब्दों में, नित्य नवीन-नाम करणों में तथा अपभ्रंश शब्दों में संकेत की कठिनाई को ध्यान में रखते हुए कतिपय नव्य-नैयायिकों ने संकेत को 'इच्छारूप' ही माना है, यद्यपि सांप्रदायिक आधुनिकसंकेतित में शक्ति ही नहीं मानते या फिर शक्तिभ्रम स्वीकार कर लेते हैं ।[2] नैयायिक यदि शक्ति को ईश्वरेच्छा या इच्छा रूप मान लेता है, तो इससे उसे लाघव होता है। वह इसका अन्तर्भाव 'गुण' नामक पदार्थ में कर देता है, क्योंकि चौबीस गुणों में एक गुण इच्छा भी है, किन्तु यदि शक्ति को इच्छारूप न माना जाय, तो उसे स्वतंत्र पदार्थ मानना पड़ेगा । नैयायिक के विपरीत वैयाकरण -- और मीमांसक शक्ति को स्वतंत्र पदार्थ ही मानते हैं ।

पण्डितराज ने शक्तिस्वरूप के सम्बन्ध में वैयाकरण-मीमांसक पक्ष और नैयायिक पक्ष का मत प्रस्तुत कर अपनी सहेतुक सम्मति वैयाकरणपक्ष की ओर दी है । ईश्वरेच्छा को शक्ति मान लेने से कठिनाई सामने आती है । ईश्वरेच्छा विषयता-सम्बन्ध से सर्वत्र रहती है अर्थात् संसार की कोई वस्तु ऐसी नहीं है, जो ईश्वरेच्छा का विषय न हो, और वह इच्छा सर्वत्र है, अतः जो इच्छा घट के विषय में है, वह पट के विषय में भी होगी । अतः पट आदि पद का अर्थ घट आदि पद का वाच्य हो जायगा । इस दोष के निराकरण के लिए यह मानें कि व्यक्तिविशेष को उपाधि रूप मान कर ही घटादि पदों की अभिधा होती है अर्थात् घट-पदार्थ से उपहित इच्छा घट-पद की शक्ति है और 'घट पदार्थ से उपहित इच्छा 'घट' पद की -- तो ऐसा मानने पर भी ईश्वर की इच्छा की ही भाँति ईश्वर का ज्ञान और यत्न भी अभिधा कहला सकता है, क्योंकि जो जो पदार्थ ईश्वर की इच्छा के विषय हैं, वे भी

---

१. शक्तिवाद, पृ० ३

२. न्यायसिद्धान्तमुक्तावली, पृ० २६५

उनके ज्ञान और यत्न के विषय भी हैं । फिर इसमें क्या विनिगमक रहेगा कि ईश्वर की इच्छा को ही अभिधा कहा, जाय, इनके ज्ञान और यत्न को नहीं । अत: शक्ति को इच्छा के पृथक् स्वतंत्र पदार्थ मानना ही श्रेष्ठ है ।[१] इस प्रकार पंडितराज ने केवल वैयाकरण-मीमांसकसम्मत पदार्थान्तर का मत ही स्वीकार किया, अपितु अर्थ का शब्दगत, शब्द का अर्थगत सम्बन्ध विशेष अभिधा मान कर वैयाकरणों के इतरेतराध्यास को भी स्वीकार कर उसकी स्वतंत्रता प्रतिपादित की ।

श्री मधुसूदन शास्त्री की उठायी आपत्ति है कि पण्डितराज के लक्षण में 'सम्बन्ध विशेष' सन्निवेश से कठिनाई आती है, क्योंकि अभिधा भी सम्बन्ध रूप है और लक्षणा भी । यदि लक्षणा को अर्थों का परस्पर-सम्बन्ध रूप मानें, तो फिर वह शब्दशक्ति नहीं कही जा सकेगी, जबकि वह शब्दशक्ति मानी गयी है । फिर सम्बन्ध का स्वरूप भी क्या है ?[२] किन्तु यह आपत्ति उपर्युक्त विवेचन से निर्मूल हो जाती है । स्पष्टत: उन्हें वैयाकरणों का इतरेतराध्यासरूप सम्बन्ध स्वीकार था और यह सम्बन्ध निश्चय ही लक्षणा के सम्बन्ध से भिन्न है ।

अप्पय दीक्षित ने अभिधा का लक्षण करते हुए वृत्तिवार्तिक में 'शक्त्या प्रतिपादकत्वमभिधा कहा' । उन्होंने 'शक्ति के कारण (शब्द-मोंस रखने वाली) प्रतिपादकता अभिधा है । -यह मत रखा, किन्तु पण्डितराज की सूक्ष्मेक्षिका बुद्धि ने इस लक्षण की कमजोरी को पकड़ लिया । पंडितराज ने अभिधा क्या है, इसे सर्वथा स्पष्ट समझा है । उन्होंने बताया कि अभिधा शब्द की वृत्ति अथवा व्यापार है, जिसका ज्ञान शब्द से होने वाले अर्थ की उपस्थिति में कारण है । यदि 'प्रतिपादकत्व' को ही अभिधा

---

१. रसगंगाधर-पुरुषोत्तम चतुर्वेदी, पृ० ३४५-३४६
२. रसगंगाधर, मधुसूदन शास्त्री, पृ० १०८-६

मानें, तो 'प्रतिपादकत्व' का अर्थ है --(१) प्रतिपादक शब्द में रहने वाला धर्म विशेष (२) प्रतिपत्ति (शब्द के अर्थबोध) के अनुकूल व्यापार। यदि प्रथम अर्थ स्वीकार करें, तो प्रतिपादक का अर्थ हुआ प्रतिपत्ति का कारण और प्रतिपादकता का अर्थ हुआ प्रतिपत्ति के कारण (शब्द) में स्थित कारणतारूप विशेष धर्म। आशय यह है कि इस प्रकार 'प्रतिपादकत्व शब्द के अर्थबोध का कारण नहीं अपितु शब्द में स्थित कारणत्वरूप विशेषधर्म ठहरता है। ऐसा 'प्रतिपादकत्व' 'प्रतिपत्ति' का कारण नहीं है, क्योंकि 'शब्द शब्दार्थ बोध का कारण है', इस ज्ञान मात्र से अर्थ का बोध नहीं होता, अर्थबोध तो अर्थ का शब्द में अथवा शब्द का अर्थ में स्थित सम्बन्ध विशेष जानने से ही होता है। यदि 'प्रतिपादकत्व' का अर्थ 'शब्दार्थबोध के अनुकूल व्यापार' लिया जाय, तो लक्षण बन सकता है, क्योंकि उक्त व्यापार स्वयं ज्ञात होकर ही अर्थोपस्थिति का कारण बनता है। किन्तु यह अर्थ स्वीकार करने पर भी लक्षण में 'शक्त्या' अर्थात् 'शक्ति के कारण' अथवा 'शक्ति के द्वारा' -यह सन्निवेश करके जिस शक्ति को कहना चाहते हैं, वही तो अभिधा है। इस प्रकार अप्पय दीक्षित के लक्षण का अर्थ है अभिधा के कारण प्रतिपादन का नाम अभिधा है' इस प्रकार लक्षण पर्यवसित होता है। फलतः दोनों दोष उपस्थित हैं, प्रथम असंगति और द्वितीय आत्माश्रय। असंगति यह है कि शब्दजन्य अर्थबोध में कारण अभिधातिरिक्त कोई शक्ति प्रमाण से सिद्ध नहीं है, तब अभिधा के कारण प्रतिपादन अभिधा है' कहना स्पष्टतः असंगत है और पहले अभिधा समझ में आये, यह आत्माश्रय दोष है।[1]

नागेश ने यहाँ अप्पय दीक्षित के पक्ष का समर्थन करते हुए 'शक्त्या' में तृतीया का अर्थ अभेद मानकर 'धान्येन धनवान्' में ~~धान्य विशेष और धन सामान्य है। अतः सामान्य वि~~ की ही भाँति इसे निर्दुष्ट प्रयोग बताया है।

---

१. रसगंगाधर, पृ० १७७

'प्रकृत्यादित्वाद् धान्येन धनवान् इत्यादिवत्तृतीया
अभेदार्थकत्वेन न कश्चिद्दोष इति चिन्त्यमेतत् सर्वम् ।'[१]

किन्तु श्री पुरुषोत्तम शर्मा चतुर्वेदी ने अपनी टिप्पणी में इसका उत्तर इस प्रकार दिया है कि 'धान्येनधनवान' में धान्य विशेष पदार्थ और धन सामान्य है । अत: सामान्य विशेष का अभिन्न होने पर पृथक् निरूपण बन सकता है पर शक्ति और 'अभिधा' दोनों पर्याय हैं, अत: उनका पृथक निरूपण असंगत ही है ।[२]

श्रीमहादेव शास्त्री ने 'शक्तिस्वरूप शब्दनिष्ठ बोधहेतु व्यापार अभिधा है' -नागेश के इस कथन को ' घटनील घट है' व्यवहार की भांति नवीन सम्मत अतएव ठीक व्यवस्था है बताया है, इसका उत्तर भी चतुर्वेदी जी ने वही दिया है, अर्थात् 'घट' सामान्य है और 'नील घट' विशेष । यदि साहित्य शास्त्र में 'शक्ति' और अभिधा' को पर्याय माना जाता है, तो यह उत्तर कैसे संगत होगा । साहित्यदर्पणकार की भांति 'शक्ति' का अर्थ वृत्तिमात्र करने पर 'शक्य' और 'लक्ष्य' का भेद कठिन हो जायगा ।

भट्टमथुरानाथ शास्त्री ने तृतीया के ' अभेद ' अर्थ को स्वीकार कर वैयाकरण नागेश के समाधान पर कटाक्ष करते हुए अप्पयदीक्षित के लक्षण में 'शब्दपुनरुक्ति के समर्थक इस उत्तर को' ग्राम्य' बताकर तिरस्कृत कर दिया है ।[३]

यह अभिधा तीन प्रकार की है -(१) केवल समुदाय शक्ति

---

१. हिन्दी रसगंगाधर, भाग १, पृ० ३४८
२. ,, ,, पृ० ३४८
३. रस गंगाधर, पृ० १७८

(२) केवलावयवशक्ति (३) समुदायावयवशक्तिसंकर :—

' सेयमभिधा त्रिविधा— केवलसमुदायशक्ति, केवलावयुवशक्ति:, समुदायावयवशक्तिसंकरश्चेति ।'[१]

इन्हीं को रूढ़ि, योग और योगरूढि नामों से भी कहा गया है। पहली का उदाहरण ' डित्थ ' आदि अव्युत्पन्न प्रातिपादक हैं, क्योंकि उनमें प्रकृति-प्रत्यय आदि अवयव रहते ही नहीं, अत: वहाँ अवयवशक्ति होती ही नहीं। केवल अवयवशक्ति के उदाहरण ' पाचक ' , पाठक ' आदि शब्द हैं, क्योंकि उनमें धातु 'पच्' आदि और प्रत्यय-ण्वुल-अक आदि की शक्ति द्वारा ज्ञात होने वाले दो अर्थों के अन्वय से प्रकाशित— पाककरने वाला — इस अर्थ के अतिरिक्त, किसी अन्य अर्थ की प्रतीति नहीं होती, अत: वहाँ समुदायशक्ति नहीं है। समुदायशक्ति तथा अवयवशक्ति के संकर का उदाहरण है। — पङ्कज ' पङ्कज ' शब्द के तीन अवयव हैं —उपपद (पंक), धातु (जन्) और प्रत्यय (ड) उनके अर्थ मिलाने से ' पंक से उत्पन्न होने वाला ' अर्थ निकलता है। किन्तु ' पंकज ' से इतना ही अर्थ नहीं मिलता, अपितु ' पद्मत्वविशिष्ट ' अर्थ भी मिलता है। फलत: अवयवशक्ति से प्राप्त पंक में उत्पन्न होने वाला के अतिरिक्त ' कमल ' यह समुदायशक्ति लभ्य अर्थ भी मिलता है। अत: यहाँ दोनों शक्तियों का मिश्रण है।

अप्पयदीक्षित ने इन तीनों शक्तियों का लक्षण करते हुए कहा— ' केवल अखंड शक्ति से एक अर्थ प्रतिपादकता का नाम 'रूढि' है, अवयवशक्ति मात्र सापेक्ष पद की एकार्थप्रतिपादकता ' योग ' है तथा अवयव-समुदाय दोनों शक्तियों की अपेक्षा रखने वाली एकार्थ प्रतिपादकता का नाम यौगरूढि है।' किन्तु इस प्रकार के लक्षणों में उनके अभिधालक्षण की ही भाँति ही असंगति और आत्माश्रय दोष आ जाते हैं।

---

१. रस गंगाधर, पृ० १७८

अभिधा के इन लक्षणों के बावजूद अश्वगन्धा, अश्वकर्ण, मंडप, निशान्त और कुवलय आदि शब्दों में कौन सी शक्ति मानी जाय, क्योंकि इनके दो-दो अर्थ हैं, जिनमें एक समुदायशक्ति और दूसरा अवयवशक्ति से मिलता है --

" अथ अश्वगन्धा -- अश्वकर्ण- निशान्त-
कुवलयादिशब्देषु का शक्तिरिति ?" [१]

इस प्रश्न को उठाकर पण्डितराज ने उत्तर दिया है।

कुछ लोगों का कहना है कि अश्वगन्धारस पिबेत् जैसे प्रयोगों में औषधिवाची अश्वगन्धा शब्द में केवलसमुदाय शक्ति होती है और घुड़साल अर्थ होने पर उसमें केवलावयवशक्ति रहती है। एक ही शब्द में इन दो भिन्न शक्तियों को मान कर फिर 'केवल' विशेषण लगाने में कोई विरोध नहीं है, क्योंकि यहां दोनों शक्तियां मिल कर कोई एक अर्थ नहीं समझातीं, बल्कि पृथक् व पृथक् स्थलों में अलग-अलग अर्थ समझाती हैं -- अतः वे अपने-अपने स्थल में केवल ही हैं। यहां केवलता से तात्पर्य भी यही है कि समुदाय शक्ति और अवयव शक्ति और ऐसे अलग-अलग दो अर्थों की बोधक होनी चाहिए, जिनमें परस्पर अन्वय की योग्यता न हो जहां दोनों अर्थों में अन्वययोग्यता होगी जैसे 'पंकज' आदि-शब्द, वहां तो समुदाय और अवयव शक्तियों का संकर माना जाता है, किन्तु अर्थों की अन्वय योग्यता से रहित स्थलों में मिश्रण का प्रसंग ही नहीं उठता।

" इदमेव हि केवलत्वमिह विवक्षितम्, यदन्वयायोग्यार्थबोधकत्वम्।
संकरस्त्वन्वययोग्यार्थ बोधकयोरेवेति न तस्यात्र प्रसक्तिः "इत्याहुः।" [२]

अन्य विद्वान् 'केवल' शब्द की इस व्याख्या को प्रभावहीन मान कर समाधान देते हैं कि अश्वगन्धा आदि पदों में अभिधा के प्रथम तथा द्वितीय भेद अर्थात् समुदायशक्ति अथवा रूढ़ि या अवयवशक्ति अथवा योग की प्राप्ति

---

१. रसगंगाधर, पृ० १७६
२. ,, ,, १७६

ही नहीं होती, क्योंकि वहां एक ही पद में दोनों तरह की शक्तियों के रहने के कारण केवलत्व नहीं होता । अतः संकरात्मक अभिधा के दो भेद माने जाने चाहिए —एक योगरूढ़ि दूसरा यौगिक-रूढि । प्रथम का उदाहरण `अश्वगन्धा` `अश्वकर्णा` आदि शब्द । लेकिन दूसरे लोग यौगिकरूढ़ि को संकरात्मक शक्ति का उपभेद न मानकर अभिधा का चौथा भेद ही मानते हैं क्योंकि संकरात्मक अभिधा का एक ही भेद `योगरूढि` प्रसिद्ध है ।

नागेश ने भी रूढि, योग और योगरूढि के अतिरिक्त `अश्वगन्धा` को औषधिविशेष अर्थ में रूढ या घुड़साल` अर्थ में यौगिक` अथवा यौगिक रूढ स्वीकार किया है ।

नागेश ने यहां एक महत्वपूर्ण बात स्पष्ट कर दी है कि `रूढि-योगापहारिणी` सिद्धान्त के अनुसार रूढि योग की अपेक्षा बलवती है, तो ऐसे स्थलों पर रूढ अर्थ ही ग्राह्य होना चाहिए, क्योंकि अवयवार्थानुसन्धान-मूलक यौगिक अर्थ की अपेक्षा रूढ अर्थ प्रथम उपस्थित होता है, अतः वही बलवान् होगा—यह आशंका नहीं करनी चाहिए, क्योंकि उपर्युक्त नियम वहीं लागू होगा जहां प्रकरणादि का अभाव होगा । जहां यौगिक अर्थ प्रथमोपस्थित हो, वहां तो वही बलवान् होगा जैसे ` वाजिभ्यो वाजिनम्` श्रुति में प्रकरणादिवश विश्वेदेव अर्थ के प्रथम उपस्थित होने के कारण` वाजमन्नमामिक्षारूपमस्ति येषाम्` इस योग से ही बोध होता है, अश्वपरक रूढार्थ ग्राह्य नहीं होता । किन्तु `मण्डप` आदि शब्दों से जहां मण्डप हो गया जैसे प्रयोगों में` मण्ड पीने वाला` —इस यौगिक अर्थ की जगह पर` गृहविशेष तद्गत-सर्वोपकारकत्व आदि गुणों से युक्त हो गया —` यह अर्थ लिया जाता है, वहां तो लक्षणा ही होती है ।[१]

इस तरह से पण्डितराज ने जिस `यौगिकरूढ` भेद का विवेचन किया, उसे नागेश ने भी स्वीकार किया ।

---

१. वैयाकरणसिद्धान्तलघुमंजूषा—रत्नप्रभा, पृ० ८६-६०

अभिधा के भेदों के सम्बन्ध में एक और मत की चर्चा पण्डितराज ने की । इस मत के अनुसार अभिधा का एकमात्र भेद रूढ़ि ही है, योग नामक भेद तो है ही नहीं, क्योंकि सभी शब्द अखंड हैं, उनमें अवयव होते ही नहीं । अत: समासों में अलग-अलग पदों की तथा पदों में प्रकृति-प्रत्यय का विभाग काल्पनिक ही है । विशिष्ट पद की विशिष्ट अर्थ में शक्ति स्वीकृत है और वह है, रूढ़ि । इस मत ने प्रकृतिप्रत्यय विभाग की काल्पनिकता की चरमसैद्धान्तिक स्थिति की प्रेरणा सम्भवत: वाक्यपदीय से ग्रहण की । [१]

यह सत्य है कि अन्तत: तो वाक्य में पदों की और पदों में प्रकृति प्रत्यय की कल्पना कल्पना ही है और यह बालकों की उपलालना है । किन्तु यह कल्पना ' असत्य मार्ग में स्थित होकर, फिर सत्य की प्राप्ति ' की अनिवार्यता के कारण है, अत: परमार्थत: कुछ भी हो, व्यवहार में ये भेद मानना आवश्यक है । किन्तु ये भेद मानने पर भी और इतने विवेचन के बाद भी यह शंका रह जाती है कि जहां एक साथ योग रूढ़ और रूढ़ शब्द आते हैं — जैसे गीष्पति-वाणी के अधिपति भी आंगिरस (बृहस्पति) आपके गुण समूह के वर्णन का और सहस्रनयन इन्द्र भी आपके अद्भुत रूप की इयत्ता करने का दर्प नहीं कर सकते :—

' गीष्पत्याङ्गिरसो गदितुं ते गुणगणान् सगर्वोंऽनि ।
इन्द्र: सहस्रनयनोऽप्यद्भुतरूपं परिच्छेत्तुम् ।। ' [२]

यहां रूढ़ अर्थ को लेकर पुनरुक्ति हो जायगी ।

---

१. वाक्यपदीय— ..... ' बालानामुपलालना । '
' पदे न वर्णा: विद्यन्ते वर्णेष्ववयवा न च ।
वाक्यै पदानामत्यन्तं प्रविभागो न विद्यते ।। '

२. रसगंगाधर, पृ० ९८०

ऐसे स्थलों पर प्रस्तुत विषय के लिए उपयोगी अतिशय विशेष के निवेदक होने के नाते योगरूढ पद के योगार्थ की ही बोधकता होती है -यह सिद्धान्त माना नहीं जा सकता, क्योंकि प्रकरणादि नियामक के अभाव में योगरूढ पद की रूढ शक्ति नियंत्रित हो सकती है और अनियन्त्रण की स्थिति में वह पद योगार्थमात्र का बोधक है, यह निश्चय कैसे हो सकता है। फलत: रूढ अर्थ का भी बोध होगा ही और पुनरुक्ति दोष बना ही रहेगा। शक्तिसंकोच तो आवश्यक है, क्योंकि जब एक ही पद से योग और रूढ दोनों ही आवश्यक अर्थ की उपस्थिति संभव है, तो दूसरे पद का प्रयोग व्यर्थ है।

तो इस प्रकार यह आशंका स्थिर रह जाती है कि "गीष्पतिर-प्याङ्गिरसो" इत्यादि स्थल में रूढधर्म को लेकर पुनरुक्ति हो जायगी। किन्तु यह आशंका नहीं होनी चाहिए क्योंकि एक पद से गृहीत होने के कारण पहले अन्तरंगभूतयोगार्थ और रूढ़अर्थ के अन्वय हो जाने पर, बाद में प्रकट हुए अन्यपद (आंगिरस आदि) के अर्थ के साथ योगरूढ पद के सम्मिलित अर्थ का अन्वय होता है। आशय यह है कि अन्य किसी पद के साथ योग रूढ पद के सम्मिलित अर्थ का ही अन्वय होना उचित है, न कि पृथक्- पृथक् स्थित केवल योगार्थ या केवल रूढ़यर्थ का। यह न्यायसिद्ध बात है। अत: यहां "गीष्पति" शब्द के केवल "वाणी के पति" अर्थ का "आंगिरस" पद के साथ" अन्वय नहीं हो सकता। तथापि ऐसा वहीं होता है, जहां अभिधा द्वारा अर्थ का प्रतिपादन हो हो, अन्य वृत्ति से प्रतिपादित अर्थ में यह न्याय नहीं प्रवृत्त होता। ऐसे स्थलों में यदि लक्षणामान ली जाय तो योगरूढ पद से केवल योगार्थ प्रतिपादन में कुछ बाधक नहीं होगा। अत: इस प्रकार के स्थलों में केवल योगार्थ के प्रतिपादन के लिए लक्षणा मानी जाती है :—

" लक्षणायां तु योरूढेन योगार्थमात्रप्रतिपादनेन न किंचिद् बाधकमस्ति।" [१]

---

१. रसगंगाधर, पृ० १८०

द्वितीय पद अर्थात् 'आंगिरस' का प्रयोग निरर्थक भी नहीं है, क्योंकि यदि निरर्थक समझ कर द्वितीय पद का प्रयोग न किया जाय, तो रूढ्यर्थ का बोध करवा देने से योगरूढ शब्द गतार्थ हो जायगा, और तब उसके द्वारा प्रतिपादित किये जाने वाले योगार्थ की जैसे 'पंकजाक्षी' पद में योगार्थ संवलित रूप (कीचड़ से उत्पन्न होने वाला कमल) अर्थ अभीष्ट है, केवल 'कमलनयना' अर्थ ही अभीष्ट है, अत: योगार्थ में तात्पर्य नहीं होता, किन्तु अनिवार्य होने के कारण उसकी प्रतीतिमात्र होती है, योगार्थ का उपयोग कुछ नहीं है, उसी तरह अनिवार्य होने पर वक्ता के प्रधान तात्पर्य का विषय न होने से की गयी शंका से दुर्वद्रूपता नष्ट हो जायगी । योगार्थ व्यर्थ हो जायगा । ऐसी दशा में प्रस्तुत विषय के उपयोगी अतिशयविशेष की व्यंजना पाक्षिक हो जायगी, अर्थात् द्वितीय पद के प्रयोग के बिना शब्द में वह सामर्थ्य ही नहीं रह पाती, जिसके यौगिक अर्थ को वक्ता का तात्पर्य विषय मानना ही पड़े । [१]

'पुष्पधन्वा विजयते जगत्त्रत्करुणावशात्' इत्यादि स्थलों में 'पुष्पधन्वा' इस एक ही पद से रूढ्यर्थ (कामदेव) की उपस्थिति और योगार्थ द्वारा धनुष की व्यर्थता का बोध हो जाता है । यहाँ कामदेव वाची अन्य पदों के रहते हुए इस विशिष्ट पद का ग्रहण करने का अनुसन्धान ही ऐसे पदों के योगार्थ में दुर्वद्रूपता उत्पन्न कर देता है ।

अत: यह स्पष्ट हो जाता है कि योगरूढ पद के अतिरिक्त द्वितीय रूढ पद के ग्रहण करने या करते रहने से कोई हानि नहीं होती:-

" तदित्थं द्वितीयपदस्योपादानेऽनुपादाने वा न क्षति: ।" [२]

---

१. रसगंगाधर, पृ० १८०-८१

२ ,, ,, १८१

दिशि दिशि जलजानि सन्ति कुमुदानि' इत्यादि स्थलों में यौगरूढ शब्द के समीप उसके रूढ्यर्थ से भिन्नजातिक अर्थ के वाचक होने पर भी यौगरूढ पद लक्षणा द्वारा केवल यौगिक अर्थ का बोध कराता है। यौगरूढ पदों में योगशक्ति द्वारा रूढ्यर्थसंवलित यौगिक अर्थ ही प्राप्त होता है, अत: वह यौगिक अर्थ स्वतंत्ररूप से भिन्न जातीय (कुमुद आदि) अर्थ के साथ अन्वित नहीं हो सकता, अत: ऐसे स्थलों पर योगशक्ति से काम नहीं चलेगा, लक्षणा मानना आवश्यक है।

पण्डितराज ने अभिधेय, अथवा वाच्य अर्थ का विवेचन करते हुए उनके चार प्रकार माने हैं --जाति, गुण, क्रिया एवं यदृच्छा शब्द। मम्मट के विवेचन का अनुसरण कर व्यक्ति में संकेत मानने में आनन्त्य एवं व्यभिचार दोनों का विवेचन कर उन्होंने वैयाकरणाभिमत चतुष्टयी शब्दानां प्रवृत्ति का प्रतिपादन किया है।[१] जाति स्वरूप के विवेचन में भी उन्होंने मम्मट की विवेचनसरणि का ही अनुधावन करते हुए वाक्यपदीय का भी उद्धरण दिया है। गुण एवं क्रिया में आश्रयभेद के कारण होने वाली भेद प्रतीति को लेकर किये गये विवेचन में भी मम्मट का अनुसरण करते हुए पंडितराज ने भेदप्रतीति को भ्रमरूप ही निरूपित किया है। गुण संप्रदायप्रकाशिनीकार ने उसे यों रखा है --शब्दों में शुक्लतर, शुक्लतम, गच्छतितरां, गच्छतितमाम् आदि में रूपभेद अनुभवसिद्ध है, अत: इनमें जाति नहीं मानी जा सकती, क्योंकि अनुगताकारप्रतीति के बिना जाति मानना असंभव होता है। जहां जाति संभव होती है, वहां तारतम्य व्यवहार नहीं होता। कहीं भी गोतर गोतम व्यवहार नहीं होता --इस प्रकार की जो अनुपपत्ति प्रतीत होती है वह उसका आभास मात्र है, क्योंकि शुक्लतर, शुक्लतम आदि भेद आश्रय-वैमल्य के तारतम्य के उपाधिमूलक हैं। अत: हिम, पय, शंख आदि में शुक्लिमा एकरूप होने के कारण जाति की कल्पना असम्भव नहीं है।[२]

---

१. सम्प्रदायप्रकाशिनी--काव्यप्रकाश, पृ० ४५
अनन्तशयनसंस्कृतग्रन्थावलि, पृ० ८८, १९२६ ई०

२. काव्यप्रकाश, वामन, भलकीकर, पृ० ३२-३८

पण्डितराज ने यहां यह स्पष्ट कर दिया है कि भेद ज्ञान ही है भ्रम रूप । आश्रयभेद से प्रतीत होने वाला भेद वस्तुत: गुण और क्रिया का भेदक नहीं है । यह तो उपलक्षण है । इसी तरह गुण और क्रियाओं में उत्पत्ति और विनाश की प्रतीति भी भ्रम ही है । इसके समर्थन में उन्होंने वर्णनित्यतावादी वैयाकरणों द्वारा गकारादि की उत्पत्ति और विनाश को भ्रमरूप मानने के सिद्धान्त को प्रस्तुत किया :-

> " उत्पत्तिविनाशप्रतीतिरपि तथैव,
> वर्णनित्यतावादे गकाराद्युत्पत्तिविनाश-
> प्रतीतेर्भ्रमत्वस्य स्वीकारात् ।" १

यदृच्छा शब्दों के विवेचन के प्रसंग में पंडितराज ने मम्मट के प्रसंग में एक कदम और आगे बढ़ कर उसे और भी स्पष्टता प्रदान की है । ~~अब~~ यदृच्छा शब्द के प्रवृत्तिनिमित्त का विवेचन करते हुए उन्होंने विभिन्न मत प्रस्तुत किये हैं । यह प्रवृत्ति निमित्त का डित्थत्व धर्म रूप है, जिसे "स्फोट कहते परम्परया व्यक्ति में विद्यमान और अन्त्यवर्ण द्वारा अभिव्यंग्य यह "स्फोट" अखंड है । दूसरे मत के अनुसार वह धर्म वर्णों की आनुपूर्वी है । तीसरे मत के अनुसार अर्थात् वर्णों को अनित्यमानने वालों के अनुसार तो वर्णानुपूर्वी हो ही नहीं, सकती अत: केवल व्यक्ति ही " यदृच्छा " शब्द का अर्थ है । इन तीनों मतों से होने वाले ज्ञान स्वरूप के सम्बन्ध में पण्डितराज ने बताया कि प्रथम दो मतों में स्फोटादिविशिष्ट (व्यक्ति) का बोध होने के कारण ज्ञान सविकल्पक होता है, किन्तु तीसरे मत में ज्ञान निर्विकल्पक होता है, क्योंकि यहां व्यक्ति के अतिरिक्त अन्य कोई विशेषण रूप धर्म है ही नहीं :-

> " तत्राद्यमतद्वये विशेषणाज्ञानाद्विशिष्टप्रत्यय: ।
> तृतीयमते च निर्विकल्पकात्मक: प्रत्यय: ।" २

---

१. रसगंगाधर, पृ० १८४
२. ,, पृ० १८४

मम्मट की ही भाँति पंडितराज ने जातिमात्र में शक्ति मानने वालों के मत का उपस्थापन भी किया है किन्तु चतुष्टयीप्रवृत्तिवाद ही पंडितराज का भी अभिमत मालूम होता है। उन्होंने जातिमात्र को वाच्य मानने के मत का भी सूचना के लिए उल्लेख अवश्य किया है।

अभिधा का विवेचन अग्निपुराण में 'शब्दार्थालंकार' के विवेचन के प्रसंग में आया है। वहाँ 'अभिव्यक्ति' नामक अलंकार के दो भेद माने गये -श्रुति और आक्षेप। उनमें से शब्द का अपने अर्थ को अर्पित करना - या समझाना श्रुति कहलाता है। श्रुति के भी दो प्रकार हैं - पारिभाषिकी और नैमित्तिकी। ये दोनों ही श्रुतियाँ मुख्या (अभिधा) और औपचारिकी (लक्षणा) भेद से दो-दो प्रकार की होती हैं।[1] इस प्रकार शब्द-शक्तियों का विवेचन अग्निपुराण में प्रस्तुत किया गया यद्यपि महिम भट्ट एवं कुन्तक जैसे महान् आलंकारिक सैद्धान्तिक रूप से अभिधावादी ही रहे हैं, किन्तु अभिधा का आलंकारिक दृष्टि से क्रमबद्ध विवेचन तो आचार्य मम्मट ने ही किया। एकावली, प्रतापरुद्रयशोभूषण तथा साहित्यदर्पण आदि ग्रन्थों में आलंकारिक दृष्टि से अभिधा का विवेचन किया गया। अप्पयदीक्षित ने 'वृत्तिवार्तिक' में और विस्तृत विवेचन किया। आलंकारिकों ने अपने विवेचन में मीमांसकों, नैयायिकों तथा वैयाकरणों के चिन्तन का उपयोग किया। पण्डितराज ने इस सारी परम्परा को आत्मसात कर नव्यन्याय की नीरक्षीर-विवेकिनी पद्धति से अभिधा का जो विवेचन प्रस्तुत किया अलंकार शास्त्र को यह उनकी महत्वपूर्ण देन है। उन्होंने अभिधा का दोष-हीन लक्षण प्रस्तुत किया और आलंकारिक दृष्टि से अभिमत अभिधास्वरूप को भी उपस्थित किया। अप्पयदीक्षित द्वारा निर्मित लक्षण की आलोचना कर के उन्होंने प्रकारान्तर से अभिधा के स्वरूप पर प्रकाश डाला। अभिधा के भेदों के विवेचन में भी उनकी मौलिक दृष्टि दिखाई पड़ती है। यौगरूढ़ शब्दों

---

१. अग्निपुराण, अध्याय, ३४५, श्लोक ७-१०

के साथ षष्ठार्थवाची अन्य पद के प्रयोग के सम्बन्ध में पण्डितराज के निरूपण में भी उनकी विश्लेषणात्मक प्रतिभा और पाण्डित्य का दर्शन होता है । -

------

लक्षणा

आचार्य आनन्दवर्धन ने ध्वनि की स्थापना के लिए जिन अभाववादियों को चुनौती दी उनमें एक वे भी थे, जो ध्वनि को 'भक्ति' में अन्तर्निहित समझते थे ।[1] 'भक्ति' में लक्षणा और गौणी दोनों का सन्निवेश था ।[2] आनन्दवर्धन एवम् अभिनवगुप्त ने जिन भक्तिवादियों की चर्चा की है उन्हें मीमांसकों की पुष्ट परम्परा प्राप्त थी । मुकुल भट्ट ने 'अभिधावृत्ति मातृका' में अभिधा के व्यापार के अवसान होने पर लक्षणा को स्वीकार किया ।[3] यद्यपि वे लक्षणा को अभिधा का ही अंग मानते हैं और अभिधा के दस प्रकारों में एक लक्षणा को भी गिनते हैं[4] किन्तु ध्वनि के अन्तर्भाव के लिए लक्षणाविवेचन का महत्त्व वे समझते हैं ।[5] मीमांसकों के अनुसार लक्षणा का मतलब है , शब्द का अपने मुख्य अर्थ से भिन्न अर्थ में प्रयुक्त होना, किन्तु यह स्वार्थाभिधान द्वारा ही होता है ।[6] इसी बात को मुकुलभट्ट पकड़ते

---

१. 'भाक्तमाहुस्तमन्ये', 'भक्त्या बिभर्ति नैकत्वंरूपभेदादयंध्वनिः' — ध्वन्यालोक १–१, १४

२. 'भज्यते सेव्यते पदार्थेनप्रसिद्धतयोत्प्रेक्ष्यते इतिभक्तिधर्मः ।, अभिधेयेन सामीप्यादिः, तत आगतो भक्तः लाक्षणिकोऽर्थः । .... गुणसमुदायवृत्तेश्च शब्दस्यार्थभागस्तैक्ष्ण्यादिर्भक्तिः गौणोऽर्थो भक्तः ।'

—लोचन, पृष्ठ ११२

३. अभिधावृत्तिमातृका

४. 'इत्येदभिधावृत्तं दशधात्र विवेचितम्' — अभिधा, पृ० १२

५. वही, पृ० २१

६. शाबरभाष्य, वृत्तिसूत्र, १।४।२३ .

हैं।[१] लक्षणालोकव्यवहाराधृत ही होती है, लोक से तात्पर्य ही है — व्यवहारोपरूढ़ प्रत्यक्षादि प्रमाणों से।[२] मुकुल भट्ट ने यह स्पष्ट कर दिया है कि वृद्धव्यवहार में दृष्ट लक्षणा ही प्रयोक्तव्य होती है। कुमारिलभट्ट ने इसी लिए किसी लक्षणा को तो निरूढ कहा जो रूढ होने के कारण अभिधा-सी हो जाती है, कुछ साम्प्रतिक होती है और कुछ असामर्थ्यवश प्रयोक्तव्य ही नहीं होती।[३] कुमारिल ने मानान्तर से विरोध के कारण मुख्य अर्थ गृहीत न होने पर अभिधेय की अविनाभावेन जो प्रतीति होती है, उसे लक्षणा बताया।[४] मुकुल भट्ट ने यह स्पष्ट कर दिया कि लक्षणा अभिधेय से सम्बन्ध, सादृश्य, समवाय, वैपरीत्य या क्रियायोग में ही होती है। मुकुल ने लक्षणा के दो भेद किये — शुद्धा और उपचारमिश्रा के दो भेद — शुद्धोपचार एवं गौणोपचारमूलक स्वीकार किये। शुद्धोपचार तथा गौणोपचारमूलक भेद सारोपा और साध्यवसाना रूप में दो-दो हो जाते हैं।

इस पृष्ठभूमि में मम्मट ने लक्षणा को परिभाषित किया —

"मुख्यार्थबाधे तद्योगे रूढितोऽथ प्रयोजनात्।
अन्योऽर्थो लक्ष्यते यत्सा लक्षणारोपिता क्रिया॥"[५]

आचार्य मम्मट ने मुख्यार्थ, मुख्यार्थ योग तथा रूढि अथवा प्रयोजन — इस हेतुत्रय के आधार पर लक्षणा का लक्षण बनाया। इस लक्षण के अनन्तर मम्मटकृत लक्षणा के प्रकार के सम्बन्ध में उनके टीकाकारों में मतभेद हो जाता

---

१. अ०वृ०, पृ० १०

२. शाबरभाष्य, जैमिनी सूत्र १।४२, अभिधावृत्ति, पृ० १०-११

३. तन्त्रवार्तिक, ३।१८, पृ० ३००

४. काव्यप्रकाश, तन्त्रवार्तिक, पृ० ३१८

५. काव्यप्रकाश

है। वे प्रयोजनवती लक्षणा के छह भेद मानते हैं, किन्तु शुद्ध और उपचार पदों के उनके प्रयोग की विभिन्न व्याख्या के अनुसार टीकाकार विभिन्न मत रखते हैं। माणिक्यचन्द तथा जयन्त के अनुसार मम्मट प्रयोजनवती लक्षणा के शुद्धा और उपचारमिश्रा दो भेद मानते हैं। शुद्धा के भी दो भेद हैं — उपादाना और लक्षण लक्षणा। उपचारमिश्रा भी सारोपा और साध्यवसाना प्रत्येक शुद्धा एवं गौणी भेद से दो-दो प्रकार की हैं।[1] किन्तु प्रदीपकार गोविन्द ठक्कुर ने शुद्धा के दो भेद उपादान तथा लक्षणा में प्रत्येक के पुन: दो-दो भेद सारोपा एवं साध्यवसाना माने हैं, इसी तरह गौणी के भी सारोपा एवं साध्यवसाना रूप में दो भेद माने हैं।[2] दूसरी ओर चण्डीदास ने निरूढा और प्रयोजनवती — प्रत्येक के दो-दो भेद शुद्धा और गौणी — रूप माने। इन प्रत्येक भेदों के भी उपादान, लक्षणा, सारोप, साध्यवसानरूप चार-चार प्रकार मान कर लक्षणा १६ प्रकार की मानी।[3] प्रदीप कार ने इसका घोर विरोध किया।[4] इस प्रकार आचार्य मम्मट का प्रौढ-विवेचन भी उनकी सूत्रात्मकता के कारण दुरूह हो गया। साहित्यदर्पणकार ने लक्षणा के अस्सी भेद ही गिनाये।[5]

लक्षणा के इन विवेचनों के बाद अप्पय दीक्षित ने लक्षणा का प्रतिपादन किया। उन्होंने मुख्यार्थ सम्बन्ध से शब्द के प्रतिपादकत्व को लक्षणा माना।[6] उन्होंने प्रयोजनवती लक्षणा के जहत्, अजहत्, जहदजहत्,

---

१. माणिक्यचन्द्र — संकेत, काव्य, पृ० १८

२. प्रदीप — काव्य, पृ० ४६

३. काव्यप्रकाश, चण्डीदास, एन०डी०शर्मा, पृ० ६३

४. प्रदीप — काव्य, पृ० ५२

५. साहित्यदर्पण, पृ० ५०

६. वृत्तिवार्तिक, पृ० १६

सारोपा, साध्यवसाना, शुद्धा तथा गौणी – ये तीन सात भेद माने ।[२]

पण्डितराज ने इस सारी परम्परा का नैयायिकों के विवेचन के साथ उपयोग कर सर्वोत्तम व्याख्यान प्रस्तुत किया । उन्होंने शक्य सम्बन्ध को लक्षणा कहा । इस लक्षणा में नैयायिकों के लक्षणा की अनुगूंज है । नैयायिकों के लक्षणा ने भी '[१]शक्यसम्बन्ध' को लक्षणा कहा है और उसका बीज प्राचीन आचार्य अन्वयानुपपत्ति तथा नव्य आचार्य तात्पर्यानुपपत्ति स्वीकार करते हैं ।[२] पण्डितराज यह स्पष्ट समझते हैं कि अन्वयानुपपत्ति को बीज मानने पर 'काकेभ्यो दधि रक्ष्यताम्' में लक्षणा का उत्थान ही न हो सकेगा ।[३] इसलिए वे तात्पर्यानुपपत्ति को लक्षणा का बीज मानते हैं । पर उन्होंने कहा कि गंगापद के मुख्य अर्थ गंगा (प्रवाह) के अवच्छेदक (गंगात्व-प्रवाहत्व) में तात्पर्य-विषयीभूत अन्वय का सर्वथा अभाव ही लक्षणा का बीज नहीं है ।

अर्थात यह नियम नहीं है कि मुख्यार्थतावच्छेदक वक्ता के अभिप्रेत अर्थ में किसी तरह अन्वित न हो सके, तभी लक्षणा मुख्य अर्थ से भिन्न अर्थ उपस्थित करे, क्योंकि मुख्यार्थतावच्छेदक (अर्थात् मुख्य अर्थ में सर्वांशत: रहने वाले और अन्य किसी में न रहने वाला धर्म – जैसे गंगा में गंगात्व के रूप में लक्ष्य अर्थ (तट आदि) की प्रतीति स्वीकार की गयी है । लाक्षणिक अर्थों की प्रतीति मुख्यार्थतावच्छेदक अथवा – शक्यतावच्छेदक के रूप में ही होती है । यदि लक्ष्य अर्थ (तट) की प्रतीति शक्यतावच्छेदक (गंगात्व) रूप में न मानी जाय , तो तट में शीतलता , पावनत्व आदि का बोध नहीं हो सकता । इस प्रकार पंडितराज न्याय की इस सूक्ष्म भाषा में स्थापित किया कि अन्वयानुपपत्ति नहीं, अपितु वक्ता के अभिप्रेत

---

१. वृत्तिवार्तिक , पृ० १६

२. किरणावली – न्यायसिद्धान्तमुक्तावली, पृ० ३१

३. रसगंगाधर, पृ० १४५–४६

अन्वय में मुख्यार्थ का मुख्यार्थतावच्छेदक (गंगात्व) के रूप में प्रतियोगी न होना लक्षणा का बीज है। न्याय की तात्पर्यानुपपत्ति को इन सजग शब्दों में बीज बता कर पंडितराज आलंकारिक का स्वतंत्रमार्ग भी बनाये रखते हैं, अतएव रूढि अथवा प्रयोजन में से एक का होना भी अनिवार्य हेतु मानते हैं। पण्डितराज ने मुख्य अर्थ का अन्य अर्थ से सम्बन्ध विशेष ही लक्षणा माना और इन सम्बन्धों में समीपता, समानता, विरोध और कारणता को उदाहरणार्थ प्रस्तुत किया।

पण्डितराज ने प्रथमत: लक्षणा के दो भेद माने निरूढा और प्रयोजनवती। प्रयोजनवती भी पहले दो प्रकार की होती है- शुद्धा और गौणी। शुद्धा चार प्रकार की है -जहत्स्वार्था, अजहत्स्वार्था, सारोपा और साध्यवसाना और गौणी दो प्रकार की-सारोपा और साध्यवसाना निरूढा में भी दो वर्ग उन्होंने बताया है, प्रथम में लक्षण सादृश्य-सम्बन्ध से और द्वितीय में तदितर सम्बन्ध से प्रयुक्त होती है।
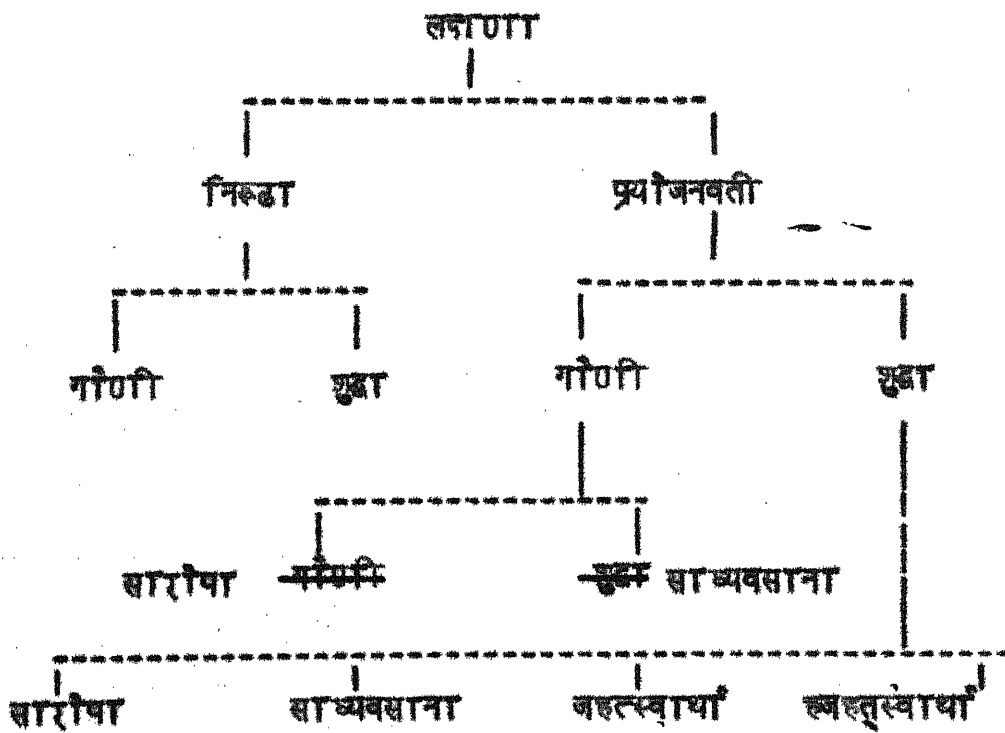
इस प्रकार पंडितराज ने सारी परम्परा को आत्मसात् कर सर्व-परिशुद्ध रूप में लक्षणा का विवेचन किया। उन्होंने सम्बन्ध विशेष में लक्षणा स्वीकार कर उसके हेतु का विस्पष्ट विवेचन किया। मुकुल और मम्मट के समान प्रयोजनवती के छह भेद मान कर भी विशिष्ट योजना से उन्हें उपस्थित किया, जिससे लक्षणा में अन्तर्भूत गौणी का स्पष्ट रूप दिखे। स्पष्ट शब्दावली में और सादृश्य तथा सादृश्येतर सम्बन्धों के आधार पर प्रयोजनवती का भेद कर उनके अवान्तर भेदों में अप्पयदीक्षित की भांति `जहदजहल्लक्षणा का परिगणन नहीं किया, जो आलंकारिक की दृष्टि में स्वतंत्रभेद है ही नहीं, क्योंकि जब लक्षणा जहत् नहीं है, तब तो वह अजहत् होती ही है।

गौणी सारोपा का शाब्द बोध—

लक्षणा विवेचन के प्रसंग में पंडितराज ने गौणी-सारोपा के शाब्दबोध के विषय में सूक्ष्म विचार भी प्रस्तुत किया। `मुखं चन्द्रः` और `गौर्वाहीकः` जैसे स्थलों में आचार्यों ने गौणी सारोपा लक्षणा स्वीकार की है, किन्तु अप्पयदीक्षित ने ऐसे स्थलों में सामानाधिकरण्य के द्वारा अभेद अ सम्बन्ध से ही वाक्यार्थ बोध प्रतिपादित किया है। पंडितराज ने इस प्रश्न को उठा कर इसका समाधान प्रस्तुत किया है।

गौणी सारोपा के शाब्दबोध के सम्बन्ध में पंडितराज ने प्राचीनों के तीन मत तथा नव्यमत और उसका उत्तर प्रस्तुत किया है।

प्राचीन-मत—

प्राचीन मत में विषयिवाचक चन्द्र आदि शब्दों से लक्षणा द्वारा `चन्द्र आदि के सदृश` —इस आकार में अर्थोपस्थिति होती है। फिर उन अर्थों का अभेद सम्बन्ध द्वारा `मुख` आदि विषय वाचक शब्दों से उपस्थित `मुखत्व` आदि से युक्त मुख आदि अर्थों के साथ अन्वय होता है अतः `चन्द्र` का अर्थ `चन्द्रसदृश` और `मुख` का अर्थ मुखत्वविशिष्ट `मुख`

होगा और विशेषणाविशेष्यभाव के नियमानुसार अभेदसंसर्ग द्वारा पूर्ण वाक्यार्थ होगा' चन्द्रसदृशाभिन्नमुखत्वविशिष्टमुख ।'

शंका: यदि 'मुखं चन्द्र :' स्थल में लक्षणा द्वारा 'चन्द्र' का अर्थ' चन्द्रसदृश' मान लिया जाता है, तो 'चन्द्र सदृशं मुखम्' इस उपमा के शाब्दबोध में और पूर्वोक्त रूपकस्थल के शाब्दबोध में क्या अन्तर होगा ?

समाधान:-

प्रथमत:- उपमा और रूपक में स्वरूपत:साम्य होते हुए भी लक्षणा के प्रयोजन रूप में जो विषय और विषयी का अभेदज्ञान होता है वही भेदक होगा, क्योंकि रूपक में अभेद ज्ञान होता है, किन्तु उपमा में नहीं :-

> ' रूपकस्योपमात: स्वरूपसंवेदनांशमादायावै-
> लक्षण्येऽपि लक्षणाफलीभूततादूप्यसंवेदन-
> मादाय वैलक्षण्यं निर्बाधम् ।' [१]

द्वितीय मत:-रूपक और उपमा में स्वरूपबोध में भी भेद है। रूपक में' मुखचन्द्र ' की पदार्थोपस्थिति 'चन्द्रसदृश मुख' होने पर भी शाब्द-बोध का स्वरूप' चन्द्ररूप मुख' ही होता है और उपमा में पदार्थ की उपस्थिति और शाब्दबोध दोनों ही 'चन्द्रसदृशमुख' -एतदाकारक ही होता है। इस प्रकार दोनों में प्रयोजनरूप में प्रतीत अभेदज्ञान और भेद ज्ञान का ही अन्तर नहीं, स्वरूपत: अन्तर भी विद्यमान है -

> ' इत्थं च स्वरूपसंवित्तिकृत: फलीभूत-
> संवित्तिकृतश्चोपमातो रूपकस्य भेद:
> स्फुट एव ।' [२]

---

१. रसगंगाधर, पृ० १८८

२. रसगंगाधर, पृ० १९०

तृतीय मत:- इस मत के अनुसार रूपक और उपमान के शाब्द-बोध में भिन्नता के प्रतिपादन के लिए प्रयोजन तक अनुधावन की कोई आवश्यकता नहीं है क्योंकि सादृश्य दो प्रकार का होता, भेदकरम्बित अर्थात् जिसमें भेद रहता है और दूसरा जिसमें भेद तिरोहित हो जाता है। भेद-करम्बित सादृश्य उपमा का प्राणभूत है और भेदाकरम्बित रूपक को:-

"भेदकरम्बितं सादृश्यमुपमा जीवातुभूतम्,
भेदाकरम्बितं च गौणसारोपलक्षणायाः इति
स्फुटे भेदे कृतं फलकृतवैलक्षण्यपर्यन्तानुधावनेन ।

नव्यमत:-

इस सम्बन्ध में नव्यों ने कुछ और ही दृष्टि अपनायी । उन्होंने यह समाधान प्रस्तुत किया -

(१) 'मुखं चन्द्रः' इत्यादि रूपकस्थल में लक्षणा की आवश्यकता ही नहीं है, इसके बिना ही अभेदसंसर्ग से अन्वयबोध हो जायगा । यदि 'मुख' और 'चन्द्र' के अभेदसंसर्ग में बाध आशंका हो, तो यह समझ लेना चाहिए जैसे दो भिन्न पदार्थों में अभेद आर्य (बाधित समझते हुए भी कल्पित) रूप में किया जाता है --यह मान्यता है, उसी प्रकार बाधनिश्चयप्रतिबध्यतावच्छेदककोटि में 'शाब्दबोध से भिन्न' इस मान्यता को भी सन्निविष्ट कर लेना चाहिए ।

"बाधनिश्चयप्रतिबध्यतावच्छेदककोटावनाहार्यत्वस्यैव शाब्दान्यत्वस्य निवेश्यत्वात् ।"[२] 'वह्निनासिंचति' में शाब्दबोध नहीं होता, क्योंकि यहां योग्यताज्ञान ही नहीं है, किन्तु 'मुखंचन्द्रः' 'गौर्वाहीकः' इत्यादि स्थल में तो आहार्ययोग्यताज्ञान का ही साम्राज्य है ।

अथवा अभेदान्वयबोध को ही आहार्य मान लिया जाय, तो

---

१. रसगंगाधर, पृ० १६१

२. रसगंगाधर, पृ० १६१

बाधनिश्चयप्रतिबध्यतावच्छेदककोटि में शाब्दबोध से भिन्न --यह सन्निवेश या शाब्दबोध में योग्यताज्ञान की कारणता और आहार्यबोध प्रत्यक्ष ही होता है --इस नियम की भी कोई आवश्यकता नहीं है।

(२) 'मुखं चन्द्रः' में अभेदान्वय मानना ही होगा, अन्यथा 'राजनारायणलक्ष्मीस्त्वामालिंगति निर्भरम्' तथा 'पादाम्बुजं भवतु मे विजयाय मंजुमंजीरशिंचितमनोहरमम्बिकायाः' जैसे स्थलों में लक्षणा के कारण उपमा तथा रूपक की निर्णायिका अनुपपत्ति सर्वथा विरुद्ध हो जायगी। क्योंकि लक्ष्य अर्थ तो उपमा और रूपक दोनों में ही 'तत्सदृश' --यही है। ऐसी स्थिति में 'राजनारायणं लक्ष्मीस्त्वामालिंगति निर्भरम्' में उपमा की तरह रूपक के स्वीकार करने पर भी बाधक--लक्ष्मी द्वारा आलिंगन न किया जा सकता--समान है, अतः बाधक को रूपक का निर्णायक बताना असंगत हो जाता है। इसी भांति 'पादाम्बुजं भवतु' इत्यादिस्थल में रूपक स्वीकार कर लेने पर भी बाधक के अभाव होने के कारण 'नूपुरों के सुन्दर शब्द' को रूपक का निवर्तक नहीं बताया जा सकता। समस्त स्थलों की ही तरह व्यस्त स्थलों में भी वाच्य अर्थों का ही अभेदान्वय मानना होगा वाच्य और लक्ष्य का नहीं क्योंकि कृपया सुधया सिञ्च दृशो मां तापमूर्च्छितम् इत्यादि प्रयोगों में बिना समास के भी यही अड़चन आती है। यदि कृपा को सुधा से अभिन्न न माना जाय, तो सिंचन क्रिया के साथ अन्वय कैसे होगा ? ऐसे स्थल में अतिशयोक्ति में जैसे उपमान का उपमेय की भांति स्थापन होता है, वैसे ही 'कुरु' इस उपमेय के स्थान पर 'सिञ्च' इस उपमान का प्रयोग हुआ है, अतः बिना समास के स्थल में तो लक्षणा मान ही लेनी चाहिए -- यह कथन ठीक नहीं, क्योंकि उत्प्रेक्षा आदि एकाधलंकारों के अतिरिक्त अतिशयोक्ति अपह्नुति आदि में जिस तरह आहार्य ज्ञान से काम चलता है उसी प्रकार यहां भी आहार्य ज्ञान से ही कार्य हो जाने पर लक्षणा मानने के लिए कोई कारण नहीं है और अनुभव का विरोध भी है :--

" उत्प्रेक्षाद्यतिरिक्तातिशयोक्त्यपह्नुत्यादिष्विवाहार्य-
ज्ञानोपपत्तौ लक्षणायां बीजाभावादनुभवविरोधाच्च।" [१]

फुटनोट क्र०५०

(३) 'चन्द्र' शब्द की 'चन्द्र सदृश' में लक्षणा मान कर लक्ष्यतावच्छेदक 'सादृश्य' को मानना होगा 'सादृश्य' को सुन्दर आदि विशेष धर्म के रूप में तो माना नहीं जा सकता, क्योंकि जहां ये धर्म शब्दोपात्त होंगे, वहां पुनरुक्ति होगी । यदि सादृश्य को सामान्य रूप में लिया जाय , तो धर्म के शब्दोपात्त हो जाने के कारण रूपक में भी उपमा माननी पड़ेगी । जबकि सामान्य स्वधर्म को यदि शब्दत: कहा गया हो, उपमा ही मानना चाहिए । अत: 'मुखं चन्द्र : में लक्षणा का स्वीकार उचित नहीं है :-

" तत्र च लक्ष्यतावच्छेदकं सादृश्यम् । तच्च समानधर्मरूपम् । स च लक्ष्यांशे सुन्दरत्वादिना विशेषरूपेण प्रतीयते उताहो सामान्यरूपेण ? नाद्य:, सुन्दरं मुखं चन्द्र इत्यादौ पौनरुक्त्यापत्ते: ।" [१]

(४) 'विद्वन्मानसहंस' इत्यादि स्थलों में श्लिष्टपरम्परित रूपक में भी अभेदान्वय से काम चल जायगा । लक्षणा मानने पर तो अन्योन्याश्रय-दोष होने लगेगा , क्योंकि ऐसे स्थलों पर श्लेषभित्तिक अभेदाध्यवसान के द्वारा मानसवासी के रूप में राजा और हंस के सादृश्य के सिद्ध हो जाने पर सदृशलक्षणामूलक रूपक की भूप में सिद्ध होती है और रूपक सिद्धि हो जाय, तब सरोवर और मन रूप दो अर्थ का अभिधान करने वाले श्लेष की सिद्धि हो, इस प्रकार अन्योन्याश्रय हो जाता है ।

" नहि रूपकास्फूर्तौ सरोरूपेऽर्थे मानसशब्दस्य तात्पर्यं वेदयितुं किंचित्प्रमाणावतरति । स्फुरिते तु रूपके तद्घटकसादृश्यान्यथानुपपत्तिरूपेण-प्रमाणेनार्थद्वयाभेदबोधकस्य तदुभयप्रतिपादनात्मन: श्लेषस्य निष्पत्ति: ।" [२]

---

१. पिछले पृष्ट का शेष - रसगंगाधर, पृ० १९३

---

१. रसगंगाधर, पृ० १९३-९४
२. ,, पृ० १९५-९६

५- सदृशलक्षणा का फल रूपक में ताद्रूप्यज्ञान मानना भी ठीक नहीं, क्योंकि तब तो उपमा में वैसे शब्दों से सादृश्यप्रत्यय होने पर रूपक होने लगेगा ।

अत: रूपक के स्थलों में नामार्थ के अभेदान्वय की पद्धति को स्वीकार करना चाहिए ।

नव्यमत का खण्डन-

पण्डितराज ने इस मत का सुदृढ़ उपस्थापन कर के इसका खण्डन कर दिया । उन्होंने ये तर्क प्रस्तुत किये -

(१) उपमा के समान ही रूपक में भी चमत्कारी साधारण धर्म अपेक्षित है, उसकी अनुपस्थिति में उपमा की ही भांति रूपक की भी न तो निष्पत्ति ही होगी, न ही उसमें कोई चमत्कारित्व रहेगा । इतना वैशिष्ट्य अवश्य है कि एक जगह साधारण धर्म प्रसिद्ध होने के कारण स्वबोधकशब्द ग्रहण की अनिवार्य अपेक्षा नहीं करता और दूसरी जगह साधारण धर्म अप्रसिद्ध होने के कारण आवश्यक रूप से स्वबोधक शब्द से कहा जाता है । नव्य सम्मत नामार्थ अभेदज्ञान को आधार मान कर भी सादृश्य ज्ञान के बिना कोई चमत्कार नहीं होता । अत: रूपक में केवल अभेद ज्ञान ही नहीं, सादृश्य ज्ञान भी आवश्यक रूप से अपेक्षित है । सादृश्यज्ञान के लिए लक्षणा का स्वीकार अनिवार्य है । उपमा तथा रूपक में सादृश्यज्ञान का भेद प्राचीन मतों में स्पष्ट कर ही दिया गया है कि उपमा का सादृश्य भेदकरम्बित होता है जबकि रूपक का भेदाकरम्बित ।[१]

(२) 'राजनारायणम्' आदि तथा 'पादाम्बुजम्' आदि रूपक तथा उपमा के उदाहरणों में विशेषण तथा उपमित समास ही निर्णायक हैं,

---

१. रसगंगाधर, पृ० १९६-९८

अत: वहां अन्योन्याश्रय दोष की संभावना नहीं है ।

" राजनारायणम् " इत्यादौ विशेषणसमासस्य रूपकस्य स्वीकारे प्रधानीभूतोत्तरपदार्थस्य नारायणसदृशस्यापिनारायणत्वेनैव प्रतीतेर्लक्ष्मीकर्तृकालिङ्गनकर्मताया अनुपपत्तेरभावात् । .... उपमितसमासायतोपमायां तु प्रधानस्य पादस्य पादत्वेनैव प्रतीतस्य नास्ति तस्या अनुपपत्तिरिति न कोपि दोष: ।"[१]

(३) नव्यों की यह आशंका कि सदृशलक्षणा में लक्ष्यतावच्छेदक को सामान्य रूपसे मानने में शब्दोपात्त होने के कारणउपमा की संभावना होने लगेगी । उसका उत्तर पण्डितराज देते हैं कि रूपक में भेदाकरम्बित सादृश्य विशिष्ट लक्ष्य होने के कारण , वहां उपमा की संभावना ही नहीं होगी ।

" भेदाकरम्बितसादृश्यविशिष्टस्य रूपके लक्ष्यत्वात्तुपमाव्यपदेशस्याप्रसक्ते: ।"[२]

(४) नव्यों की यह आपत्ति कि " मुखं चन्द्र: " में लक्षणा मानने पर " तत्सदृश " इस उपमा स्थल में भी ताद्रूप्यप्रतीति होने लगेगी — भी निर्मूल है, क्योंकि यहां लक्षणा है ही कहां ? जब लक्षणा ही नहीं है, तो लक्षणा-प्रयोजनभूत ताद्रूप्यप्रतीति का यहां प्रश्न ही कहां उठता है :—

" तत्सदृश इत्यत्र लक्षणाया अभावेन ताद्रूप्यप्रत्ययस्यापाद — नायोगात् ।"[३]

अत: महाभाष्यादि सकल ग्रन्थ सम्मत होने के कारण प्राचीनाभिमत: पण्डितराज को भी स्वीकार्य है ।

---

१. रसगंगाधर, पृ० १९८-९९

२. ,, ,,

३. ,, पृ० २०२

नव्यमत का आधार—

यह नव्य मत अप्पयदीक्षित के द्वारा 'वृत्तिवार्तिक' में विस्तार के साथ उपस्थित किया गया है[1] पण्डितराज ने उस मत का खंडन कर और गौणीसारोपा के स्थल में शाब्दबोध की विवेचना कर के गौणी लक्षणा के क्षेत्र का स्पष्ट निदर्शन करा दिया । इसके अतिरिक्त पंडित-राज द्वारा कृत लक्षणा निरूपण की विशेषता है कि विशुद्ध शास्त्रीय शैली में न्याय शास्त्र के विवेचन का उपयोग कर के भी उन्होंने अलंकार शास्त्र की स्वतंत्र दृष्टि सुरक्षित रखी ।

------

१. वृत्तिवार्तिक, पृ० २४—२६

षष्ठ अध्याय

अलंकार

अलंकार-परम्परा और विकास

काव्यशास्त्र में काव्य को सुसज्जित करने और अलंकृत करने वाले तत्व को ' अलंकार ' कहा गया है। इस शब्द की निष्पत्ति ' अलम् ' उपपद वाली 'कृ' धातु से 'घञ्' प्रत्यय करने पर होती है। डा० गोंदा के अनुसार 'अलंकृ' का अर्थ उपयुक्त बनाना, समान करना अनुरूप बनाना, पुष्ट करना, किसी व्यक्ति या पदार्थ को बल देना आदि है।[१] काव्यशास्त्र में 'अलंकार' के स्वरूप के सम्बन्ध में विभिन्न दृष्टिकोण रहे हैं। भामह, दण्डी और वामन के अनुसार सारे काव्य-तत्व अलंकार में समाहित हैं। दण्डी ने काव्य के शोभाकारी धर्मों को अलंकार कहा --

' काव्यशोभाकरान् धर्मानलंकारान् प्रचक्षते ।'[२] वामन के अनुसार सौन्दर्य ही अलंकार है और अलंकार के कारण ही काव्य ग्राह्य है।[३] वामन ने भावघटनान्त अलंकार को स्वीकार कर उसे व्यापक परिप्रेक्ष्य प्रदान किया। उन्होंने गुणों को काव्यशोभा उत्पन्न करने वाले धर्म माना और उनके अतिशय हेतुओं को अलंकार बताया।[४] भामह ने वक्र अर्थसंगुम्फन और शब्दरचना को

---

१. 'दि मीनिंग आफ दि वर्ड अलंकार, ए वाल्यूम आफ ईस्टर्न एण्ड इण्डियन स्टडीज इन आनर आफ डब्लू थामस, बम्बई, १९५९, पृ० ९७

२. काव्यादर्श, पृ० २०१

३. काव्यालंकार सूत्रवृत्ति, १।१।२.१

४. वही, ३।१।१।२

अलंकार कहा --

' वक्राभिधेयशब्दोक्तिरिष्टा वाचामलंकृतिः ।'

काव्यालंकार--१।३६

महिमभट्ट ने अलंकारों की अभिधात्मकता को स्वीकार कर भणिति की भंगिमा को ही अलंकार कहा--

' अलंकाराणां च अभिधात्मत्वमुपगतम्, भंगिभणितिरूपत्वात् , भंगिभणितिभेदानामेव अलंकार-त्वोपगमात् ।' [१]

कुन्तक ने वक्र-अभिधा-प्रकार-विशेष-भंगीभणिति को अलंकार माना ।[२] नमिसाधु ने समस्त हृदयावर्जक अर्थप्रकार को अलंकार कहा --

' यावन्तो हृदयावर्जका अर्थप्रकारास्तावन्तोऽलंकाराः ।' [३]

ध्वनिकार आनन्दवर्धन तथा अभिनव आदि ध्वनिवादी आचार्यों ने अलंकार विच्छित्ति अथवा चमत्कार के उपादान माना । अभिनवगुप्त ने स्पष्ट कहा --

' यथा हि पृथग्भूतेन हारेण रमणी विभूष्यते, तथोपमानेन शशिना तत्सादृश्येन वा कविबुद्धिबलतया परिवर्तमानत्वात् पृथक्सिद्धेनैव प्रकृतवर्णनीय-वनितावदनादि सुन्दरीक्रियते इति तदेवालंकारः ।' [४]

आचार्य मम्मट ने 'वैचित्र्य' को ही अलंकार कहा ।[५] इसी प्रकार रुय्यक ने भी कविप्रतिभा या विच्छित्ति को ही अलंकार स्वीकार किया ।[६]

---

१. व्यक्तिविवेक, पृ० ८७

२. वक्रोक्तिजीवित, दे, प्रस्तावना, पृ० १७

३. काव्यालंकार, रुद्रट, नमिसाधु कृत टीका १२।३६

४. नाट्यशास्त्र, अभिनवभारती, भाग २, पृ० ३२१, बड़ौदा

५. काव्यप्रकाश, १०।१

६. अलंकारसर्वस्व, पृ० ३८,४०, ४०-४१,४३,१०६०,१६३

पण्डितराज ने सौन्दर्य और रूपता के नाम से इसी का स्मरण किया है।[१]

भामह, दण्डी, उद्भट और वामन आदि अलंकार सम्प्रदाय के आचार्यों ने काव्य के सारे शोभाधायक तत्वों को अलंकार कुक्षि में सन्निविष्ट मान लिया। वे चमत्कारहीन रचना को वार्तामात्र मानते हैं।[२] वे अलंकार और अलंकार्य को भिन्न नहीं मानते।

इसके विपरीत ध्वनिवादी आचार्यों ने अलंकार और अलंकार्य को स्पष्टत: भिन्न माना। अलंकार की विवक्षा आनन्दवर्धन ने उपस्कारक रूप में ही मानी, अंगी रूप में कभी नहीं।[३] इसी तात्पर्य से वे अलंकारों को बहिरंग कहते हैं, किन्तु जब वे व्यंग्य होते हैं, तो स्वयम् अलंकार्य हो जाते हैं। अभिनव गुप्त पादाचार्य ने इसे स्पष्ट कर दिया कि सुकवि अलंकार को श्लिष्ट रूप संसंयोजित करता है जैसे कि विदग्ध रमणी कुंकुमपीतिका से शरीर को[४]। तथापि इसको शरीर मानना भी कठिन है, आत्मता की तो संभावना ही क्या ? अत: जहां रस नहीं है, वहां अलंकार शवशरीर पर कुंडल सरीखा है।[५] मम्मट और विश्वनाथ आदि इस दृष्टिकोण का पूर्ण अनुसरण करते हैं।[६]

---

१. वक्रोक्तिजीवित, लै० दे०, पृ[illegible]

२. काव्यालंकार, पृ० २।८६

३. ध्वन्यालोक, २।१८

४. व लोचन, पृ० २७६

५. लोचन, पृ० १६७, १६८

~~६.--काव्यालंकार~~

६. काव्यप्रकाश--८।६७,
साहित्य दर्पण, १०।१

अलंकारों का विधिवत् विवेचन भले ही बहुत बाद में आरम्भ हुआ हो, किन्तु अलंकारों का प्रयोग तो बहुत पहले ही आरम्भ हो गया । नृतत्व-वेत्ताओं ने यह प्रतिपादित किया है कि परिष्कृत काव्यपरम्परा से रहित आदिम जातियों में भी आलंकारिक भाषा के प्रयोग प्राप्त होते हैं । उनकी जादू-टोने और तंत्र-मंत्र की भाषा में आलंकारिक वक्रता दिखती है । मालिनोवस्की ने कहा है कि इन मंत्रों की भाषा की विशेषता "ध्वन्यात्मक सम्पत्तिमत्ता, लयात्मकता, लाक्षणिकता, सानुप्रासिक प्रभाव, संगीत तथा वीरता है ।"[1] इस वक्रता के कारण वास्तविकता के प्रति दृष्टिकोण में परिवर्तन आ जाता है और इस तरह अप्रत्यक्ष रूप से वास्तविकता को भी यह बदल देती है ।[2] वैदिक मंत्रों में भी यह विशिष्ट नियमबद्धता और यांत्रिकता दीख पड़ती है । पदों और पदसमूहों की आवृत्ति वैदिक मंत्रों की प्रथित विशेषता है ।[3] वेदों में अलंकारों की खोज की ओर से सावधान रहने की चेतावनी श्री सुशीलकुमार दे ने दी है,[4] तथापि महामहोपाध्याय पाण्डुरंग वामन काणे[5] तथा एच०आर० दिवेकर[6] ने अलंकारों के सुन्दर उदाहरण वैदिक साहित्य में दिखाये हैं । रामायण और महाभारत में उपमा तथा समासोक्ति यथासंख्य, अर्थान्तरन्यास और रूपक आदि का प्रयोग हैं ।[7] पाणिनि के नाम से कहे जाने वाले श्लोकों में उपमा, समासोक्ति, आक्षेप आदि अलंकार के प्रयोग मिलते हैं ।[8]

---

१. भारतीय साहित्यशास्त्र और काव्यालंकार, पृ० ७ पर उद्धृत

२. जार्ज टामसन—मार्क्सिज्म एण्ड रियलिटी, पृ० ५८"

३. एम० ब्लूमफील्ड—ऋग्वेद रिपटीशन्स, कैम्ब्रिज, १९१६
ब्लूमफील्ड तथा एजर्टन—वैदिक वेरिएन्ट्स, फिलाडेल्फिया-१९३४-४०

४. हिस्ट्री आफ संस्कृत पोइटिक्स—भाग १, पृ० ३४१

५. क- आउट लाइन्स आफ द हिस्ट्री आफ अलंकार लिटरेचर, १९१२ इंडियन एण्टीक्वेरी, पृ०४१, १९१२
ख- हिस्ट्री आफ संस्कृत पोइटिक्स, इण्डियन-एन्टिक्वरी, -पृ०-४१ पृ०३१४-३१५ ।

६. ले फ्ल्यौर द रेतोरिक द लांद, चैप्टर २, पैरिस, १९३०

७. चन्द्रालोक —विश्वम्भरनाथ त्रिपाठी, भूमिका, पृ० २१

रुद्रदामन् के जूनागढ़ अभिलेख के अलंकारों की छटा है। इसी प्रकार आन्ध्र नरेश सिरि पुलुमावि के नासिक शिलालेख के प्राकृत गद्य में, अयोध्या के शुंग अभिलेख तथा खारवेल के हाथीगुम्फा अभिलेख में भी अलंकृत शैली के दर्शन होते हैं। हरिषेण तथा वत्सभट्टि के अभिलेखों में भी अलंकारों का निदर्शन है। अश्वघोष से कालिदास भारवि और बाण तक आते-आते तो अलंकार प्रयोगों का सुसमृद्ध रूप दीखने लगता है।

यास्क ने उपमा का विवेचन प्रस्तुत करते हुए कहा—
'उपमा यदततत्सदृशमिति गार्ग्यः।'

— निरुक्त ३।१३

गार्ग्य के इस मत के उल्लेखपूर्वक यास्क ने उपमा का लुप्तोपमा- अर्थोपमा विभाग भी किया।[१] पाणिनि के पूर्व उपमान, उपमेय, सामान्य आदि पारिभाषिक शब्द भाषा में आ चुके थे।[२] राजशेखर ने तो शिव से ब्रह्मा तथा ब्रह्मा से अन्य ऋषियों को साहित्यशास्त्र के उपदेश का उल्लेख किया है। उन्होंने बताया कि परम्परा से यह शास्त्र १८ अधिकरणों में विभक्त हुआ तथा प्रत्येक अधिकरण का पल्लवन एक-एक आचार्य ने किया।

सर्वप्रथम भरत ने उपमा, रूपक, दीपक तथा यमक— इन चार अलंकारों को परिभाषित किया —

पिछले पृष्ठ का शेष—

८. नमिसाधु—काव्यालंकार, रुद्रट, २।८, पृ० १२
पीटर्सन—सुभाषितावली, प्रस्तावना, पृ० १०६

---

१. निरुक्त, ३।१८
२. काणे- हिस्ट्री आफ संस्कृत पोयटिक्स, पृ० ३२६
३. काव्यमीमांसा— पृ०- ५

उपमा दीपकं चैव रूपकं यमकं तथा ।
काव्यस्यैते ह्यलंकाराश्चत्वार: परिकीर्तिता: ।।[1]

उनके मत में उपमा पांच प्रकार की है — प्रशंसा, निन्दा, कल्पिता सदृशी और किंचित्सदृशी ।[2] रूपक और दीपक के भेद नहीं बताये गये, किन्तु यमक के दश भेद गिनाये गये — पादान्त, कांचीयक, समुद्ग, विक्रान्त, चक्रवाल, संदष्ट, पादादि, आम्रेडित, चतुर्व्यवसित तथा माला ।[3] यमक नाटकाश्रय बताये गये । इन अलंकारों के अतिरिक्त ३६ लक्षणों को भी परिभाषित किया गया है । इन्हें काव्यबन्ध कहा गया और काव्य में इन्हें सम्यक् प्रयोज्य बताया गया ।[4] अभिनव ने लक्षणसम्बन्धी प्रचलित दस मतों का उल्लेख किया है । भट्टतोत के मत से लक्षण के बल से अलंकारों में वैचित्र्य आता है ।[5] इनके मिश्रण से अलंकारों के बाहुल्य की सृष्टि का भी उल्लेख है । भरत ने यद्यपि अलंकार रूप में उपमादि चार का ही नाम लिया, किन्तु इन लक्षणों में अनेक अलंकारों का बीज था । बाद में इनमें से अनेक का समावेश अलंकारों में और अवशिष्ट का भावों में हो गया ।

भरत के अनन्तर प्रमुख आचार्य मेधाविन् अथवा मेधाविरुद्र का उल्लेख भामह ने किया है । उन्होंने मेधावी के अनुसार सात उपमादोषों का वर्णन किया है ।[6] मेधावी ने उत्प्रेक्षा को 'संख्यान' नाम दिया है ।[7] दण्डिन् द्वारा उल्लिखित 'यथासंख्यमिति प्रोक्तं संख्यानं क्रम इत्यपि' — श्लोकार्ध के आधार पर महामहोपाध्याय पी०वी० काणे तथा डी०टी०

---

१. नाट्यशास्त्र, १६।४०
२. ,, १६।४६
३ ,, १६।६०,६२
४. ,, १५।२२०, १६।१,३,४
५. अभिनवभारती, पृ० ३
६. काव्यालंकार — २।४०
७. ,, — २।८८

तातार्य ने काव्यालंकार- २।८२ श्लोक के उत्तरार्द्ध का पाठ इस प्रकार स्वीकार किया है -

" संख्यानमिति मेधावी नोत्प्रेक्षाभिहिताक्वचित् ।। "

य पाठ मानने पर निष्कर्ष होगा कि मेधावी ने उत्प्रेक्षा का कथन नहीं किया ।

भामह ने समस्त अलंकारों के मूल में वक्रोक्ति को स्वीकार किया ।[१] इसीलिए वे हेतु, सूक्ष्म और लेश को अलंकार ही नहीं मानते ।[१] भामह ने समस्त अलंकारों को चार वर्गों में बांटा —

१. अनुप्रास, यमक, रूपक, दीपक तथा उपमा ।[२]

२. आक्षेप, अर्थान्तरन्यास, व्यतिरेक, विभावना, समासोक्ति तथा अतिशयोक्ति ।[३]

३. यथासंख्य उत्प्रेक्षा तथा स्वभावोक्ति ।[४]

४. प्रेयस्, रसवत्, ऊर्जस्वि, पर्यायोक्त, उदात्त (द्विधा), श्लेष (त्रिधा) अपह्नुति, विशेषोक्ति, विशेष, तुल्ययोगिता, अप्रस्तुत-प्रशंसा, व्याजस्तुति, निदर्शना, उपमारूपक, उपमेयोपमा, सहोक्ति, परिवृत्ति, ससन्देह, अनन्वय, उत्प्रेक्षावयव, संसृष्टि, भाविक, आशी: ।[५]

इस प्रकार भामह ने ३८ अलंकारों का विवेचन किया । यदि प्रति-

---

१. काव्यालंकार- २।८५-८६

२. ,,,, २।४

३. ,, २।६६

४. ,, २।८०,६६

५. ,, ३।१-४

वस्तूपमा को भामह के विपरीत स्वतंत्र अलंकार माना जाय, तो इनकी संख्या ३६ हो जाती है। भामह की संसृष्टि में परवर्ती संकर भी है। उनके उपमारूपक तथा उत्प्रेक्षावयव अलंकारों को अनुवर्ती आलंकारिकों ने अस्वीकृत किया।

विष्णुधर्मोत्तर पुराण में अनुप्रास, यमक, रूपक, व्यतिरेक, श्लेष, उत्प्रेक्षा, अर्थान्तरन्यास, उपन्यास, विभावना, अतिशयोक्ति, वार्ता, यथासंख्य, विशेषोक्ति, विरोध, निन्दास्तुति, निदर्शन तथा अनन्वय—इन १७ अलंकारों का वर्णन है। महामहोपाध्याय पी०वी० काणे के अनुसार विष्णुधर्मोत्तरपुराणकार उपमा से भी परिचित थे, तब यह संख्या १८ मानी जायगी।[1]

भट्टि ने शब्दालंकार तथा ३८ अर्थालंकारों का प्रयोग किया है। वे हैं—अनुप्रास, यमक (२० प्रकार के), दीपक, (त्रिविध), रूपक (चतुर्विध) उपमा (बहुविध), अर्थान्तरन्यास, आक्षेप, व्यतिरेक, विभावना, समासोक्ति, अतिशयोक्ति, यथासंख्य, उत्प्रेक्षा , वार्ता, प्रेयस्, रसवत्, ऊर्जस्वी, पर्यायोक्त, समाहित, उदार, श्लिष्ट, (त्रिविध), अपह्नुति, विशेषोक्ति, व्याजस्तुति, उपमारूपक, तुल्ययोगिता, निदर्शन, विरोध, उपमेयोपमा, सहोक्ति, परिवृत्ति, ससन्देह, अनन्वय, उत्प्रेक्षावयव, संसृष्टि, आशी:, हेतु तथा निपुण।[2]

दण्डी ने काव्यादर्श में अनुप्रास , यमक, शब्दालंकार तथा ३५ अर्थालंकारों का विवेचन किया। वे अर्थालंकार हैं — स्वभावोक्ति, उपमा, रूपक, दीपक, आवृत्तिदीपक, आक्षेप, अर्थान्तरन्यास, व्यतिरेक, विभावना, समासोक्ति, अतिशयोक्ति, उत्प्रेक्षा, हेतु, सूक्ष्म, लेश, यथासंख्य, प्रेयस्, रसवत् , ऊर्जस्वि, पर्यायोक्त, समाधि, उदात्त, अपह्नुति, श्लेष, विशेष, तुल्य-

---

१. हिस्ट्री आफ संस्कृत पोइटिक्स, पृ० ६६-७०

२. भट्टिकाव्य—दशम सर्ग।

योगिता,विरोध, अप्रस्तुत प्रशंसा, व्याजस्तुति, निदर्शना, सहोक्ति, परिवृत्ति, आशी: संसृष्टि और भाविक ।

भट्ट उद्भट ने भामह के काव्यालंकार पर विवरण नामक टीका लिखी । अपने ग्रन्थ काव्यालंकारसंग्रह में भी इन्होंने भामह का ही अनुसरण किया । उन्होंने भामह के यमक, उपमारूपक तथा उत्प्रेक्षावयव अलंकारों को अस्वीकृत किया । उद्भट ने कई स्थलों पर नये भेदों की भी उद्भावना की । चार प्रकार की अतिशयोक्ति तथा अनुप्रास के छेक, वृत्ति, लाटभेद का सर्वप्रथम उल्लेख उद्भट में ही प्राप्त होता है । विषयानुसार अलंकारों का वर्गीकरण भी इन्होंने ही आरंभ किया । उद्भट ने अलंकारों को ६ वर्गों में रखा —

१. पुनरुक्तवदाभास, छेकानुप्रास, वृत्त्यनुप्रास, लाटानुप्रास, रूपक, दीपक, उपमा, प्रतिवस्तूपमा ।

२. आक्षेप, अर्थान्तरन्यास, व्यतिरेक, विभावना, समासोक्ति, अतिशयोक्ति ।

३. यथासंख्य, उत्प्रेक्षा, स्वभावोक्ति ।

४. प्रेयस्वत् , ऊर्जस्वित्, पर्यायोक्त, समाहित, उदात्त, श्लिष्ट ।

५. अपह्नुति, विशेषोक्ति, विरोध, तुल्ययोगिता, अप्रस्तुतप्रशंसा, व्याजस्तुति, निदर्शना, संकर, उपमेयोपमा, सहोक्ति, परिवृत्ति ।

६. ससन्देह, अनन्वय, संसृष्टि, भाविक, काव्यहेतु, काव्यदृष्टान्त

प्रतीहारेन्दुराज के अनुसार विवेचित अलंकारों की संख्या ४१ है ।[१] किन्तु यदि अनुप्रास के तीनों भेदों की अलग-अलग गणना न कर के अनुप्रास को एक ही मानें, तो विवेचित अलंकार ३९ ही हैं ।

---

१. काव्यालंकार सार संग्रह, पृ० ७६

वामन ने उपमा को समस्त अलंकारों की जननी बताया।[१] जैसे भामह ने वक्रोक्ति को और दण्डी ने अतिशय को। 'व्याजोक्ति नामक अलंकार सर्वप्रथम वामन ने ही वर्णित किया। उनके द्वारा विवेचित अलंकार हैं —

अनुप्रास, यमक, उपमा, प्रतिवस्तूपमा, समासोक्ति, अप्रस्तुतप्रशंसा, अपह्नुति, रूपक, श्लेष, वक्रोक्ति, उत्प्रेक्षा, अतिशयोक्ति, सन्देह, विरोध, विभावना, अनन्वय, उपमेयोपमा, परिवृत्ति, क्रम, दीपक, निदर्शन, अर्थान्तर-न्यास, व्यतिरेक, विशेषोक्ति , व्याजस्तुति, व्याजोक्ति, तुल्ययोगिता, आक्षेप, सहोक्ति, समाहित, संसृष्टि, उपमारूपक, उत्प्रेक्षावयव।

रुद्रट ने वास्तव, औपम्य, अतिशय तथा श्लेष पर आधृत मान कर समस्त अलंकारों का वर्गीकरण चार भागों में किया।[२] उन्होंने सहोक्ति तथा समुच्चय को वास्तव और औपम्य—दोनों वर्गों में रखा।[३] इसी तरह उत्प्रेक्षा औपम्य और अतिशय—दोनों मूल के अलंकारवर्ग में परिगणित है।[४] इसी प्रकार विषम, हेतु, उत्तर, पूर्व, अधिक तथा विरोध भी दो दो वर्गों में हैं। भामह और उद्भट द्वारा पृथक् उल्लिखित उपमेयोपमा और अनन्वय को वे उपमा का भेदमात्र मानते हैं। उन्होंने भामह की व्याजस्तुति को व्याजश्लेष नाम दिया। रुद्रट ने वक्रोक्ति, अनुप्रास, यमक, श्लेष और चित्र शब्दालंकारों का वर्णन किया। अर्थालंकार ये हैं —

वास्तवमूलक—सहोक्ति, समुच्चय, जाति, यथासंख्य, भाव, पर्याय, विषम, अनुमान, दीपक, परिकर, परिवृत्ति, परिसंख्या, हेतु, कारणमाला,

---

१. काव्यालंकारसूत्रवृत्ति, ४।३।१
२. ,, ७।१०
३. का० ,, ७।११, ८।३
४. ,, ८।२
काव्यालंकारसूत्रवृत्ति, ६।२

व्यतिरेक, अन्योन्य, उत्तर, सार, सूक्ष्म, लेश, अवसर, मीलित, एकावली ।

औपम्यमूलक :— उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक, अपह्नुति, संशय, समासोक्ति मत, उत्तर, अन्योक्ति, प्रतीप, अर्थान्तरन्यास, उभयन्यास, भ्रान्तिमत्, आक्षेप, प्रत्यनीक, दृष्टान्त, पूर्व, सहोक्ति, समुच्चय, साम्य, स्मरण ।

अतिशयमूलक:— पूर्व, विशेष, उत्प्रेक्षा, विभावना, तद्गुण, अधिक, विरोध, विषम, असंगति, पिहित, व्याघात, अहेतु ।

श्लेषमूलक— अविशेष, विरोध, अधिक, वक्र, व्याज, उक्ति, असंभव, अवयव, तत्व, विरोधाभास ।

कुन्तक यद्यपि वक्रोक्ति सम्प्रदाय के आचार्य हैं तथापि अलंकार विवेचन में उनका महत्वपूर्ण योगदान है । वे वक्रोक्ति को काव्य का जीवन मानते हैं और अलंकारों को वैचित्र्य हेतु उन्होंने स्वभावोक्ति, रसवद्, प्रेय, ऊर्जस्वि, समाहित तथा उदात्त को अलंकार नहीं माना । कुन्तक ने पूर्वाचार्यों का रसवत् परिभाषा और भामह द्वारा प्रतिपादित दीपक के भेदत्रय व्यवस्था की आलोचना की । रूपक, अप्रस्तुतप्रशंसा, व्याजस्तुति, उत्प्रेक्षा, अतिशयोक्ति और दूसरे २० अलंकारों का स्वाभिमत विवेचन किया गया है । कुन्तक ने अलंकारों के बहुत अधिक भेदोपभेद का विरोध किया । प्रतिवस्तूपमा तथा निदर्शना का उपमा में अन्तर्भाव किया । कुन्तक ने निदर्शना को उपमा में सन्निविष्ट किया, किन्तु उत्प्रेक्षा और संदेह को स्वतंत्र अलंकार माना, जब कि वे उपमा के निकट अधिक हैं । इस प्रकार समासोक्ति —श्लेष और स्वभावोक्ति सम्बन्धी कुन्तक मत स्वीकार्य नहीं है ।

भोज ने अलंकारों का तीन वर्गों में विभाजन किया— बाह्य, आभ्यन्तर तथा बाह्याभ्यन्तर अर्थात् शब्दगत, अर्थगत और शब्दार्थगत ।[1] उन्होंने ७२ अलंकारों का विवेचन किया और उपमा, रूपक आदि को शब्दार्थालंकार में रखा, जो अन्य आचार्यों को स्वीकृत नहीं है ।

---

१. भोजराज, शृंगारप्रकाश— राघवन्, पृ० ५२

शब्दालंकार— जाति, गति, रीति, वृत्ति, छाया, मुद्रा, उक्ति, युक्ति, भणिति, गुम्फना, शय्या, पठिति, यमक, श्लेष, अनुप्रास, चित्र, वाकोवाक्य, प्रहेलिका, गूढ़, प्रश्नोत्तर, अध्येय, श्रव्य, प्रेक्ष्य, अभिनीति ।

अर्थालंकार—जाति, विभावना, हेतु, अहेतु, सूक्ष्म, उत्तर, विरोध, सम्भव, अन्योन्य, परिवृत्ति, निदर्शन, भेद, समाहित, भ्रान्ति, वितर्क, मीलिन, स्मृति, भाव, प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, आगम, अर्थापत्ति, अभाव ।

शब्दार्थालंकार— उपमा, रूपक, साम्य, संशय, अपह्नुति, समाधि, समासोक्ति, उत्प्रेक्षा, अप्रस्तुतप्रशंसा, तुल्ययोगिता, लेश, सहोक्ति, समुच्चय, आक्षेप, अर्थान्तरन्याय, विशेषोक्ति, श्लेष, भाविक, संसृष्टि ।[१]

मम्मट ने काव्यप्रकाश में निम्नलिखित अलंकारों का विवेचन किया— शब्दगत—वक्रोक्ति, अनुप्रास, यमक, श्लेष, चित्र, पुनरुक्तवदाभास ।

अर्थगत—उपमा, अनन्वय, उपमेयोपमा, उत्प्रेक्षा, ससन्देह, रूपक, अपह्नुति, श्लेष, समासोक्ति, निदर्शना, अप्रस्तुत, प्रशंसा, अतिशयोक्ति, प्रतिवस्तूपमा, दृष्टान्त, दीपक, मालादीपक, तुल्ययोगिता, व्यतिरेक, आक्षेप, विभावना, विशेषोक्ति, यथासंख्य, अर्थान्तरन्यास, विरोध, स्वभावोक्ति, व्याजस्तुति, सहोक्ति, विनोक्ति, परिवृत्ति, भाविक, काव्य-लिंग , पर्यायोक्त, उदात्त, समुच्चय, पर्याय, अनुमान, परिकर, व्याजोक्ति, परिसंख्या, कारणमाला, अन्योन्य, उत्तर, सूक्ष्म , सार, असंगति, समाधि, सम, विषम, अधिक, प्रत्यनीक, मीलित, एकावली, स्मरण, भ्रान्तिमान् , प्रतीप, सामान्य, विशेष, तद्गुण, अतद्गुण, व्याघात, संसृष्टि , संकर ।

शब्दार्थगत—पुनरुक्तवदाभास, और श्लेष ।[२]

---

१. सरस्वतीकण्ठाभरण, २।३-४, ३।२-३, ४।२-४

२. काव्यप्रकाश—उल्लास, ६-१०

अग्निपुराण के ३४२--३४४ अध्यायों में शब्दालंकार, अर्थालंकार तथा शब्दार्थालंकार का विवरण मिलता है। विद्वानों का अभिमत है कि अग्निपुराण का अलंकार सम्बद्ध विवेचन भामह, दण्डिन् तथा भोज से प्रभावित है।

ध्वनिवादी होने पर भी अलंकार सर्वस्व में अलंकारों का जैसा वैज्ञानिक विवेचन रुय्यक ने किया है वैसा अन्यत्र सुलभ नहीं है। रुय्यक ने ६ शब्दालंकारों — पुनरुक्तवदाभास, छेकानुप्रास, वृत्यनुप्रास, यमक, लाटानुप्रास, चित्र का विवेचन किया है। वस्तुत: अनुप्रासों को एक मानलेने पर शब्दालंकारों की संख्या चार रह जाती है। स्वयं रुय्यक पौनरुक्त्य, प्रकार में ५ अलंकार मानते हैं।[1] तथा चित्र मिला देने पर संख्या ६ हो जाती है।

अर्थालंकारों का विवेचन करते हुए सर्वप्रथम रुय्यक ने साधर्म्यमूलक अलंकारों का उपन्यास किया है। (१) साधर्म्य के ३ भेद होते हैं —भेद प्रधान, अभेद प्रधान, भेदाभेदप्रधान।

(अ) भेदाभेदप्रधान--उपमा, उपमेयोपमा, अनन्वया, स्मरण।

(ब) अभेदप्रधान --के तीन भेद--आरोपमूलक, अध्यवसायमूलक, गम्यमान-औपम्य मूलक।

(क) आरोपमूलक--रूपक, परिणाम, सन्देह, भ्रान्तिमान्, उल्लेख, अपह्नुति।

(ख) अध्यवसायमूलक के दो भेद--साध्यअध्यवसाय-मूलक, उत्प्रेक्षा तथा सिध्यअध्यवसायमूलक अतिशयोक्ति।

(ग) गम्यमान औपम्यमूलक के दो भेद--पदार्थगत गम्यमान- औपम्यमूलक, तुल्ययोगिता, दीपक, तथा वाक्यार्थगत गम्य औपम्य मूलक प्रतिवस्तूपमा, दृष्टान्त, निदर्शना।

(स) भेद प्रधान--व्यतिरेक, सहोक्ति, विनोक्ति।

क- विशेषण विच्छित्ति--समासोक्ति, परिकर।

---

१. अलंकारसर्वस्व, पृ० १०

ख- विशेषण-विशेष्य-विच्छित्ति- श्लेष

ग- अप्रस्तुतप्रशंसा

घ- अर्थान्तरन्यास

ङ- पर्यायोक्त, व्याजस्तुति, आक्षेप ।

२- विरोध मूलक—विरोध, विभावना, विशेषोक्ति, अतिशयोक्ति, असंगति, विषम, सम, विचित्र, अधिक, अन्योन्य, विशेष, व्याघात ।

३-श्रृंखलामूलक—कारणमाला, एकावली, माला-दीपक, सार ।

४- तर्कन्यायमूलक—काव्यलिंग, अनुमान ।

५- वाक्यन्यायमूलक—यथासंख्य, पर्याय, परिवृत्ति, अर्थापत्ति, विकल्प, परिसंख्या, समुच्चय, समाधि ।

६- लोकन्यायमूलक-प्रत्यनीक, प्रतीप, मीलित, सामान्य, तद्गुण, अतद्गुण, उत्तर ।

७- गूढार्थप्रतीतिमूलक—सूक्ष्म, व्याजोक्ति, वक्रोक्ति ,स्वभावोक्ति, भाविक, उदात्त । [१]

८- चित्तवृत्तिमूलक: —रसवत्, प्रेयस्, ऊर्जस्वि, समाहित, भावोदय, भावसन्धि, तथा भावशबलता । [२]

इस प्रकार अलंकार-सर्वस्व में ८२ अलंकारों का विवेचन उपलब्ध होता है ।

तदनन्तर वाग्भट, का वाग्भटालंकार—एवं हेमचन्द्र सूरि का काव्या-

---

१. संजीवनी, पृ० २२५

२. अलंकारसर्वस्व, पृ०—२१४

नुशासन उपलब्ध होता है। वाग्भट्ट तथा हेमचन्द्र सूरि का समय १२ वीं शती का उत्तरार्ध है। वाग्भटालंकार के चतुर्थ परिच्छेद में ४ शब्दालंकार एवं ३५ अर्थालंकारों का उपन्यास किया गया है।[१] हेमचन्द्र सूरि के काव्यानुशासन में ६ शब्दालंकार तथा ३६ अर्थालंकारों का विवेचन है।[२] इन दोनों ग्रन्थों में ६ शब्दालंकार तथा २६ अर्थालंकारों के अतिरिक्त किसी नव्यता का परिदर्शन नहीं होता।

पीयूषवर्ष जयदेव - १३ वीं शती के उत्तरार्ध में उत्पन्न जयदेव का अलंकार ग्रन्थ चन्द्रालोक बहुश्रुत एवं सर्वप्रचलित ग्रन्थ है। इसके पंचम मयूख में ४ शब्दालंकारों तथा ८६ अर्थालंकारों का विवेचन किया गया है। अलंकार-शास्त्र के प्रारंभिक अध्येताओं के निमित्त यह अत्यन्त उपयोगी ग्रन्थ है।[३]

विद्याधर--का आश्रयदाता नरसिंह की प्रशस्ति में लिखित एकावली ग्रन्थ प्रसिद्ध है। अलंकारों के विवेचन के प्रसंग में इनके ऊपर मम्मट की अपेक्षा रुय्यक का प्रभाव अधिक है। परिणाम, उल्लेख, विचित्र तथा विकल्प अलंकारों को सर्वस्व की भाषा में ही परिभाषित किया गया है। इन अलंकारों का उल्लेख मम्मट ने काव्य प्रकाश में नहीं किया है।

विद्यानाथ - का प्रतापरुद्र यशोभूषण दक्षिण भारत में अत्यन्त समादृत है। विद्यानाथ ने भी रुय्यक की भांति अलंकारों का वैज्ञानिक विभाजन किया है - शब्द, अर्थ, उभय। तदनन्तर अर्थालंकारों का चतुर्धा विभाजन उपलब्ध होता है - प्रतीयमान वस्तु, प्रतीयमान औपम्य, प्रतीयमान रसभावादि अस्फुट प्रतीयमान। आगे चलकर विद्यानाथ ने अर्थालंकारों को नौ वर्गों में विभक्त किया है --साधर्म्य मूल, अध्यवसाय मूल, विरोधमूल, वाक्यन्याय-मूल, लोकव्यवहारमूल, तर्क न्याय मूल, शृंखलावैचित्र्यमूल, अपह्नवमूल, विशेषण वैचित्र्यमूल[४]। इनका यह विभाजन रुय्यक की सरणि पर आधृत है। तीन

~~१. अलंकारसर्वस्व, पृ० २१४~~

१. वाग्भटालंकार - पृ- २२-६१

२. काव्यानुशासन ५।६, पृ- २८३-४०४

३. चन्द्रालोक ४. प्रतापरुद्रयशोभूषण - पृ० २४५-४६

शब्दालंकार, ६६ अर्थालंकार तथा २ उभयालंकारों का विवेचन इस ग्रन्थ में किया गया है।

विश्वनाथ के साहित्य दर्पण के अलंकार-विवेचन पर प्राय: अलंकार सर्वस्वकार रुय्यक का प्रभाव परिलक्षित होता है। विश्वनाथ ने कुल ८४ अलंकारों का विवेचन किया है जिसमें ७६ अर्थालंकार हैं। संसृष्टि, संकर, मिला देने पर संख्या ८६ हो जाती है।[१]

केशव मिश्र का `अलंकार शेखर` नामक ग्रन्थ है। इसमें चित्र, वक्रोक्ति, अनुप्रास, गूढ, श्लेष, प्रहेलिका, प्रश्नोत्तर--८ शब्दालंकार तथा उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, समासोक्ति, अपह्नुति, समाहित, स्वभाव, विरोध, सार, दीपक, सहोक्ति, अन्यदेशत्व--१४ अलंकारों का विवेचन उपलब्ध होता है। उपमा, रूपक आदि के अनेक भेदों का वर्णन किया गया है।

अप्पयदीक्षित ने चित्र मीमांसा कुवलयानन्द तथा वृत्तिवार्तिक नामक साहित्य ग्रन्थ लिखा है। इनको एक शत ग्रन्थों की रचना का श्रेय दिया जाता है। कुवलयानन्द, वस्तुत: एक संग्रह ग्रन्थ है (ललित: क्रियते लक्ष्य-लक्षणसंग्रह : कु० ४) । प्राय: चन्द्रालोक की कारिकाओं का आश्रय लिया गया है। अनेक स्थलों पर इन्होंने चन्द्रालोक के लक्षणों में न्यून या अधिक अंश में परिवर्तन किया है। चन्द्रालोक के ऊपर आधारित होते हुए भी अप्पय दीक्षित के अलंकार उससे अधिक हैं। इनमें रसवत्, प्रेयस्, ऊर्जस्वि, समाहित, भावोदय, भावसन्धि, भावशबलता, सात अलंकारों को जयदेव ने अन्यत्र कह कर छोड़ दिया। वस्तुत: इनकी अलंकारता, उन्हें अभीष्ट नहीं थी।[२] प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शाब्द, स्मृति, श्रुति,

---

१. साहित्यदर्पण दशम परिच्छेद

२. कुवलयानन्द, भोलाशंकर - व्यास, पृ० १२

अर्थापत्ति, अनुपलब्धि, संभव, ऐतिह्य--दश प्रमाणालंकारों का चन्द्रलोक में कोई संकेत नहीं है। इसी प्रकार दीक्षित संसृष्टि, संकर (५ प्रकार) को पृथक् अलंकार [१] मानते हैं जबकि जयदेव इन्हें अलग से अलंकार मानने की कोई आवश्यकता नहीं समझते। रसवत् आदि सात अलंकारों का दीक्षित ने वृत्ति में लक्षण भी दिया है। [२] जबकि प्रमाणालंकारों का दीक्षित् ने ~~वृत्ति-में-लक्षण-भी-दिया-है~~ नाम-निर्देश कर उदाहरण मात्र प्रस्तुत किया है।

प्रस्तुतांकुर, अल्प, मिथ्याध्यवसिति, ललित, अनुज्ञा, मुद्रा, रत्नावली, विशेषक, सूक्ष्म, गूढोक्ति, विवृतोक्ति, युक्ति, लोकोक्ति, छेकोक्ति, निरुक्ति, प्रतिषेध, विधि-हेतु नामक १६ अलंकारों का लक्षण और उदाहरण दोनों विधिवत् प्रस्तुत किया गया है। इनका चन्द्रालोक में कोई निर्देश नहीं है।

इनमें से कुछ अलंकारों का विवरण भोज, शोभाकर, मित्र, में उपलब्ध होता है। प्रस्तुतांकुर अप्रस्तुत प्रशंसा से भिन्न रही है। [३] कारक-दीपक, दीपक का भेदमात्र है। अल्प का समावेश अधिक में हो जाता है। [४] मिथ्याध्यवसिति को प्रौढोक्ति अथवा अतिशयोक्ति में अन्तर्भुक्त किया गया है। [५] ललित को निदर्शना से अभिन्न मानते हैं। इनके अन्य अलंकार भोज आदि के अनुकरण मात्र हैं। प्रमाणों को अलंकार मानकर काव्य और शास्त्र को कोई एकत्र करने की चेष्टा नहीं करेगा।

---

१. कुवलयानन्द, भोलाशंकर व्यास, पृ० २८५
२. ,, ,, पृ० २६६
३. रसगंगाधर, पृ० ६४५
४. ,, पृ० ७१६
५. ,, पृ० ७६०

अप्पय दीक्षित ने कुल ११६ अलंकारों की विवेचना कुवलयानन्द में की है। यदि संकर (५ प्रकार) के भेदों को स्वतंत्र अलंकार स्वीकारें तो अलंकारों की संख्या १२३ हो जाएगी। संकर के भेदों को स्वतंत्र अलंकार नहीं माना जा सकता क्योंकि अन्य अलंकारों के प्रकारों की स्वतंत्र सत्ता नहीं स्वीकारी जाती। विद्वानों ने प्राय: कुवलयानन्द के विवेचित अलंकारों की संख्या १२४ या १२५ बतलायी है जो निर्भ्रान्त नहीं कही जा सकती।[१] इतनी विशालपरम्परा का उत्तराधिकार पण्डितराज जगन्नाथ को मिला। इस वैविध्यमयी पृष्ठभूमि में उन्होंने अपना अलंकार विवेचन प्रस्तुत किया। उन्होंने कुल सत्तर अलंकारों का विवेचन किया। रसगंगाधर उत्तर अलंकार पर्यन्त ही उपलब्ध है और उपलब्ध ग्रंथ ७० अलंकारों का विवेचन प्रस्तुत करता है। निश्चय ही अभी और अलंकार विवेचित किये जाते, किन्तु ग्रन्थ के पूर्णता को पाने से अवशिष्ट रह गये। उनके विवेचित अलंकारों में 'तिरस्कार' अलंकार सर्वथा नवीन है। अलंकार परम्परा में पंडितराज का योगदान उनके द्वारा विवेचित अलंकारों की संख्या में नहीं, अपितु उनके विवेचन की पद्धति और दृष्टिकोण में है। उनके अलंकार विवेचन का वैशिष्ट्य हम एकैकश: अलंकारों को लेकर प्रस्तुत करेंगे।

उन्होंने महान् ध्वनिवादी आचार्य की ही भाँति अलंकार को काव्यात्मा व्यंग्य की रमणीयता का प्रयोजक माना :—

'काव्यात्मनो व्यंग्यस्य रमणीयताप्रयोजका अलंकारा निरूप्यन्ते।'[२]

ये अलंकार जब किसी ऐसे अर्थ के उत्कर्षाधायक हों, तभी अलंकार हैं, अन्यथा इनका पर्यवसान अपने वैचित्र्यमात्र में हो जाता है।[३]

---

१. चन्द्रालोकसुधा-भूमिका, पृ० ४३-४४

२. रसगंगाधर, पृ० २०४

३. ,, पृ० २६६

इस स्पष्ट धारणा के साथ उन्होंने अर्थालंकारों से अपना विवेचन आरम्भ किया । स्पष्टत: इसका कारण अर्थालंकारों से-अपना-विवे का काव्यात्मभूत अर्थ की उपस्कारकता की दृष्टि से महत्त्व है । पण्डितराज ने विवेचन में क्रम रुय्यकानुमोदित ही स्वीकार किया, यद्यपि उसमें बड़ी सावधानी से कुछ परिवर्तन भी किया और रुय्यक द्वारा अनुल्लिखित अलंकारों को उस क्रम में यथास्थान सन्निविष्ट भी किया ।

अलंकारों का वर्गीकरण:-

अलंकारों के वर्गीकरण के लिए आचार्यों ने नियामक तत्त्व की परिकल्पना की । वामन ने गुणों की शब्दगतता अथवा अर्थगतता के निर्धारण के लिए सिद्धान्त आविष्कृत किया, किन्तु अलंकारों के सम्बन्ध में उन्होंने साक्षात् विचार नहीं किया । अलंकार विभाजन के दो आधार काव्यशास्त्र में प्रसिद्ध हैं --आश्रयाश्रयिभाव और अन्वयव्यतिरेकभाव । उद्भट आदि प्राचीन आचार्य आश्रयाश्रयिभाव के समर्थक थे ।[१] जयरथ के अनुसार आश्रयाश्रयिभाव का विस्तृत विवेचन राजानक तिलक ने काव्यालंकारसारसंग्रह टीका में किया ।[२] आश्रयाश्रयिभाव का नाम न होने पर इस सिद्धान्त का निरूपण टीका में प्राप्त होता है ।[३] आश्रयाश्रयिभाव के प्रमुख प्रतिपादक रुय्यक हैं । इसी प्रकार अन्वयव्यतिरेकभाव का विवेचन भी राजानक तिलक ने किया ।[४] संभवत: यहीं से प्रेरणा लेकर आचार्य मम्मट ने अन्वयव्यतिरेकभाव के सिद्धान्त का प्रबल प्रतिपादन किया ।[५] रुय्यक ने आश्रयाश्रयिभाव

---

१. समुद्रबन्ध, पृ० २२८, अलंकारसर्वस्व, पृ० ५७

२. विमर्शिनी, पृ० २५७

३. विवृति, पृ० ११, ४०

४. विवृति, पृ० ४०

५. काव्यप्रकाश, पृ० ७५७-७६१

का सूत्र स्पष्ट करते हुए कहा- ' योऽलंकारो यदाश्रित: स तदलंकार: ।'
विमर्शिनीकार ने इसे ही और भी स्पष्ट किया ।[१]

मम्मट ने 'यत्सत्त्वे यत्सत्त्वमन्वय: , यदभावे यदभावो व्यतिरेक:'
सिद्धान्त अपना कर कहा-

' योऽलंकारो यदीयान्वयव्यतिरेकावनुविधत्ते
स तदलंकार: ।'[२]

आचार्य मम्मट ने अलंकार का निर्णय करने के लिये एक तार्किक पद्धति का आधार लिया, किन्तु यह अलंकार से उत्पन्न चमत्कार की मनोदशा से भिन्न है । अलंकारजनित चमत्कार के अनुभव की वेला में सहृदय अन्वय-व्यतिरेक भाव का सहारा नहीं लेता । वस्तुत: अलंकारविच्छित्ति के ज्ञान के साथ उस विच्छित्ति के आश्रय का भी ज्ञान हो जाना चाहिए । अलंकार के चमत्कार और उसके आश्रय का ज्ञान एक अभिन्न प्रक्रिया है । अत: अलंकार बोध के साथ उसके आश्रयतत्त्व अथवा उसके प्रधानतत्त्व का ज्ञान हो जाना चाहिए ।[३]

पण्डितराज ने इसीलिये अन्वयव्यतिरेकभाव का खण्डन किया । उन्होंने स्पष्ट कहा कि इससे केवल हेतु का ज्ञान होता है, आश्रय का नहीं । उस हेतु का अपने कार्य से वैसा ही होता है जैसे दण्ड आदि का घट के स, दण्ड आदि में घट की सत्ता नहीं है किन्तु शब्द और अर्थ में अलंकार की स रहती है, अत: अन्वयव्यतिरेक से अलंकार का आधार नहीं जाना जा सकता

---

१. विमर्शिनी, पृ० २५७
२. काव्यप्रकाश, पृ० ७६७
३. भारतीय साहित्यशास्त्र और काव्यालंकार, पृ० ५६
४. रसगंगाधर, पृ० ४०२

यद्यपि विद्याधर, विद्यानाथ, तथा अप्पयदीक्षित ने भी आश्रयाश्रयिभाव का अनुसरण किया, किन्तु पण्डितराज ने स्पष्ट और पैनी तर्कपद्धति से अन्वयव्यतिरेक भाव का निराकरण कर दिया। यदि इस सिद्धान्त के सम्बन्ध में स्पष्टता से विवेचन न होता, तो उन सभी अर्थालंकारों को, जिनमें किसी शब्दविशेष की सहायता आवश्यक है, उभयालंकार मानने को विवश होना पड़ता। आश्रयाश्रयिभाव के अनुसरण से ऐसी कठिनाई का सामना नहीं करना पड़ता।

अलंकारों का सर्वप्रथम सजग श्रेणिविभाग रुद्रट ने प्रस्तुत किया। उन्होंने वास्तव, औपम्य, अतिशय तथा श्लेष - इन चार तत्त्वों के आधार पर किया।[१] यह विभाजन सर्वथा निर्दोष नहीं था, इसका संकेत हमने कर दिया है।

इसके बाद अलंकारों के श्रेणीविभाजन में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण योगदान रुय्यक का हुआ। अलंकारों को शुद्ध और मिश्र वर्गों में बांटकर ~~नहीं जाना जा सकता~~।[२] उन्होंने शब्दालंकारों का वर्गीकरण पौनरुक्त्य के आधार पर किया।[२] अर्थालंकारों को सादृश्य, विरोध, शृंखलाबन्ध, तर्कन्याय, वाक्यन्याय, लोकन्याय, गूढार्थप्रतीति तथा चित्तवृत्ति के आधार पर विभक्त किया। सादृश्य को ~~को~~ भेद प्रधान, अभेदप्रधान और भेदाभेद-प्रधान - इन रूपों में विभक्त किया। रुय्यक द्वारा किये गये श्रेणीविभाजन का और उन अलंकारों का जो किसी वर्ग में नहीं हैं, हमने विवरण दे दिया है।

---

१. काव्यालंकार, रुद्रट, पृ० ७-९

२. संजीवनी, पृ० २२२-२२३

विद्याधर और विद्यानाथ के वर्गीकरण का विवरण भी हमने प्रस्तुत कर दिया है। विद्याधर और विद्यानाथ साधर्म्यमूलक, विरोधमूलक, तर्कन्यायमूलक, शृंखलावैचित्र्यमूलक अलंकारों के वर्गीकरण में सामान्यत: सहमत हैं। इन्होंने रुय्यक का भी अनुसरण किया है। किन्तु विद्यानाथ ने 'विनोक्ति' को 'गम्यौपम्य' पर आधृत न मानकर उसे 'लोकन्यायमूलक' में रखा है। इसी प्रकार अर्थान्तरन्यास को भी गम्यौपम्य पर आश्रित न मानकर 'तर्कन्यायमूलक' में रखा है। अप्रस्तुतप्रशंसा, पर्यायोक्त, व्याजस्तुति तथा आक्षेप को विद्यानाथ 'गम्यप्रधान' बताते हैं न कि विद्यानाथ की भांति 'गम्यौपम्याश्रय'। 'सम' को 'विरोधगर्भ' न मान कर 'विषम' के बाद विवेचित किया है और 'लोकव्यवहारमूल' में रखा है। यद्यपि परिवृत्ति तथा समाधि को 'वाक्यन्यायमूल' नहीं माना है। प्रतीप और अतद्गुणको 'लोकन्यायमूल' विद्यानाथ ने नहीं स्वीकार किया। स्वभावोक्ति और भाविक को उन्होंने भी गूढार्थप्रतीतिमूलक' ही माना।[१]

रुय्यक और विद्यानाथ द्वारा किये गये वर्गीकरण का प्रभाव अप्पयदीक्षित और पण्डितराज पर पड़ा। पण्डितराज ने अपना अलंकारविवेचन उपमा से आरंभ किया।

---

१. एकावली – त्रिवेदी, पृ० ५२६

उपमा

उपमा को पण्डितराज ने बहुत से अलंकारों के भीतर विद्यमान कह परम्परागत रूप से चली आ रही धारणा की पुष्टि की। आचार्य भामह ने उपमा को बड़ा महत्त्व प्रदान किया। राजशेखर ने तो इसे अलंकारों का शिरोरत्न ही स्वीकार किया।[१] अलंकार सर्वस्व में इसे अनेक प्रकार के अलंकारों के वैचित्र्य का बीज कहा है।[२] विद्याचक्रवर्ती ने इस बात को और भी स्पष्ट किया —

"मुखं चन्द्र इवेत्युपमा। मुखं मुखमिवेत्यनन्वयः। मुखं चन्द्र इव सतदिवेत्युपमेयोपमा। दृष्ट्वा मुखं चन्द्रमनुस्मरामिति स्मरणम्। मुखमेव चन्द्र इति रूपकम्। मुखचन्द्रेण तापः शाम्यतीति परिणामः। किं चन्द्र आहोस्विन्मुखमिति सन्देहः। मुखं चन्द्र इति चकोरा नन्दन्ति इति भ्रान्तिमान्। चन्द्र एव न मुखमिति अपह्नुतिः। नूनं चन्द्र इवेत्युत्प्रेक्षा। चन्द्रं पश्येत्यतिशयोक्तिः। अस्यां प्रावृषि मुखं चन्द्र बिम्बं च विच्छायमित्येका तुल्ययोगिता। शरदि रम्यमिति त्वन्या। इदं च तच्च रम्यमिति दीपकम्। मुखमेव रम्यं चन्द्र एव रूप इति प्रतिवस्तूपमा। भुवि मुखं दिवि चन्द्र इति दृष्टान्तः। मुखदूषणं चन्द्रमसो मलिनीकरणमिति निदर्शना। चन्द्रादधिकं मुखं मुखादधिकश्चन्द्र इति व्यतिरेकः। चन्द्रेण सह मुखमिति सहोक्तिः। न मुखेन विना चन्द्रस्समीचीनः इति विनोक्तिः। कलाभिरामं मुखमिति समासोक्ति। कलाभिरामौ मुखचन्द्राविति श्लेषः। नमस्ते चन्द्र प्रसन्नोऽसि

---

१. "अलंकारशिरोरत्नं सर्वस्वं काव्यसम्पदाम्।
उपमा कविवंशस्य मातैवेति मतिर्मम॥" — राजशेखर
अ०शे०, पृ० ३२ पर उद्धृत।

२. अलंकारसर्वस्व, पृ० २६

इत्यप्रस्तुतप्रशंसा । इत्थं स्वप्रकारवैचित्र्येण सादृश्यविच्छित्तिविशेषात्मना यतो नानालंकारनिदानभूता अतोऽर्थालंकारेषु प्रथमं निर्दिष्टा ।[१]

अप्पयदीक्षित ने यहीं से प्रेरणा पाकर कहा कि वही उपमा काव्यरंग पर नृत्य करती शैलूषी है और भंगीभेद से अनेक अलंकारों में परिणत होती है ।[२] संजीवनी के पूर्वोल्लिखित अंश को ही शब्दश: मंखक-सूत्रोदाहरण और अंशत: मल्लिनाथ ने एकावली की तरल व्याख्या में उद्धृत किया ।[३] पंडितराज ने यही लक्षित कर उपमा को बहुत से अलंकारों के अन्दर वर्तमान बताया ।

उन्होंने काव्यार्थ को सुशोभित करने वाले सुन्दर सादृश्य को उपमालंकार बताया । सुन्दरता से तात्पर्य चमत्कारजनकता से है और चमत्कार सहृदयहृदयसंवेद्य विशिष्ट आनन्द है । पण्डितराज ने अपने लक्षण का पद-कृत्य देते हुए स्पष्ट कर दिया कि अनन्वय में सादृश्य अन्य सदृश पदार्थ की निवृत्तिमात्र के लिए होता है, अत: वह चमत्कारी नहीं होता, इसलिए वहाँ उपमालक्षण की अतिव्याप्ति नहीं होती । इसी प्रकार व्यतिरेक में सादृश्य का निषेध चमत्कारी होता है । अभेदप्रधानरूपक, अपह्नुति,परिणाम, भ्रान्तिमान् और उल्लेख आदि अलंकारों में तथा भेदप्रधान दृष्टान्त , प्रति - वस्तूपमा, दीपक, तुल्ययोगिता आदि अलंकारों में यद्यपि अभेद , अपह्नव आदि को सिद्ध करने के लिए सादृश्य होता है, तथापि वहाँ सादृश्य चमत्कारी नहीं होता, इसीलिए वहाँ उपमालंकार नहीं होता । प्रतीप और उपमेयोपमा में सादृश्य अवश्य चमत्कारी होता है, किन्तु पण्डितराज

---

१. अलंकारसर्वस्व—संजीविनी, पृ० ३६

२. चित्रमीमांसा, पृ० ४१-४३

३. अलंकारसर्वस्व--भूमिका, पृ० ५०, दिल्ली

इसे उपमा से सर्वथा भिन्न मानने के पक्ष में नहीं हैं वे इन्हें उपमा का प्रकारभूत ही मानते हैं ।

" त्वयि कोपो मभाभाति सुधांशाविव पावक: " इत्यादि स्थलों में, जहां उपमान कल्पित होता है, उपमा स्वीकार की जाय या नहीं ? पण्डितराज ने इस प्रश्न का सयुक्तिक उत्तर दिया । इस प्रसंग में उठायी गयी आपत्तियां थीं —(१) असंभव अतएव असत् वस्तु के साथ सादृश्य नहीं हो सकता (२) कल्पित सादृश्य हो भी, तो चमत्कारजनक नहीं होगा । पण्डितराज ने उत्तर दिया (१) कवि को खण्डश: पदार्थ की उपस्थिति होती है, अत: `चन्द्र` और `पावक` की खण्डश: उपस्थिति के बाद वह चन्द्र में पावक की असम्भावितत्व आकार से कल्पना कर लेगा और फिर सादृश्य की भी कल्पना में कुछ बाधक नहीं है । (२) सत वस्तु से ही आनन्द मिलता हो, यह नियम नहीं है । वस्तुत: कल्पना मात्र से भी आनन्द मिलता है, अत: कल्पित सादृश्य भी चमत्कार जनक हो सकता है ।

कल्पितोपमा का फल `अन्य उपमान का अभावप्रतिपादन` मानकर इसे पृथक् अलंकार मानने के मत का खंडन करते हुए पंडितराज ने कहा कि` असत उपमान` की कल्पना अपने में चमत्कारी नहीं होती, किन्तु उसके साथ सादृश्य ही चमत्कारी होता है और उपमा में सादृश्य सत पदार्थ से निरूपित हो—ऐसा कोई नियम नहीं है, अत: ऐसे स्थलों पर उपमा ही उचित है ।

प्राचीन आलंकारिकों ने `यद्यर्थोक्ति कल्पना` में भी कल्पितोपमा माना था, किन्तु मम्मट ने ऐसे स्थलों पर अतिशयोक्ति ही स्वीकार की ।[१] कवि कल्पित उपमान के सर्वथा असंभव होने पर `यद्यर्थोक्ति` की कल्पना में अतिशयोक्ति, किन्तु कविकल्पित उपमान की संभावना होने पर

---

१. काव्यप्रकाश— अतिशयोक्तिप्रकरण, उद्योत, पृ० ४३६

उपमान के साथ उपमेय की तुलना में उपमा मानने का भी मत है।[१] किन्तु शोभाकर ऐसे स्थलों पर भी क्रियानिष्पत्ति मानते हैं।[२] विश्वेश्वर ने कवि-कल्पित उपमान की सर्वथा अप्रसिद्धि में उपमा नहीं मानी है। प्रसिद्ध उपमान को कुछ विशिष्ट बता कर उपमानता कल्पित करने पर ही वे उपमा मानते हैं। अतः पण्डितराज और अप्पय के उदाहरण—

स्तनाभोगे पतन्भाति कपोलात्कुटिलोऽलक: ।
शशांकबिम्बतो मेरौ लम्बमान इवोरग: ।।

में वे उपमा नहीं मानते। वे वामन द्वारा उदाहृत—

उदगर्भहूणरमणीरमणोविमर्दभुग्नोन्नतस्तननिवेशनिभं हिमांशो: ।
बिम्बं कठोरबिसकाण्डकडारगौरैर्विष्णो: पदं प्रथममग्रकरैर्व्यनक्ति ।।

श्लोक में उपमा मानते हैं।[३] पण्डितराज की मान्यता और विश्वेश्वर की मान्यता में मौलिक अन्तर यहीं पर है कि पंडितराज के अनुसार उपमान की असम्भाव्यता से उपमा में कोई कठिनाई नहीं है, क्योंकि चमत्कार उपमान की असंभवता में नहीं, उसके साथ सादृश्य में है किन्तु विश्वेश्वर उपमान की सर्वथा अप्रसिद्धि से उपमा अस्वीकृत करते हैं।

पण्डितराज ने —

विलसत्याननं तस्या नासाग्रस्थितमौक्तिकम् ।
आलक्षितबुधाश्लेषं राकेन्दोरिव मण्डलम् ।।

---

१. 'प्रभा' टीका, काव्यादर्श, पृ० १२८

२. अलंकाररत्नाकर, पृ० ५७

३. अलंकारकौस्तुभ, पृ० २५

तथा

> कोमलातपशोणाभ्रसन्ध्याकालसहोदर: ।
> काषायवसनो याति कुंकुमालेपनो यति: ।।

इन दो स्थलों में साधारणधर्म के अभाव में उपमासिद्धि कैसे हो यह प्रश्न उठाकर बिम्बप्रतिबिम्बभाव तथा वस्तुप्रतिवस्तुभाव का स्पष्ट निरूपण किया । उन्होंने उपमान और उपमेय के धर्मों के वस्तुत: भिन्न होने पर भी उनके पारस्परिक सादृश्य के कारण उन्हें अभिन्न मानने के आधार पर ही यहां उपमा मानी । यही बिम्बप्रतिबिम्बभाव है । इस प्रकार वस्तुत: भिन्न भी पदार्थों के --तद्गत धर्मों की अभिन्नता के कारण-- ऐक्यप्रतिभास को बिम्बप्रतिबिम्बभाव तथा -- वस्तुत: अभिन्न, किन्तु आश्रयभेद से भिन्न प्रतीत होने वाले पदार्थों की एकत्व प्रतीति को वस्तुप्रतिवस्तुभाव माना --

> तत्र चाणूरकण्ठमण्डलयो वस्तुतो भिन्नयोर्महाका-
> यत्वादिना सादृश्याद्बिम्बप्रतिबिम्बभाव: । चूर्णनि-
> संहार्योश्चापल्यवेगवत्त्वयोस्त्वाश्रयभेदादभिन्नयो रति
> वस्तुत: एकरूपतैवेति वस्तुप्रतिवस्तुभाव: ।"[१]

आचार्य मम्मट ने दृष्टान्त और प्रतिवस्तूपमा अलंकारों के सूत्रों वृत्ति में साधारण धर्मगत इस विशिष्ट स्थिति की ओर संकेत किया ।

> प्रतिवस्तूपमा तु सा ।।१०१ ।। सामान्यस्य द्विरेकस्य यत्र
> वाक्यद्वये स्थिति ।

साधारणो धर्म: उपमेयवाक्ये उपमानवाक्ये च कथितपदस्य दुष्टतया अभिहित-त्वात् शब्दभेदेन यदुपादीयते सा वस्तुनो, वाक्यार्थस्योपमानत्वात् प्रति-वस्तूपमा ।"[२]

---

१. रसगंगाधर, पृ० २०८-०६

२. काव्यप्रकाश, पृ० १० का १०१-२

"दृष्टान्तः पुनरेतेषां सर्वेषां प्रतिबिम्बनम् ।। १०२ ।।
एतेषां साधारणधर्मादीनां । दृष्टोऽन्तो निश्चयो यत्र स दृष्टान्तः ।

प्रतिवस्तूपमा में एक ही सामान्यधर्म उपमानवाक्य तथा उपमेय वाक्य में भिन्न भिन्न शब्दों द्वारा पुनरुक्तिवदाभास से भिन्न निरूप में कहा जाता है। किन्तु दृष्टान्तालंकार में उपमानवाक्य तथा उपमेय वाक्य में दो भिन्न भिन्न धर्म सादृश्य के कारण औपम्य के प्रयोजक होते हैं। 'प्रतापरुद्रयशोभूषण में दोनों अलंकारों का भेदप्रतिपादन करते हुए वस्तु प्रतिवस्तुभाव में प्रतिवस्तूपमा तथा बिम्बप्रतिबिम्ब भाव होने पर दृष्टान्त अलंकार माना।[1] रुय्यक ने साधारण की इस विशिष्ट स्थिति का अत्यन्त स्पष्ट विवेचन किया —

"तत्रापि साधारणधर्मस्य क्वचिदनुगामितया ऐक्यरूपेण निर्देशः क्वचिद् वस्तुप्रतिवस्तुभावेन पृथक्निर्देशः। पृथक्निर्देशे च सम्बन्धिभेदमात्रं प्रतिवस्तूपमावत्। बिम्बप्रतिबिम्बभावो वा दृष्टान्तवत्।"[2]

जयरथ ने लौकिक दृष्टान्त द्वारा बिम्बप्रतिबिम्बभाव को और भी स्पष्ट किया —

अत एवात्र बिम्बप्रतिबिम्बभावव्यपदेशः। लोकेहि दर्पणादौ बिम्बात्प्रति बिम्बस्य भेदेऽपि मदीयमेवात्र वदनं संक्रान्तमित्यभेदेनाभिमन्यते। अन्यथा हि प्रतिबिम्बदर्शने कृशोऽहं स्थूलोऽहमित्याद्यभिमानो नोदियात्। भूषणविन्यासादौ च नायिका नाद्रियेरन्।"[3]

इस पृष्ठभूमि में अप्पयदीक्षित ने बिम्बप्रतिबिम्बभाव तथा

---

१. प्रतापरुद्रयशोभूषण - ५ - ४३२-३३
२. अलंकारसर्वस्व, पृ० ३७
३. जयरथ-विमर्शिनी, पृ० ३५

वस्तुप्रतिवस्तुभाव को परिभाषित कर दिया -

" एकस्यैव धर्मस्य द्विरुपादानं वस्तुप्रतिवस्तु भाव : । ......
...... वस्तुतो भिन्नयोर्धर्मयो: परस्परसादृश्यादभिन्नत याध्यवसितयोर्द्विरुपादानं बिम्बप्रतिबिम्बभाव: ।" १

अस्तु !

बिम्बप्रतिबिम्ब भाव और वस्तुप्रतिवस्तुभाव का विवेचन कर पण्डितराज ने लक्षण की मीमांसा की । प्राचीन लक्षण[२] पण्डितराज के सम्मुख थे, फिर भी उन्होंने अपना स्वतंत्र लक्षण लिखा और प्राचीन लक्षणों की आलोचना भी प्रस्तुत की । उन्होंने कुछ एक लक्षणों की आलोचना की और उससे ही पण्डितराज की दृष्टि का पता चल जाता है ।

---

१. चित्रमीमांसा, पृ० ८१

२. क - अथात उपमा यदतत्तत्सदृशमिति गार्ग्यस्तादासां कर्म - निरुक्त ३।१३

ख--यत्किंचित्काव्यबन्धेषु सादृश्येनोपमीयते ।
उपमा नाम विज्ञेया गुणाकृतिसमाश्रया ।।
— भरत, नाट्यशास्त्र, १७. ४४

ग--विरुद्धेनोपमानेन देशकालक्रियादिभि: ।
उपमेयस्य यत्साम्यं गुणलेशेन सोपमा ।।
—भामह २. ३०

घ--यच्चेतोहारि साधर्म्यमुपमानोपमेययो: ।
मिथो विभिन्नकालादि शब्दयोरुपमा तु तत् ।।
—उद्भट- काव्यालंकारसार-संग्रह, १. ३४

ङ०--यथाकथंचित्सादृश्यं यत्रोद्भूतं प्रतीयते ।
उपमा नाम सा तस्या: प्रपंचोऽयं निदर्श्यते ।
—दण्डिन्-काव्यादर्श

(शेष अगले पृष्ठ पर देखें)

उन्होंने सर्वप्रथम अप्पयदीक्षित द्वारा प्रस्तुत किये गये उपमा के दो लक्षणों के दोष का उद्भावन किया । अप्पयदीक्षित सादृश्यवर्णन को उपमालंकार मानते हैं । उन्होंने उपमा का लक्षण लिखा:-

"उपमितिक्रियानिष्पत्तिमत सादृश्यवर्णनम् -
अदुष्टमव्यंग्यमुपमालंकार: ।"

तथा-

"स्वनिषेधापर्यवसायि वा सादृश्यवर्णनम् तथाभूतं तथा ।"[१]

पण्डितराज की आपत्ति है कि यह सादृश्य वर्णन दो प्रकार से हो सकता है -बाहर विशेष प्रकार के शब्दों के रूप में और अन्तरात्मा में विशेष प्रकार के ज्ञान के रूप में । ऐसी स्थिति में शब्द स्वयं शब्दवाच्य नहीं हो सकते और सर्वोपरि ज्ञान के तो सर्वथा शब्दवाच्य न होने के कारण , वर्णन अर्थालंकार हो ही नहीं सकता । अर्थ शब्दवाच्य होता है , जब वह अन्य वस्तु को शोभित करे तो अर्थालंकार कहलाता है , अत: जब वर्णन शब्दवाच्य ही नहीं है, तो वह अर्थालंकार कैसे बन सकता है । यह वर्णन

पिछले पृष्ठ का शेष-

ग-प्रसिद्धेरनुरोधेन य: परस्परमर्थयो: ।
भूयो वयवसामान्ययोग: सेहोपमा स्मृता ।।
-भोज, सरस्वतीकण्ठाभरण

छ-उपमानेनोपमेयस्य गुणलेशत: साम्यमुपमा ।-वामन-काव्यालंकारसूत्रवृत्ति

ज- उभयो:समानमेकंगुणादि सिद्धं भवेयथैकत्र ।
अर्थे न्यत्र यथा तत् साध्यत इति सोपमात्रेधा ।।- रुद्रट, काव्यालंकार

झ- साधर्म्यमुपमा भेदे । - मम्मट, काव्यप्रकाश

ञ -उपमानोपमेययो:साधर्म्ये भेदाभेदतुल्यत्वे उपमा ।रुय्यक-अलंकारसर्वस्व

ट -स्वत:सिद्धेन भिन्नेन सम्मतेन च धर्मत: । प्रतापरुद्रयशोभूषणं
साम्यंवाच्यमवैधर्म्यं वाक्यैक्य उपमा द्वयो: । -विश्वनाथ,साहित्यदर्पण

ठ -साम्यं वाच्यमवैधर्म्यं वाक्यैक्यउपमाद्वयो: ।- विश्वनाथ,साहित्यदर्पण

ड-उपमितिक्रियानिष्पत्तिमत्सादृश्य वर्णनमदुष्टमव्यंग्यमुपमालंकार:
स्वनिषेधापर्यवसायि सादृश्यवर्णनंवा तथभूतं तथा ।अप्पयदीक्षित,चित्र०

चाहे शब्द रूप हो या ज्ञानरूप , दोनों ही स्थितियों में व्यंग्य हो ही नहीं सकता, अत: लक्षण में `अन्यव्यंग्य` पद का सन्निवेश भी व्यर्थ है। यदि वर्णन को नहीं, अपितु वर्णन में आनेवाले पूर्वोक्त वैशिष्ट्य से युक्त सादृश्य को ही उपमा कहते हैं, तो `गौरिव गवय:` जैसे चमत्कारहीन स्थलों में भी उपमा, माननी पड़ेगी ।—

`वर्णनस्य विलक्षणशब्दात्मकस्य विलक्षणज्ञानात्मकस्य वा शब्दवाच्यताविरहेणार्थालंकारतया बाधात् । तस्य सर्वथैवाव्यंग्यत्वाद-व्यंगत्वविशेषणावैयर्थ्याच्च । अथ यदि वर्णनविषयीभूतं तादृशसादृश्यमुपमेत्युच्यते, तदा यथा गौस्तथा गवय इत्यत्रोपमालंकारापत्ते: ।` [1]

इसी तरह `कालोपसर्जने च तुल्यम् (१।२।५०)` पाणिनि सूत्र में भी उपमा माननी पड़ेगी । इसके पूर्ववर्ती ५३ वें सूत्र से `अशिष्यम्` अर्थात् `अनुशासन के —कथन के अयोग्य पद की अनुवृत्ति आती है, अत: इस सूत्र का अर्थ होता है` काल और उपसर्जन प्रधानप्रत्ययार्थवचन के समान हैं, अनुशासनीय होने के कारण ।` आशय यह है कि जिस प्रकार प्रकृति और प्रत्यय के अर्थों में से प्रत्यय का अर्थ प्रधान होता है , यह बात सभी जानते हैं, उसे शास्त्र में लिखने की आवश्यकता नहीं है, इसी काल और उपसर्जन का भी अनुशासन अभीष्ट नहीं है । यहां पर `प्रधानप्रत्ययार्थवचन` उपमान, `काल और उपसर्जन ` उपमेय तथा `अशिष्यत्व` समानधर्म है, अत: उपमा को कौन रोक सकता है । यहां वचनभेद दोष की आशंका नहीं कर सकते, क्योंकि वाक्य भेद करके उसकी भी निवृत्ति हो जायगी, अत: `अदुष्ट` विशेषण से भी उपमा का वारण नहीं हो सकेगा ।

---

१. रसगंगाधर, पृ० २१०

यदि ऐसे स्थलों में उपमिति क्रिया की निष्पत्ति हो जाने पर भी उसके चमत्कारहीन होने के कारण और चमत्कारविषयककविव्यापार को ही वर्णन माने जाने के कारण यहां वर्णन ही नहीं है, यह कहा जाय, तो उसी 'चमत्कारित्व' का लक्षण में सन्निवेश करना चाहिए और तब 'उपमितिक्रियानिष्पत्तिमत्' यह विशेषण लक्षण में व्यर्थ हो जायेगा।

'एवं हि चमत्कारित्वस्य लक्षणेऽवश्यं निवेश्यत्वेनो-पमितिक्रियानिष्पत्ति विशेषणस्य वैयर्थ्यापत्तिः।'[1]

अनिष्पन्न और आपाततः प्रतीत सादृश्य चमत्कारजनक नहीं होता। इसी प्रकार दूसरे लक्षण में 'निषेधापर्यवसायि' विशेषण निरर्थक है, क्योंकि व्यतिरेक में 'कमल आदि के सादृश्य' का निषेध तथा अनन्वय में सादृश्य का सर्वथा निषेध ही चमत्कारी होता है। वहां सादृश्य न तो प्रधान होता है, न ही चमत्कारी। अतः उस सादृश्य के वारणार्थ पूर्वोक्त विशेषण का सन्निवेश व्यर्थ है।

अप्पयदीक्षित का यह लक्षण की 'स्तनाभोगे पतन्भाति' इत्यादि मुख्यवाक्यार्थरूप तथा अलंकारभूत उपमा में अतिव्याप्ति हो जायगी, क्योंकि उपमितिक्रियानिष्पत्तिमत् अदुष्ट और अव्यंग्य सादृश्य-वर्णन यहां भी है। यदि इसे भी लक्ष्य मानें, तो ध्वन्यमान उपमा के निवारण का प्रयास व्यर्थ है। यहां अभेदप्रधान उत्प्रेक्षा है, उपमा है ही नहीं, यह बात भी नहीं कही जा सकती, क्योंकि तब तो कल्पितोपमा के लिए कोई स्थल अवशिष्ट ही नहीं रहेगा। अप्पय ने उपमा का सामान्य लक्षण देकर फिर अलंकाररूप उपमा का लक्षण बनाने की विधि बताई है।[2] 'स्तनाभोगे पतन्भाति' इत्यादि स्थल में उपमालंकार

---

१. रसगंगाधर, पृ० २११
२. चित्रमीमांसा, पृ० ७४

का लक्षण अतिव्याप्त अवश्य होगा, और यहां उपमा अलंकाररूप है नहीं, क्योंकि यहां उपमान और उपमेय के सादृश्य रूपी उपमा के स्वरूप से अतिरिक्त अन्य कोई वाक्यार्थ नहीं है, जिसे उपमा अलंकृत करे। इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि अप्पयदीक्षित के उपमालंकार के लक्षण की अतिव्याप्ति अलंकार्य उपमा में होती है। इस लक्षण में 'सादृश्य' पद का सन्निवेश भी निरर्थक है, क्योंकि 'उपमितिक्रियासिद्धिमत्' कथन मात्र पर्याप्त है। उपमिति क्रिया की सिद्धि सादृश्य के अतिरिक्त अन्य किसी वर्णन से होगी ही नहीं -

" नह्यत्रोपमानोपमेयसादृश्यादुपमास्वरूपादस्ति कश्चिदतिरिक्तो वाक्यार्थः येनोपमा तमलंकुर्यात्। अपि च लक्षणे सादृश्यविशेषणं निरर्थकम्। 'उपमितिक्रियानिष्पत्तिमद्वर्णनमुपमा' इत्येवतैव स्वाभीष्टार्थलाभात्।"[१]

इस प्रकार पण्डितराज ने अप्पयदीक्षित के वर्णनों में दोषों का उद्भावन कर उसे अभीष्ट सिद्ध कर दिया।

अप्पयदीक्षित निर्मित उपमालक्षण के पण्डितराजकृत खंडन पर तीव्र प्रहार चित्रमीमांसा के टीकाकार धरानन्द ने किया।[२]

---

१. रसगंगाधर, पृ० २१२

२. " अक्रमः उपमिति क्रियायाः साधर्म्यनिष्पत्तिरूपायाः अनन्वये तावदसम्भवः अनुपमत्वकथने कविविवक्षायामवसानात्, भेदगर्भितप्रतीतेर्लक्षणापदालाभाच्च। 'गोसदृशो गवयः' इत्यादौ नातिव्याप्तिः, साधर्म्यज्ञानसत्त्वेऽपि कविविवक्षाभावेन तस्याकिंचित्करत्वात्, साधर्म्यज्ञान, तादृशार्थे कवेरप्रवृत्त्या तन्निष्पत्तेः सुतरामभावाच्च। कविविवक्षायामलौकिकिसाधर्म्यज्ञानस्य प्रयोजकत्वात्, द्वयोः सत्त्वेऽपि निरुपमत्वप्रतीतावेव कविसंरम्भेणातस्या एव चमत्कारजनकतया साधर्म्यस्य अप्रयोजकत्वाच्च। उपमितिक्रियाविजातीयां विवक्षितपदस्य बीजत्वाच्च। प्रधानीभूतरसवैजात्यप्रयोजकताकल्पने चित्रेऽलंकारप्राधान्यमापत्तेः उपमासामान्यलक्षणाद्वयस्य उपलक्षण-

(शेष अगले पृष्ठ पर)

किन्तु उनके तर्क पण्डितराज द्वारा उपस्थित मूल आपत्तियों के संबंध

पिछले पृष्ठ का शेष--

(२) ..... -त्वेन कथनात् , चमत्कारजनकवर्णनविषयीभूतसादृश्यस्य वर्णन विषयीभूतत्वनिषेधापर्यवसायिसादृश्य वा कथने तात्पर्यात् । सादृश्यस्यच शब्दवाच्यतासत्वेऽर्थालंकारत्वस्यबाधायोगात् । तस्य वाच्यत्वव्यंग्यत्वयोः सत्वेनाव्यंग्यत्वविशेषणादानस्य सार्थकत्वात्, विवक्षित इति पदेन चमत्कारजनकत्वस्य कथनाद् गोसदृशो गवय इत्यादावतिव्याप्तेरभावाच्चा तादृशविशेष्यस्यैव तद्विवक्षायां प्रयोजकत्वात् । अन्वये चमत्कारजनक विषयसत्वेऽप्युपमितिक्रियानिष्पत्तेरभानस्य तद्द्वारकतया सफलत्वेन तद् व्यर्थत्वशंकायाः सर्वथासकभवाच्च ।

यत्तु "स्तनाभोगे पतन्" इत्यादावप्यतिव्याप्तिकथनम् (तत्) अशुद्धम् , उक्तविधोरगस्याप्रसिद्ध्योत्प्रेक्षायास्तत्रांगीकारात् । उपमानतावच्छेदकविशिष्टोपमानत्वाभिमतस्य प्रसिद्धौ तदुपमा (न)त्वकल्पनायुक्तस्य "उद्गर्भहूणारमणी" इत्यादेः कविकल्पितोपमोदाहरणस्य सत्वेन तन्निर्विषयत्व प्रसंगस्याप्यभावाच्च ।

यद्यपि, उपमानोपमेयसादृश्योपमास्वरूपादतिरिक्त वाक्यार्थस्याभावेनालंकारणाश्रयत्वाभावात् "स्तनाभोगे" इत्यादेरनलंकारभूतोपमात्वम् , इति , तदपि न, वाक्यार्थस्यैवालंकार्यत्वे प्रमाणाभावात्, सादृश्येन मुखादेरुत्कर्षसम्पादकत्वाच्च, रसांगभूतविभावादेरुत्कर्षाधायकत्वेन परम्परा सम्बन्धेन रसोत्कर्षाधायकत्वसत्वाच्च । अंगोत्कर्षेणा अंगिन उत्कर्षस्य सर्वसम्मत त्वाच्च ।

उपकुर्वन्ति तं सन्तं येऽङ्गद्वारेण जातुचित् ।
हारादिवदलङ्कारास्तेऽनुप्रासोपमादयः ।।

(अगले पृष्ठ पर भी देखें)

में मौन ही हैं। पण्डितराज ने 'वर्णन' को अलंकार कहने पर आपत्ति की है, इसका उत्तर धरानन्द ने नहीं दिया। यदि वर्णन से तात्पर्य 'वर्णन विषयीभूत सादृश्य' से लेना चाहते हैं, तो 'गोसदृशो गवय:' में पण्डितराज की आपत्ति वहीं पर बनी हुई है। यदि इसे कविविवक्षा के अभाव के आधार पर लक्षण की व्याप्ति के क्षेत्र से अलग मानें, तो कविविवक्षित - तत्व का लक्षण में सन्निवेश तो करना ही पड़ेगा। द्वितीय लक्षण में सन्निवेश तो करना ही पड़ेगा। द्वितीय लक्षण में 'स्वनिषेधापर्यवसायि' सन्निवेश की व्यर्थता भी पंडितराज ने सिद्ध कर दी है। 'स्तनाभोगे पतन्भाति' इत्यादि स्थल में कल्पितोपमा अथवा उत्प्रेक्षा और वाक्यार्थ की ही अलंकार्यता के मौलिक सैद्धान्तिक मतभेदों को छोड़ दें, तो भी उपर्युक्त आपत्तियों के रहते अप्पय दीक्षित के उपमा लक्षण के सम्बन्ध में पण्डितराज की आलोचना उचित प्रतीत होती है।

इसी प्रकार विद्यानाथ का प्रतापरुद्रीय में लिखित लक्षण भी निरस्त हो गया। उनका लक्षण है -

"स्वत: सिद्धेन भिन्नेन सम्मतेन च धर्मत: ।
साम्यमन्येन वर्ण्यस्य वाच्यं चेदेकदोपमा ।।"

अर्थात् स्वत: सिद्ध और कविसमयप्रसिद्ध लिंगभेद, वचनभेदादि-

इत्यादिना प्रामाणिकैस्तथैवांगीकाराच्च। उपमितक्रियानिष्पत्तिमद्वर्णनस्योत्प्रेक्षा दौ सत्वेन तद्वारणाय सादृश्यपदस्यावश्यकत्वेन तन्निरर्थकताया अपि वक्तुमयोग्यत्वात्। तस्मान्मूलोकृत लक्षणं सम्यगेवेति दिक्।

—सुधा, चित्रमीमांसा, पृ० ७६-७७

रहित -- अप्रस्तुत वस्तु से, वर्णनीय वस्तु के साथ एक बार सादृश्य, यदि वाच्य हो, तो उसे उपमा कहते हैं ।

यदि व्यतिरेकालंकार में विद्यमान, निषेधप्रतियोगिक सादृश्य में अतिव्याप्त हो जाता है, पण्डितराज का लक्षण अतिव्याप्त नहीं होता, क्योंकि यह सादृश्य चमत्कारहीन है और पंडितराज चमत्कारिकता आवश्यक मानते हैं ।[1]

इसी प्रकार चित्रमीमांसा में प्राचीनों के नाम से उद्धृत--

'उपमानोपमेयत्वयोग्ययोरर्थयोर्द्वयोः ।
हृद्यं साधर्म्यमुपमेत्युच्यते काव्यवेदिभिः ।।

~~यह-लक्षण-भी-निरस्त-हो-जाता-है,~~ अर्थात् उपमानता और उपमेयता के योग्य दो पदार्थों के सुन्दर साधर्म्य को काव्यज्ञजन उपमा कहते हैं, यह लक्षण भी निरस्त हो जाता है, क्योंकि 'हृद्य' विशेषण व्यर्थ है ।[2]

काव्यप्रकाशकार मम्मट का लक्षण 'साधर्म्यमुपमा भेदे' भी ठीक नहीं है । इसकी अतिव्याप्ति भी व्यतिरेकालंकार के निषेध प्रतियोगिक सादृश्य में हो जाती है । यदि साधर्म्य से तात्पर्य 'पर्यवसित साधर्म्य' मानकर निर्वाह चाहें तो, अनन्वय में सादृश्य का पर्यवसान भी सादृश्य में न होकर निषेध में होता है, तब उसके वारणार्थ सन्निविष्ट 'भेदे' पद व्यर्थ हो जायगा । इसके अतिरिक्त पंडितराज की यह आपत्ति भी इस लक्षण के बारे में है कि अलंकारों के प्रकरण में ऐसे सामान्य लक्षण का निर्माण उचित नहीं, जो लौकिक, अलौकिक प्रधान, वाच्य और व्यंग्य-सभी प्रकार की उपमा में अतिव्याप्त हो ।[3]

---

१. रसगंगाधर, पृ० २१२
२. ,, पृ० २१३
३. ,, पृ० २१३

इन्हीं आपत्तियों के कारण अलंकारसर्वस्वकार रुय्यक का 'भेदाभेदतुल्यत्वे साधर्म्यमुपमा' — लक्षण भी ठीक नहीं है ।

अलंकार रत्नाकर कार का 'प्रसिद्धगुणेनोपमानेनाप्रसिद्धिगुणस्योपमेयस्य सादृश्यमुपमा —' लक्षण भी ठीक नहीं है । श्लेषमूलक उपमा में श्लिष्ट शब्दरूपी धर्म कविकल्पित ही होता है, वह न उपमान में प्रसिद्ध होता है, न उपमेय में और उस रूप में उपमान भी अप्रसिद्ध होता है, अतः ऐसे स्थलों में अलंकार रत्नाकरकार के लक्षण की अव्याप्ति ही रहेगी ।[१]

इस प्रकार पूर्ववर्ती कुछ प्रमुख लक्षण लेकर पण्डितराज ने इन लक्षणों की सीमाएं स्पष्ट कर दीं । अतः एक सूत्ररूप और सटीक बैठने वाले लक्षण की आवश्यकता थी ही । पण्डितराज के द्वारा निर्मित लक्षण है :—

'सादृश्यं सुन्दरं वाक्यार्थोपस्कारकमुपमालंकृतिः ।'[१]

अर्थात् वाक्यार्थ का उपस्कारक सुन्दर सादृश्य उपमालंकार है । इस लक्षण में 'सुन्दरं' पद के सन्निवेश की आलोचना करते हुए श्री के०पी० त्रिवेदी ने इसे अनावश्यक बताया, क्योंकि जैसा कि प्रदीपकार ने कहा है कि अलंकारों के लक्षण में 'अलंकारत्वे सति' इतना जोड़ना ही पड़ेगा और अलंकार चमत्कार के अतिरिक्त और कुछ है नहीं, फिर 'सुन्दर' पद का पृथक सन्निवेश अनावश्यक है ।[२] किन्तु यहां ध्यान रखना चाहिए कि पण्डितराज ने अप्पयदीक्षित को इसलिये भी दोषी बताया कि उन्होंने अपने लक्षण में 'चमत्कारित्व' का कण्ठतः सन्निवेश नहीं किया

---

१. रसगंगाधर, पृ० २१३

२. एकावली, पृ० ५३१

है और प्राचीनों के लक्षण में स्वयम् उन्होंने `हृद्यत्व` विशेषणमात्र का सन्निवेश आवश्यक माना है। स्वयम् पण्डितराज ने उपमा और उपमेयोपमा के लक्षण में `सुन्दर` पद का सन्निवेश कर केवल इसी बात की ओर संकेत किया है कि आलंकारित्व तभी हो सकता है, जब सादृश्य आदि चमत्कारी हों। जो बात प्रदीपकार `आलंकारत्वे सति` आधार अध्याहार से करना चाहते हैं, वही पण्डितराज `सुन्दर` पद के सन्निवेश से करते हैं। इसी का स्मरण वे रूपक आदि एक दो अलंकारों `उपस्कारक-विशिष्टत्व` और `रमणीय` पद के सन्निवेश से कराते हैं, अन्यत्र इसी की अनुवृत्ति समझनी चाहिए।

उपमाभेद—

भरत ने पांच प्रकार की उपमा मानी — प्रशंसोपमा, निन्दोपमा, कल्पितोपमा, सदृशी उपमा, किंचित्सदृशी उपमा।[1] भामह ने उपमा के तीन भेद माने —यथा, इव आदि शब्दों के प्रयोग वाली, यथा, इव आदि के बिना समासभिहता, वतिप्रत्ययसुक्त क्रियासाम्यवाली उपमा।[2] दण्डी ने ३२ प्रकार की उपमा गिनाया— १. धर्मोपमा, २. वस्तूपमा, ३. विपर्यासोपमा, ४. अन्योन्योपमा, ५. नियमोपमा, ६. अनियमोपमा, ७. समुच्चयोपमा, ८. अतिशयोपमा, ९. उत्प्रेक्षितोपमा, १०. अद्भुतोपमा, ११. मोहोपमा, १२. संशयोपमा, १३. निर्णयोपमा, १४. श्लेषोपमा, १५. समानोपमा, १६. निन्दोपमा, १७. प्रशंसोपमा, १८. आचिख्यासोपमा, १९. विरोधोपमा, २० प्रतिषेधोपमा, २१. चटूपमा, २२. तत्त्वाख्यानोपमा, २३. असाधारणोपमा, २४. अभूतोपमा, २५. असम्भावितोपमा, व २६. बहूपमा, २७. विक्रियो-

---

१. नाट्यशास्त्र, पृ० १७।५०

२. काव्यालंकार- २।३१-३३

पमा, २८. मालोपमा, २९. वाक्यार्थोपमा, ३०. प्रतिवस्तूपमा, ३१. तुल्ययोगोपमा, ३२. हेतूपमा ।[१] वस्तुत: दण्डी के इस उपमाप्रविभाग में बहुतेरे सादृश्यमूलक अलंकारों का अन्तर्भाव हो गया है । उन्होंने प्रतीप उपमेयोपमा, भ्रान्तिमान् , सन्देह, प्रतिवस्तूपमा का अन्तर्भाव उपमा में ही किया है और इन्हें क्रमश: विपर्यासोपमा, अन्योन्योपमा, मोहोपमा, संशयोपमा, प्रतिवस्तूपमा नामक उपमाभेद माना है । उनकी निर्णयोपमा को कई आलंकारिकों ने निश्चय अलंकार माना । वामन ने लौकिकी उपमा तथा कल्पिता उपमा नाम के दो भेद मानकर इन्हीं के पदवृत्ति उपमा तथा वाक्यवृत्ति उपमा नामक दो माने । फिर उपमा के पूर्णा और लुप्ता इन दो भेदों को बताया ।[२] उद्भट ने सर्वप्रथम व्याकरणानुसारी प्रयोगों के आधार पर उपमा के भेदों का अलंकारशास्त्र में वर्गीकरण किया । उद्भट के उपमा-भेदों के संबंध में प्रतिहारेन्दुराज का मत है कि उन्होंने सत्रह भेद माने हैं — पूर्णा —५ (आर्थी समासगा—१, श्रौती तथा आर्थीवाक्यगा—२, श्रौती तथा आर्थी तद्धितगा—२ = ५) तथा लुप्ता—१२ । किन्तु राजानक तिलक के मत से उद्भट ने उपमा के इक्कीस भेद माने हैं —पूर्णा—६ तथा लुप्ता —१५ ।[३] मम्मट ने सर्वप्रथम वर्गीकरण प्रस्तुत किया, जो आगे के आचार्यों में मान्य रहा । उन्होंने पूर्णा के छह तथा लुप्ता के उन्नीस भेद माने ।[४] विश्वनाथ ने

---

१. काव्यादर्श — २।१५—५०

२. काव्यालंकारसूत्र—४।२।१—६

३. तिलकविवृति, पृ० १९

४. काव्यप्रकाश, पृ० ५४७— ८०

लुप्ता के २१ भेद मानकर समस्त उपमाप्रकार सताइस माने । [१] पण्डितराज ने प्राचीनाभिमत पचीस भेदों को गिनाकर फिर सात भेदों की और चर्चा की जिससे कुल भेद बत्तीस हो जाते हैं ।

---

१. साहित्यदर्पण, पृ० २६३-३०१

२. "तथाहि उपमा द्विविधा पूर्णा लुप्ता च । पूर्णा तत्र श्रौती आर्थी चेति द्विधा भवन्ती वाक्यसमासतद्धितगामितया षोढा । लुप्ता च- उपमानलुप्ता, धर्मलुप्ता, वाचकलुप्ता, वाचकधर्मलुप्ता, वाचकोपमेयलुप्ता, धर्मोपमानवाचकलुप्तेति तावत्सप्तविधा: । तत्रोपमानलुप्ता-वाक्यगा, समासगा, चेति द्विविधा । धर्मलुप्ता-समासगता, श्रौती, आर्थी । वाक्यगता -- श्रौती, आर्थी , तद्धितगता-आर्थ्येव, न श्रौती-इति पंचविधा । वाचक-लुप्ता --समासगता, कर्मक्यज्गता, आधारक्यज्गता, क्यंगता, कर्मणामुल्गता, कर्तृणामुल्गता चेति षड्विधा । धर्मोपमानलुप्ता--वाक्यगता, समासगता चेति, द्विविधैव । वाचकोपमेय लुप्ता त्वेकविधा । धर्मोपमानवाचकलुप्ता तु समासगतैकविधेति । एवं प्राकल्येनैकोनविंशतिर्लुप्ताभेदा: पूर्णाभेदै: सह पंच-विंशति: ।" ....

इमान्यानपि भेदानन्ये निगदन्ति । वाचकलुप्ता.....

'कर्तर्युपमाने' इति णिनौ सप्तम्यपि दृश्यते अष्टम्यपि- 'इवेप्रतिकृतौ' इति कनि....... नवम्यपि - आचारक्विपि पदान्तरेण प्रतिपादिते समाने धर्मे दृश्यते । उपमानलुप्ता:......... तृतीयापि..... काकतालमिवेति द्वितीय इवार्थे..... 'छ प्रत्यये ।..... वाचकोपमान लुप्ता तु नाम्नैव न निर्दिष्टा । साप्यत्र प्रकृत्यर्थे दृश्यते ।....... धर्मोपमानलुप्ता....... प्रत्ययार्थे दृष्टा । वाचकधर्मलुप्ता..... धर्मस्यानुपादाने कनो लोपे विलो-क्यते । एवं च द्वात्रिंशद्भेदा: ।" --रसगंगाधर-पृ० २१३-२२२

पण्डितराज ने लुप्ता के सम्बन्ध में महत्वपूर्ण विवेचन किया है। उपमानलुप्ता पर विचार करते हुए पंडितराज ने `असमालंकार` से सम्बद्ध प्रश्न उठाया है। उपमानलुप्ता में उपमान का निषेध किया जाता है। ऐसा करने से अन्त: सादृश्य का अभाव सिद्ध हो जाता है। उपमा का जीवन है, वाक्यार्थ का सादृश्य में समाप्त होता । उपमानलुप्ता में वाक्य की परिसमाप्ति सादृश्य में नहीं, अपितु सादृश्याभाव में होती है, अत: वहां कोई भिन्न अलंकार मानना चाहिए। पण्डितराज ने इस तर्क का बड़ा ही सयुक्तिक उत्तर दिया कि ऐसे स्थलों में सादृश्य के अभाव में नहीं, अपितु सादृश्य में ही पर्यवसान होता है। जैसे

` यस्य तुलामधिरोहति लोकोत्तरवर्णपरिमलोद्गारः ।
कुसुमतिलक चम्पक न वयं तं तु जानीम: ।।`

यहां ` तुम जिसकी समानता करते हो, उसे हम नहीं जानते` — इस वाक्य का पर्यवसान `सर्वज्ञ न होने के कारण जिसे हम नहीं जानपाते, तुम्हारा उपमान, कोई वह होगा।` —इस प्रकार सादृश्य में ही होता है। इसलिए` ढुंढुणन्तो हि मरीहसि कंटककलिआइं केअइवणाइं ।
मालइकुसुमसरिच्छं भमर, भमन्तो ण पाविहिसि ।।`

इस स्थल पर उपमा नहीं , अपितु, `असम` अलंकार मानने वाले `अलंकार रत्नाकर` का मत निरस्त हो जाता है।१

वाचकलुप्ता कर्मक्यङ्गता, आधारक्यङ्गता, क्यङ्गता, वाचक-लुप्ता उपमा मानने के प्रकार को बताते हुए पण्डितराज ने कहा कि ` क्यच्` और `क्यङ्० ` प्रत्ययों का केवल `आचरण` अर्थ मानने वाले नैयायिकों के मत में `प्रकृति` से ही लक्षणा द्वारा अपने अपने अर्थों के समान—बोध होता है। अत: यहां पर सादृश्यवाचक पद न होने के कारण वाचकलुप्ता स्पष्ट है ही। वैयाकरण समुदाय में ही शक्ति स्वीकार करते हैं, प्रकृति—प्रत्यय का अलग अलग अर्थ नहीं मानते, उनकी रीति से `सादृश्य` और `सादृश्य` से

युक्त --इन दोनों में किसी एक के ही वाचकशब्द के न होने से वाचकलुप्ता सिद्ध हो जाती है।

वाचकधर्मलुप्ता क्विलुगता में प्रातिपदिक आचारार्थक क्विप् प्रत्यय का लोप हो जाने पर धातुरूप बन जाते हैं। इस स्थिति में लक्षणा द्वारा सादृश्य का बोध तथा स्मृत 'क्विप्' प्रत्यय से 'आचार' अर्थ का बोध मानने वालों के पक्ष में वाचक और धर्म दोनों का लोप स्पष्ट ही है क्योंकि केवल सादृश्य और केवल धर्म का बोधक कोई शब्द यहां नहीं होता जिन लोगों के मत से लक्षणा द्वारा 'सादृश्य से अभिन्न आचार' का बोध होता है, उनके मत में जिस तरह केवल सादृश्य का बोधक पद न होने के कारण सादृश्य का लोप समझा जाता है, उसी तरह धर्ममात्र बोधक पद न होने से 'धर्मलुप्ता भी होती ही है।

वाचकोपमेयलुप्ता 'तयादिलोत्तमीयन्त्या' में तिलोत्तमा रूपी उपमान का उपमेय स्वयं नायिका को मान कर और 'तया' द्वारा उपमेय वाच्य मान कर यहां उपमेयलुप्ता न मानने का तर्क नहीं दिया जा सकता, क्योंकि स्वयं नायिका तिलोत्तमा का उपमेय नहीं हो सकती। तिलोत्तमा रूपी उपमान 'आचरण' क्रिया का कर्म है और नायिका में कर्तृत्व है अत: कर्ता का उपमेय तथा कर्म का उपमान होना असंगत है, क्योंकि उपमान और उपमेय में समानविभक्तिकत्व का नियम है। इसलिए 'आत्मानम्' की उपमेय रूप में कल्पना करनी आवश्यक है, उसका वाचक शब्द न होने के कारण उपमेय का लोप मानने में कोई कठिनाई नहीं है।

पण्डितराज ने प्राचीनों के कर्मक्यच्, आधारक्यच् और क्यङ्० में वाचकलुप्ता के बादिलुप्ता उदाहरणों की आलोचना करते हुए बताया कि इनमें वाचकका ही नहीं, अपितु धर्म का भी लोप हो जाता है, अत: इन्हें 'धर्मवाचकलुप्ता' का उदाहरण मानना होगा। यह तर्क ऐसा ठीक नहीं कि यहां आचार ही साधारण धर्म है, क्योंकि केवल आचार की

ही धर्म मानने पर उपमा हो न सकेगी । `नारीयते सपत्नसेना` में `सेना` उपमेय होती और `नारी` उपमान । यहां उपमानवाचक का लोप तो पाया ही जाता है, कातरता, लज्जा आदि साधारण धर्म का भी लोप पाया जाता है , कातरत्वादि धर्म को अभिन्न मानने पर ही उपमा ठीक बैठेगी । इसी तरह अन्यत्र भी धर्मलोप पाया जाता है ।

अप्पयदीक्षित ने `पटुपटुरिवत:` जैसे स्थलों में द्विभाव का सादृश्य का वाचक मान कर केवल `धर्मलुप्ता` के उदाहरण रूप में प्रस्तुत किया किन्तु पण्डितराज ने द्विरुक्ति को सादृश्य का द्योतक मान कर इसे वाचक-धर्मलुप्ता का उदाहरण मानने की दलील दी । किन्तु नागेश ने इस प्रकरण में वाचक का अर्थ `सादृश्य अथवा सादृश्ययुक्त का बोधक` बता कर द्योतक-द्विरुक्ति को वाचक ही माना और अप्पय दीक्षित के दृष्टिकोण को उचित ठहराया । [१] इसी तरह पण्डितराज ने चित्रमीमांसा में अप्पयदीक्षित द्वारा —

> नृणां सेवमानानां संसारोऽप्यपवर्गति ।
> तं जगत्यभजन्मर्त्या: रचंचा चन्द्रकलाधरम् ।। [२]

इस श्लोक में `अपवर्गति` में `क्विप` तथा `रचंचा` में क्त का लोप मान वाचकधर्मलुप्ता का उदाहरण मानने की आलोचना की । पण्डितराज ने `रचंचा` और पुरुष` में `अभजन्` समान धर्म के रहते, इसे धर्मलुप्ता का उदाहरण मानने पर अपनी असहमति व्यक्त की ।

पण्डितराज ने इन भेदों में प्रत्येक के पांच-पांच प्रकार उपस्कारकता के आधार पर बताये —

> `इयं भेदभेदोपमा वस्त्वलंकाररसरूपाणां प्रधानव्यंग्यानां वस्त्वलंकारयोर्वाच्ययोश्चोपकारकतया पंचधा ।` [३]

---

१. गुरुमर्मप्रकाश— रसगंगाधर, पृ० २२३-२२४

२. चित्रमीमांसा, पृ० ६५

अप्पय दीक्षित ने उपमा के तीन प्रकार माने – (१) स्ववैचित्र्यमात्रविश्रान्ता (२) उक्तार्थोपपादनपरा (३) व्यंग्यप्रधाना ।[1] पंडितराज ने इस मत का खण्डन करते हुए कहा कि इस मत के अनुसार –

'नयने शिशिरीकरोतु मे शरदिन्दुप्रतिमं मुखं तव'

–इस वाच्यवस्तुपकारिका उपमा का समावेश न हो सकेगा । इसके साथ ही दीक्षित द्वारा स्ववैचित्र्यमात्रविश्रान्ता उपमा का समावेश तथा 'व्यंग्योपमा के कारण के लिए लक्षण में 'अव्यंग्यम्' पद के सन्निवेश का क्या अर्थ है ? एक ओर स्ववैचित्र्यमात्र में सीमित उपमा का संग्रह दूसरी ओर व्यंग्योपमा का असंग्रह- यह तो अत्यन्त अन्याय है । वस्तुत: स्ववैचित्र्यमात्रविश्रान्त उपमा व्यर्थ है, उसे तो किसी न किसी रस, अलंकार वस्तु का उपस्कारक होना ही चाहिए ।[2] इसीलिए पण्डितराज ने उपर्युक्त पांच प्रकार बताये ।

अप्पयदीक्षित ने यह भी कहा –'लुप्ता में तो ऐसे (साधारणधर्म के कारण होने वाले) भेद नहीं होते, क्योंकि उनमें साधारणधर्म के अनुगामी होने का नियम है :—यह भी उचित नहीं है, क्योंकि 'मलय इव जगति पाण्डुर्वल्मीक इवाधिधरणि धृतराष्ट्र:' इस धर्मलुप्ता उपमा में कोई अनुगामी धर्म ज्ञात नहीं होता , अत: समानधर्म के रूप में चन्दनों और पांडवों तथा सांपों और दुर्योधनादि का बिम्बप्रतिबिम्बभाव स्वीकार करना पड़ेगा । बिम्बप्रतिबिम्बभाव के लिए पदार्थों का शब्द द्वारा वर्णन अनिवार्य नहीं है, क्योंकि उसे श्रौत और आर्थ उभयविध मानना उचित है । जहां

पिछले पृष्ठ का शेष –

३. रसगंगाधर, पृ० २२६

---

१. विमर्शिनी, पृ० ३४

२. रसगंगाधर, पृ० २३९-४०

बिम्ब-प्रतिबिम्ब बनाने वाले पदार्थ शब्दत: गृहीत हों वहां श्रौत बिम्ब-प्रतिबिम्बभाव तथा जहाँ अर्थत: प्रतीत होते हों वहां आर्थ। अतएव अप्रस्तुत प्रशंसा में वाक्यार्थों के अवयवों का बिम्बप्रतिबिम्बमूलक प्रस्तुत और अप्रस्तुत वाक्यार्थों का सादृश्य संगत हो सकता है। यदि आर्थ बिम्बप्रतिबिम्बभाव न माना जाय तो अप्रस्तुत वाक्यार्थप्रतिपादक वाक्यार्थ के अभाव में दोनों वाक्यार्थों का सादृश्य कैसे संभव हो सकेगा।[1]

पण्डितराज ने समानधर्मों की अनुगामिता केवल बिम्बप्रतिबिम्बभावापन्नता, अथवा उभयता, बिम्बप्रतिबिम्बभावापन्नता तथा वस्तुप्रतिवस्तुभावापन्नता के मिश्रण केवल वस्तुप्रतिवस्तुभावता उपचारितता तथा केवल शब्दरूपता के आधार पर भी उपमा के भेद स्वीकार किये।

रुय्यक ने साधारण धर्म का निर्देश— अनुगामी, वस्तुप्रतिवस्तुभावापन्नता, बिम्बप्रतिबिम्बभावापन्न' रूपों में किया। जयरथ ने रुय्यक के इस सिद्धान्त को लेकर प्राय: सभी सादृश्याश्रय अलंकारों में साधारण धर्म के इन तीन भेदों के आधार पर भेदों का विवेचन किया है।[2] अप्पय-दीक्षित ने साधारण धर्म को सात प्रकारों में विभक्त किया —

(१) अनुगामी, (२) वस्तुप्रतिवस्तुभावापन्न, (३) बिम्ब-प्रतिबिम्बभावापन्नत्व, (४) श्लिष्ट, (५) औपचारिक, (६) समासान्तराश्रित, (७) कहीं इनका यथा सम्भव मिश्रण।[3] पण्डितराज ने श्लिष्ट तथासमासान्तराश्रित को 'केवलशब्दात्मक' में अन्तर्भूत कर दिया है।

---

१. रसगंगाधर, पृ० २३६ -४०

२. विमर्शिनी, पृ० ३४

३. चित्रमीमांसा, पृ० ८०

किन्तु विश्वेश्वर पण्डित के अनुसार श्लेषगत और समासगत साधारणधर्म को अलग-अलग ही गिना है।[१] शब्दसाम्य पर आधृत श्लेष तथा समासान्तराश्रय जैसे समानधर्म के भेदों के अंगीकार के प्रश्न पर आपत्तियां उठायी गयी हैं,[२] किन्तु 'यत्रवसन्ति सुमनसि मनुजपशो च शीलवन्तः सर्वत्र समाना मन्त्रिणो मुनय इव' इत्यादि स्थल में उपमा की सिद्धि के लिए इनका स्वीकार आवश्यक प्रतीत होता है। शब्दनिमित्तक मान कर शब्दालंकार में परिगणन की आशंका को समाहित किया ही गया है।[३]

इन धर्मों के मिश्रणापरक भेदों को भी पण्डितराज ने स्वीकार किया है। धर्मों की वाच्यता, लक्ष्यता और व्यंग्यता के आधार पर भी भेद किया गया है। पण्डितराज ने केवल निरवयवा, मालारूप निरवयवा, समस्तवस्तुविषया सावयवा, एकदेशविवर्तिसावयवा, केवल श्लिष्टपरम्परिता, मालारूप श्लिष्टपरम्परिता, केवलशुद्ध परम्परिता तथा मालारूप शुद्ध — परम्परिता ये आठ भेद भी स्वीकार किये हैं। इनके अतिरिक्त अन्य भेदों की तर्कना भी करने का दिग्निर्देश उन्होंने किया है।

भामह ने मालोपमा, रशनोपमा आदि भेदों का संकेत भर दिया, किन्तु इसके विस्तार में जाने की अनिच्छा व्यक्त की।[४] दण्डी ने मालोपमा, समुच्चयोपमा आदि अनेकों भेदों का संकेत दिया। चित्रमीमांसाकार इन भेदों में नहीं गये हैं। मम्मट ने रशनोपमा मानी है। पण्डितराज रशनोपमा स्वीकार कर रशनोपमा का लक्षण दिया कि जब उपमेय अपने

---

१. अलंकारकौस्तुभ, पृ० ३७-३८

२. भारतीय साहित्य शास्त्र और काव्यालंकार—पृ० ११३-१५

३. काव्यप्रकाश—भलकीकर, पृ० ५२१—२२

४. काव्यालंकार २।३८

अपने उपमानों के उपमान न होते हुए अन्य के उपमान हो जाये तो रशनोपमा होती है। इसके समानधर्मों के भिन्न होने, समानधर्मों के होने पर तथा धर्म लुप्त होने पर पृथक्-पृथक् उदाहरण दिये। इस तरह उनका निष्कर्ष है कि सब भेदों के गुणन करने पर उपमा भेद के इतने अधिक भेद हो जाते हैं कि उनकी गणना असंभव है।

पण्डितराज द्वारा वर्णित उपमा-भेद
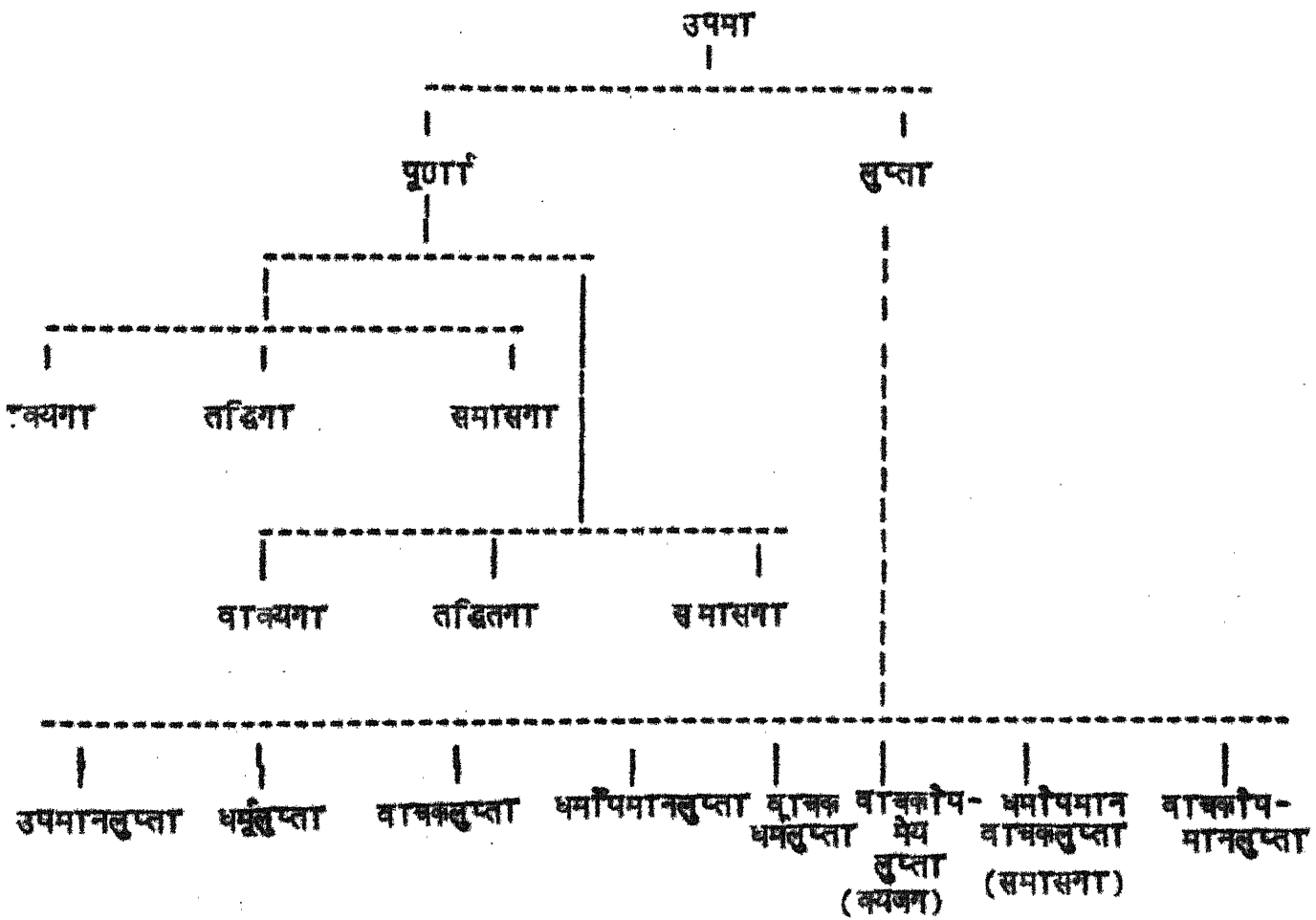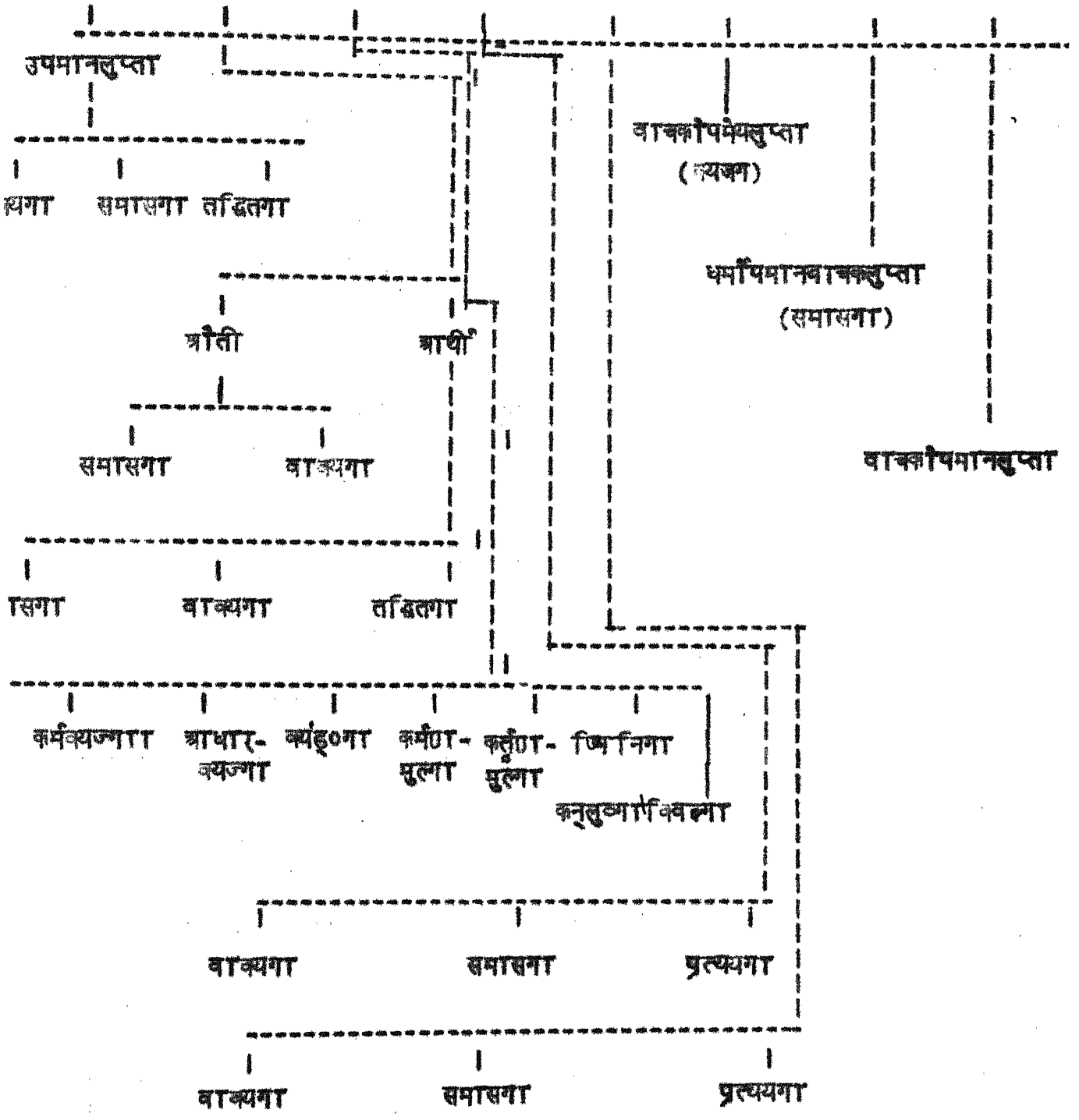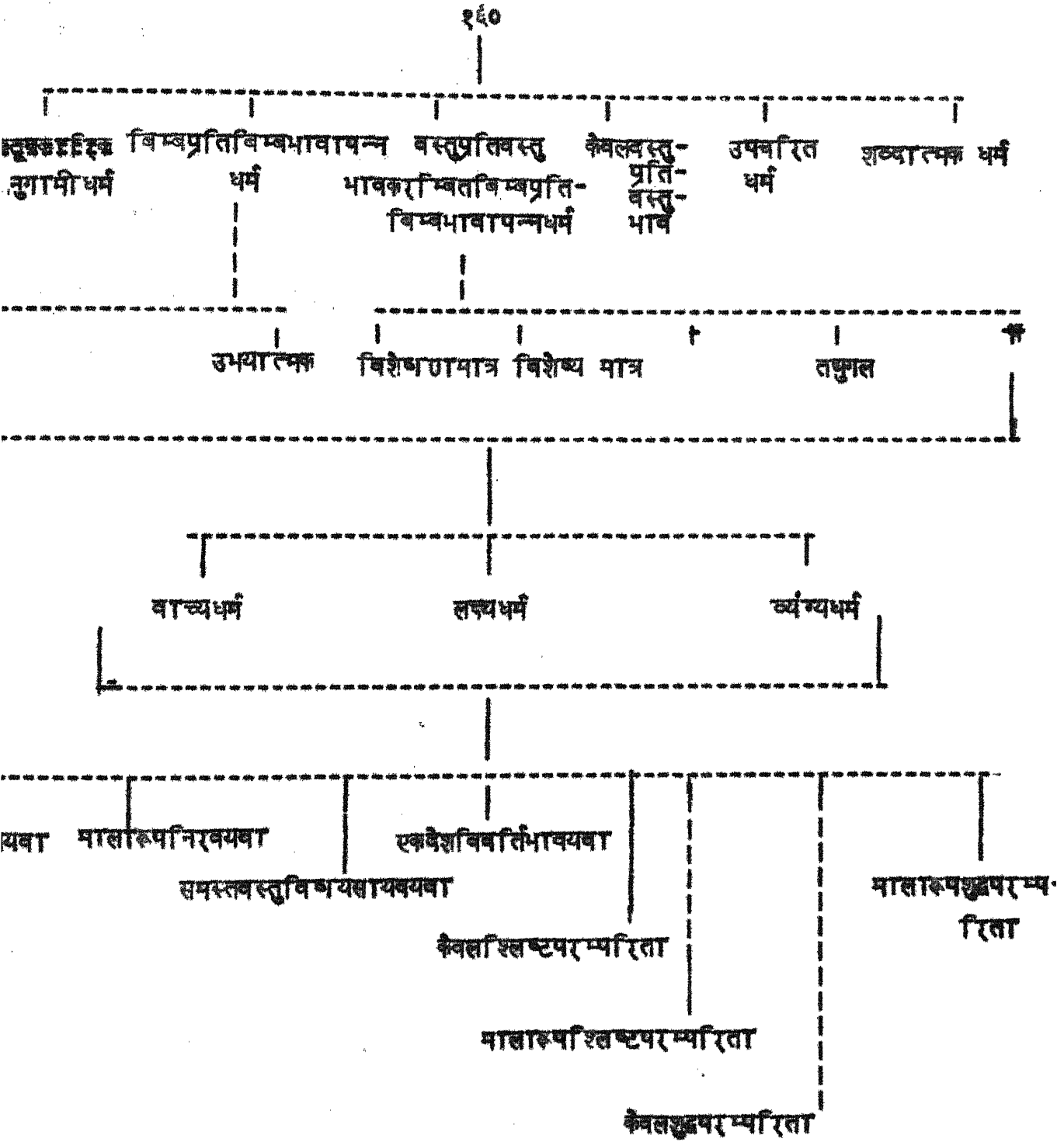
तथा रशनोपमा, मालोपमा आदि ।

उपमाध्वनि--

उपमा जब समग्र वाक्य से प्रधानतया ध्वनित होती है, तो इसकी अलंकारता समाप्त हो जाती है और अलंकार्य होकर काव्य को `ध्वनि` नाम दिलाती है :--

" एवैव च यदा सकलेन वाक्येन प्राधान्येन ध्वन्यते, तदा परिहृतालंकारभावा ध्वनि व्यपदेशहेतुः ।"[१]

पण्डितराज ने उपमावाक्यों में शास्त्रीय ढंग से शाब्दबोध प्रकार का विस्तार से विवेचन किया है। इससे उन्होंने अलंकार को शास्त्रीय गौरव प्रदान किया है।

शाब्दबोध का स्वरूप:--

प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द--इन चार प्रमाणों को नैयायिकों ने स्वीकार किया। उन्होंने शब्द को ज्ञान का स्वतंत्र प्रमाण स्वीकार किया।[२] इस प्रकार शब्द को स्वतंत्र प्रमाण मान लेने पर शाब्दबोध की प्रक्रिया को समझना आवश्यक है। प्राचीन नैयायिकों के अनुसार शाब्दबोध में ज्ञायमान पद ही करण अथवा असाधारणकारण है, जब कि नव्यनैयायिक पदज्ञान को करण मानते हैं, पदार्थ की उपस्थिति ही व्यापार है और शक्तिज्ञान तथा आकांक्षा योग्यता और सन्निधि का ज्ञानपदार्थोपस्थिति में सहकारी है। शाब्दबोध फल है। यह वाक्यार्थ ज्ञानात्मक होता है।[३] अनेकपदों के समूह का ही नाम वाक्य है, वाक्य में पदों का

---

१. रसगंगाधर, पृ० २४५

२. "प्रयोगहेतुभूतार्थतत्वज्ञानजन्यः शब्दः प्रमाणम्--तत्वचिन्तामणि, शब्दखण्ड, पृ०, १

३ न्यायकोशः, पृ० ७६६

परस्पर कोई न कोई सम्बन्ध रहता है। उन सब सम्बन्धों सहित, वाक्य के अन्तर्गत सब पदों का, शक्ति अथवा लक्षणा द्वारा, ठीक ठीक अर्थ समझा जाना ही शाब्दबोध है। यह शाब्दबोध यथार्थ और अयथार्थ — दो प्रकार का होता है। 'नदी के तीर पर पांच फल हैं' इस वाक्य से यथार्थशाब्दबोध और 'आग से सींचता है' इस अयोग्यवाक्यजन्य अयार्थ शाब्दबोध होता है। ये दोनों भी दो प्रकार के होते हैं — भेदान्वयविषयक और अभेदान्वयविषयक। अभेदान्वयबोध समान लिंग, विभक्ति और वचनप्रयुक्त होता है। भेदान्वय विषयक शाब्दबोध स्थल का उदाहरण है 'राज्ञः पुरुषः तथा अभेदान्वय का 'नीलो घटः।'

शाब्दबोध के सम्बन्ध में तीन मत हैं। वैयाकरण धात्वर्थमुख्यविशेष्यक शाब्दबोध मानते हैं, जब कि नैयायिक प्रथमान्तार्थमुख्यविशेष्यक शाब्दबोध स्वीकार करते हैं। मीमांसक सर्वत्र आख्यातार्थव्यापारमुख्यविशेषक शाब्दबोध ही स्वीकार करने के पक्षपाती हैं।[१]

इस संदर्भ में हम वैयाकरणों और नैयायिकों की शाब्दबोध पद्धति को समझ लें। पहले देवदत्त आदि पद के शक्य हैं या लक्ष्य — यह सम्बन्ध ज्ञान होता है। फिर कालान्तर में 'देवदत्तो गच्छति' यह किसी के उच्चारण करने पर देवदत्त आदि पदों से देवदत्त आदि अर्थ का स्मरण होता है। तब आकांक्षादि का जिन्हें ज्ञान होता है, उन्हें वैयाकरण के अनुसार 'देवदत्ताभिन्नकर्तृको वर्तमानकालिक उत्तरदेशसंयोगानुकूलो व्यापारः' — यह शाब्दबोध होता है। यहां धात्वर्थ मुख्य है।

किन्तु नैयायिक को वर्तमान समय में होने वाले, उत्तरदेश के संयोग की अनुकूल चेष्टा के यत्न का आश्रय देवदत्त एतदाकारक—' वर्तमान-

---

१. न्यायकोश, पृ० ८०१-८०२

कालिकोत्तरदेशसंयोगानुकूलव्यापारानुकूलकृत्याश्रयो देवदत्त:` शाब्दबोध होता है। यहाँ प्रथमान्तार्थमुख्यविशेष्यक शाब्दबोध है।

वैयाकरण कर्ता को तिङ्० प्रत्यय का अर्थ और व्यापार को पूरे वाक्य का प्रधान विशेष्य मानते हैं और नैयायिक यत्न को तिङ्० प्रत्यय का अर्थ तथा `यत्न के आश्रय प्रथमान्त पद के अर्थ (कर्ता )` को मुख्यविशेष्य मानते हैं। `देवदत्त : गच्छति` इत्यादि पद में `गम्` धातु का अर्थ `उत्तर-देशसंयोगानुकूलव्यापार` है और `ति ` का अर्थ वैयाकरणों के अनुसार (उस वर्तमानकालीन व्यापार का) कर्ता तथा नैयायिकों के अनुसार (वर्तमानकालीन कर्तृत्व--व्यापारानुकूल यत्न। `देवदत्त: ` के साथ वैयाकरण `अभेद ` सम्बन्ध मानते हैं, जबकि नैयायिक `आश्रयता ` सम्बन्ध।

पण्डितराज उपमा के शाब्दबोध पर विचार करते हुए, प्रथमत: संकेत करते हैं -` सादृश्यस्य पदार्थान्तरत्वे।` उपमा `सादृश्य ` का ही दूसरा नाम है। किन्तु सादृश्य क्या वस्तु है, इसमें मतभेद है। मीमांसक के अनुसार `सादृश्य ` एक अतिरिक्त पदार्थ है, उसका किसी पदार्थ में अन्तर्भाव नहीं किया जा सकता। नैयायिकों के अनुसार `सादृश्य` कोई अतिरिक्त पदार्थ नहीं है --दो वस्तुओं में विद्यमान समानधर्म ही `सादृश्य` है। मीमांसक समानधर्म को सादृश्य का प्रयोजक अथवा साधक मानता है, जब कि नैयायिक समानधर्म और सादृश्य को एक मानता है।

<u>अरविन्दसुन्दरम्</u> :-

इस पृष्ठभूमि में पंडितराज ने सादृश्य को अतिरिक्त पदार्थ मानने वालों के मत से शाब्दबोध प्रस्तुत किया है। `अरविन्दसुन्दरम्` स्थल में `अरविन्द` पद का अर्थ `अरविन्द से निरूपित सादृश्य का प्रयोजक करना पड़ता है। `अरविन्द` पदार्थ का `सुन्दर` पदार्थ के साथ अन्वय के लिए यह अर्थ आवश्यक है। `अरविन्द` और `सुन्दर ` अर्थात् सौन्दर्ययुक्त का अन्वय

सादृश्य द्वारा ही हो सकता है, अत: `अरविन्द सुन्दरम्` का अर्थ `अरविन्दमिव सुन्दरम्` किया जाता है। `इव` का अर्थ सादृश्य और उसका निरूपण उपमान द्वारा किये जाने के कारण उपमान के साथ उसका `निरूपितता` सम्बन्ध है। सादृश्य का `सुन्दर` अर्थात् सौन्दर्ययुक्त पूरे पदार्थ के साथ अन्वय संभव नहीं है, अत: उसके एकदेश `सौन्दर्य` के साथ अन्वय होता है। यह एकदेशान्वय `देवदत्तस्य नप्ता` में जैसे देवदत्त का अन्वय `सीधे `नप्ता` में असंभव होने के कारण `नप्ता` पद के अर्थ `पुत्रस्य पुत्र:` के एक देश का `पुत्र` में किया जाता है, उसी प्रकार यहां भी स्वीकार किया जायेगा। अतिरिक्तपदार्थवादियों के मत से `सौन्दर्य` सादृश्य का प्रयोजक है, अत: प्रयोजकतासम्बन्ध स्वीकृत होता है, अत: `अरविन्दसुन्दरम्` में `अरविन्द` का अर्थ `अरविन्दनिरूपितसादृश्यप्रयोजक` होता है, यह अर्थ अभिधेय है नहीं, अत: लक्ष्य माना जाता है।

`अरविन्द` पदार्थ का `सुन्दर` पदार्थ के एकदेश `सौन्दर्य` के साथ अभेद सम्बन्ध से अन्वय होता है, अत: शाब्दबोध होता है — `अरविन्दनिरूपितसादृश्यप्रयोजकाभिन्नसौन्दर्यवद्।` निपात के अतिरिक्त दो अर्थों का अभेदान्वय के अलावा दूसरा सम्बन्ध नहीं हो सकता। अत: `मुख` आदि पदार्थों के साथ भी अभेदान्वय ही होता है, अत: `अरविन्दसुन्दरम्` का पूर्ण शाब्दबोध है —

`अरविन्दनिरूपितसादृश्यप्रयोजनकाभिन्नसौन्दर्यवदभिन्नम्।`[१] अर्थात् अरविन्द से निरूपित सादृश्य के प्रयोजक से अभिन्न (प्रयोजक रूप) सौन्दर्य से युक्त से भिन्न।

यह निपात से अतिरिक्त अर्थद्वय में अभेदान्वय सम्बन्ध स्वीकार करने के सम्बन्ध में पण्डितराज मतान्तर भी प्रस्तुत करते हैं कि नित्य साकांक्ष स्थल `देवदत्तस्य नप्ता` आदि में ऐसा स्वीकार भी कर लें, तो यहां `अरविन्दसुन्दरम्` में ऐसा मानने की क्या आवश्यकता ? अत: कुछ लोगों

---

१ रसगंगाधर. पृ० २४६

के मत से 'समास की ही विशिष्ट अर्थ में शक्ति है अर्थात् समस्त अरविन्द पद का अर्थ 'अरविन्द निरूपितसादृश्यप्रयोजकाभिन्नसौन्दर्यवत्' हो जाता है, खण्डश: अर्थ की आवश्यकता नहीं है, किन्तु इस मत में गौरव के कारण[1] दूसरा मत पंडितराज ने उपस्थित किया — 'अरविन्द'पद ही लक्षणा से सारे अर्थों का बोधक है, 'सुन्दर' पद तो तात्पर्यग्राहक है।' अर्थात् 'अरविन्द' पद ही पूर्वोक्त सारे अर्थों को उपस्थित कर देता है, 'सुन्दर' पद तो इसलिये प्रयुक्त किया जाता है कि वक्ता के तात्पर्यभूत लक्षणा क्या है, यह मालुम हो जाय, एक पद का ही अर्थ होने के कारण न तो सम्बन्ध जानने की आवश्यकता होती है और न ही एकदेश में अन्वय की।

२. अरविन्दमिव सुन्दरम् :-

इस वाक्य में केवल 'इव' शब्द अधिक है और इसका अर्थ है 'सादृश्य'। 'अरविन्द' का 'सादृश्य' के साथ 'निरूपितता' सम्बन्ध है। 'सादृश्य' का 'सौन्दर्य' के साथ 'प्रयोजकता' सम्बन्ध है। विशेष्य के साथ 'सौन्दर्यवत्' का अभेद सम्बन्ध से अन्वय होता है अत: 'अरविन्दमिव सुन्दरम्' का शाब्दबोध होगा— 'अरविन्दनिरूपितसादृश्यप्रयोजकसौन्दर्यवदभिन्नम्।'[2]

अर्थात् अरविन्द से निरूपित सादृश्य के प्रयोजक सौन्दर्य से युक्त से अभिन्न।

३. अरविन्दमिव

इस वाक्य में दो ही पद हैं, 'अरविन्दम्' का अर्थ 'अरविन्द' और इव का अर्थ सादृश्य है और दोनों अर्थों को सम्बन्ध निरूपितता है,

---

१, नागेश— पृ० २४६-२४७

२, रसगंगाधर, पृ० २४७

'सादृश्य' का विशेष्य के साथ,' आश्रयता' सम्बन्ध है, अत: शाब्दबोध एतदाकारक होगा —

'अरविन्दनिरूपितसादृश्यवत् ।'[१]

अर्थात् अरविन्द से निरूपित सादृश्य से युक्त ।

उपर्युक्त दोनों ही वाक्यों में 'अरविन्द' पदार्थ का 'इव' पदार्थ 'सादृश्य' के साथ 'निरूपितता' सम्बन्ध से अन्वय है। नियम यह है कि जिस शाब्दबोध में प्रातिपदिकों के अर्थ विशेषण रूप में आये हों, उस शाब्दबोध में उन उन प्रातिपदिकार्थों के प्रति विभक्तियों के अर्थों का विशेष्य होना कारणरूप माना जाता है, अत: उपर्युक्त 'इव' शब्दवाले शाब्दबोधों में 'अरविन्द' पद के अर्थ का अन्वय उस पद की विभक्ति —प्रथमा— के अर्थ-अभेद में होना आवश्यक है। किन्तु यह आशंका उचित नहीं है, क्योंकि यह नियम उन्हीं शाब्दबोधों में लगता है, जहां'निपात' का अर्थ प्रातिपदिक के अर्थ का विशेष्य या विशेषण न हो। अत: जैसे 'घटो घट: पटो न' इत्यादि स्थलों में 'न' के अर्थ — अभाव- में' भेदसम्बन्ध से अन्वय उचित है क्योंकि 'न' निपात है और 'पटप्रतियोगिकभेदवानघट एस बोध में न अर्थ के प्रति घटप्रतियोगितासम्बन्ध से विशेषण है तथा'घट' विशेष्य है। यहां विभिन्नयर्थ से सम्बन्ध नहीं है।[२] उसी तरह'इव' निपात के अर्थ सादृश्य का 'अरविन्द' के साथ भेदसम्बन्ध—निरूपितता से अन्वय उचित है।

४. अरविन्दमिव भाति

यहां'अरविन्दमिव' का शाब्दबोध पूर्ववत् है। 'भा' धातु का अर्थ है 'प्रतीति' इसमें' सादृश्य' का विशेषणतासम्बन्ध से अन्वय होता

---

१. रसगंगाधर, पृ० २४७

२. भट्टमथुरानाथशास्त्री— रसगंगाधर, सरला, पृ० २४७

है, क्योंकि वैयाकरणों की शाब्दबोध प्रक्रिया के अनुसार धात्वर्थमुख्यविशेष्यक शाब्दबोध होना चाहिए, किन्तु नैयायिकों के अनुसार प्रथमान्तार्थमुख्यविशेष्यक शाब्दबोध होता है, अत: इसका शाब्दबोध होगा। 'अरविन्दसादृश्य-प्रकारकधीविशेष्य:।' अर्थात् अरविन्द से निरूपित सादृश्य जिसका विशेषण है, उस प्रतीति का विशेष्य। वैयाकरणों के मत से शाब्दबोध का स्वरूप होगा— '(मुखकर्तृक' वर्तमानकालिकम्) अरविन्दनिरूपितसादृश्यप्रकारकं भानम्।'

५. सौन्दर्येण अरविन्दमिव भाति

पूर्वलिखित वाक्य में 'सौन्दर्येण' पद को जोड़ देने पर शाब्द-बोध में समानधर्म 'सौन्दर्य' और उसकी तृतीया विभक्ति का 'प्रयोज्यत्व' का अन्वय धात्वर्थ 'प्रतीति' अथवा 'इव' के अर्थ सादृश्य में होता है और एतदा-कारक शाब्दबोध बनता है —

'सौन्दर्यप्रयोज्यारविन्दसादृश्यप्रकारकधीविशेष्य:।'[१]

अर्थात् अरविन्द से निरूपित सादृश्य जिसका विशेषण है, ऐसी सौन्दर्य द्वारा सिद्ध की जाने वाली प्रतीति का विशेष्य।

६. गज इव गच्छति, पिक इव रौति

इन वाक्यों में उपमान पद गज, पिक इत्यादि की उपमानों द्वारा की जाने वाली क्रिया में लक्षणा मानी जाती है, अर्थात् ऐसे स्थलों में 'गज' का अर्थ होता है —गजकर्तृकगमन' और 'पिक' का अर्थ होता है 'पिककर्तृकरवण।' 'गच्छति' का अर्थ होगा' गमनानुकूलकृतिमान्' और 'रौति'

---

१. रसगंगाधर, पृ० २४८

का अर्थ होगा — 'रवणानुकूलकृतिमान् ।' दोनों अर्थों के बीच इवार्थ सादृश्य के जोड़ देने पर शाब्दबोधस्वरूप होगा —

'गजकर्तृकगमनसदृशगमनानुकूलकृतिमान् ।'

अर्थात् हाथी के गमन के समान गमन के अनुकूल यत्न करने वाला ।
अरविन्द से निरूपित सादृश्य जिनका विशेषण है, उस प्रतीति का विशेष्य ।
तथा

'पिककर्तृकरवणसदृशरवणानुकूलकृतिमान् ।'[1]

अर्थात् कोकिल रव के समान रव के अनुकूल यत्न करने वाला ।

रघुनाथभट्टाचार्य 'शिरोमणि' की मान्यता पर विचार

रघुनाथभट्टाचार्य 'शिरोमणिकृत' आख्यातवाद[2] के व्याख्याताओं ने 'घटो न पश्यति' इत्यादि वाक्यों में 'घट' का अन्वय 'न' पदार्थ 'अभाव' में तथा 'अभाव' का अन्वय 'न' पदार्थ 'अभाव' में तथा अभाव का अन्वय क्रिया में होकर 'घटाभावं पश्यति' — इस अनुपपत्ति के वारण के लिए नियम माना है — 'धात्वर्थनिष्ठ विशेष्यतानिरूपित विशेषणतासम्बन्ध से होने वाले शाब्दबोध में विशेष्य रूप से होने वाले विभक्ति के अर्थ के स्मरण को कारणरूप माना जाता है' अर्थात् जहाँ धातु का अर्थ विशेष्य हो उस शाब्द बोध में विभक्ति का अर्थ (प्रातिपदिक के अर्थ के) विशेष्यरूप में अवश्य आना चाहिए । फलतः 'घट' का द्वितीय आदि के अर्थ के साथ अन्वय हो जाता है और नञर्थ अभाव के साथ नहीं । किन्तु इस नियम को स्वीकार करने पर प्रस्तुत शाब्दबोध में जो 'इव' के अर्थ 'सादृश्य' का धात्वर्थ 'गमन' और 'रवण' में अन्वय किया जा रहा है, वह न हो सकेगा, क्योंकि धात्वर्थ

---

1. रसगंगाधर, पृ० २५८
2. आख्यातवाद — रघुनाथ 'शिरोमणि' — बिब्लोथेका इण्डिका, एशियाटिक सोसाइटी आफ बंगाल, कलकत्ता — १९०१

`सादृश्य` का विशेष्य बने यह उचित नहीं है। अन्तः गज और पिक का अन्वय `गमन` और `रवण` के कर्ता में ही होना चाहिए, क्रिया में नहीं और सादृश्य का सिद्ध करने वाला समान धर्म होना चाहिए।

किन्तु पण्डितराज ने इस मान्यता का विरोध किया। उन्होंने तर्क दिये —

(१) ऐसा मानने पर `गज इव गच्छति` में `सादृश्य` की विधेयतया प्रतीति ही न हो सकेगी। स्पष्टतः इस वाक्य में `सादृश्य` पर बल दिया जाना विवक्षित है, किन्तु आख्यातवादशिरोमणि के व्याख्याताओं की रीति से चलने वाला विधेय हो जाता है और सादृश्य उद्देश्य। `गज इव यः पुरुषः स गच्छति` तथा `पुरुषो यः स गज इव गच्छति` इन दोनों वाक्यों में दो भिन्न भिन्न प्रतीतियां अनुभवसिद्ध हैं। पहले वाक्य में सादृश्य उद्देश्य है और दूसरे में विधेय। होना चाहिए द्वितीय वाक्य सा `बोधः` किन्तु होने लगेगा प्रथम वाक्य-सा बोध।

(२) `शिरोमणि` के व्याख्याताओं की रीति मानने पर `वने गज इव गृहं देवदत्तो गच्छति` इत्यादि वाक्यों में `वन` आदि सर्वथा ही अन्वय न हो सकेगा। इस रीति से बिम्बप्रतिबिम्बभूत कारक `गज` और `देवदत्त` मात्र का सादृश्य बोध्य है, `वन` और `गृह` के सादृश्य का बोध तो हो ही न सकेगा। अतः वाक्यबोध यही होना चाहिए।

`गजनिरूपितसादृश्यप्रयोजकगमनाश्रयः।`
पिकनिरूपितसादृश्यप्रयोजकरवणाश्रयः॥

अर्थात् उपमानवाचकपद की उसके द्वारा की जाने वाली क्रिया में लक्षणा मानी जानी चाहिए।

पण्डितराज ने `धात्वर्थनिष्ठाविशेष्यतानिरूपितप्रकारतासंसर्गेण शाब्दबोधं प्रति विशेष्यतया विभक्त्यर्थोपस्थितेर्हेतुत्वम्` — इस नियम को भी

अस्वीकार किया । क्योंकि इसे मानने पर `तूष्णीम्`, `आरात्` `पृथक्` इत्यादि निपातों का धात्वर्थ में अन्वय न हो सकेगा और इनका अन्वय स्पष्टत: अन्वयसिद्ध है -`तूष्णीं भव` -चुप रहो` इत्यादि वाक्यों से यह स्पष्ट है ।

इस नियम के न मानने पर भी `घटो न पश्यति` वाक्य के शाब्दबोध में पूर्वोल्लिखित` घटाभावं पश्यति` -अनुपपत्ति के वारण के लिए नियम की कल्पना करनी होगी --

`धातु के अर्थ को विशेष्य मान कर विशेषणता सम्बन्ध से होने वाले बोध में, केवल नञर्थ प्रतिबन्धक होता है ।`

अर्थात् एक मात्र नञ् का अर्थ ऐसा है, जो पूर्वोल्लिखित ढंग के अन्वय को रोक देता है । जहां` नञ्` नहीं होता वहां ऐसा अन्वयज्ञान होता ही है । नियम में धात्वर्थ के साथ` प्रातिपदिकार्थ से भिन्न` इतना विशेषण हमें और आप -दोनों ही पक्षों को लगाना पड़ेगा, क्योंकि तभी `पाको न याग:` में अतिव्याप्ति न होगी, क्योंकि यदि यहां भी नञर्थ को प्रतिबन्धक मान लिया जाय, तो अभिप्रेत अर्थ की प्रतीति न हो सकेगी ।[१]

पण्डितराज के मत का नागेश द्वारा खंडन--

नागेश ने `आख्यातवाद` के व्याताओं के मत के खंडन में पण्डितराज की कल्पना को अमान्य ठहराया है । उन्होंने कहा कि ` वनं गज इव रणभूमिं शूरो गच्छति` इत्यादि बिम्बप्रतिबिम्बभावापन्न समानधर्म वाले वाक्यों में -` वनकर्मकगमनानुकूलकृतिमद्गजसदृश: समरभूमिकर्मकगमनानुकूलकृतिमान् शूर:` -इत्यादि बोध होता है । `इव` शब्द से बिम्बप्रतिबिम्बभावापन्न

१, रसगंगाधर, पृ० २४८-२५०

वन और रणभूमिविशेषणक गमन ही समान धर्म के रूप में बोधित होता है। 'इव' आदि शब्द समानधर्म के ही बोधक हैं—यह सर्वसम्मत बात है।

पण्डितराज ने पहले तर्क के सम्बन्ध में नागेश ने कहा 'गज इव यः पुरुषः स गच्छति' तथा 'पुरुषो यः स गज इव गच्छति' —इन दोनों वाक्यों में भिन्नता है—प्रथम में 'इव' पद 'शूरता' आदि का समानधर्म होने का बोधक है और द्वितीय वाक्य में 'गमन' के ही समानधर्मत्व का बोधक है। एक समान धर्म ऊपर से आता है दूसरे में वाक्य का विधेय ही समान धर्म है। उपमा की विधेयता का अर्थ है कि जहां 'इव' आदि उपमाबोधक शब्दों से वाक्य का विधेय अंश समानधर्म रूप बतया जाय, वहां उपमा विधेय होती है।

अतः पण्डितराज द्वारा प्रस्तुत शाब्दबोध प्रकार नैयायिकों के मत से तो चिन्त्य ही है। वैयाकरणों के रीति में तो अवश्य ही क्रियाएं ही उपमान और उपमेय बनती हैं, अतः 'गच्छति' का आवृत्ति द्वारा उभयत्र अन्वय हो जायगा तथा 'गज' आदि पदों की स्वकर्तृकक्रिया में लक्षणा हो जायगी।[१]

इस प्रकार नागेश ने पण्डितराज के तर्कों का खण्डन किया। पण्डितराज ने निश्चय ही नैयायिकाभिमतरीति से शाब्दबोध प्रस्तुत किया है, और उस दशा में नागेश की आपत्तियां विचारणीय हैं।

७—अरविन्दतुल्यो भाति

'अरविन्दतुल्यो भाति' में शाब्दबोध 'भेदसम्बन्ध से होगा या अभेदसम्बन्ध से? यह प्रश्न उठाकर, इसका उत्तर दिया है। 'तुल्य' पद के अर्थ

---

१. नागेश—गुरुमर्मप्रकाश, रसगंगाधर, पृ० २४६

का भेद सम्बन्ध से धात्वर्थ में अन्वय हो नहीं सकता, क्योंकि वह निपाता-तिरिक्त प्रातिपदिक का अर्थ है, अत: पूर्वोक्त नियम लग जायगा । यदि अभेद सम्बन्ध से अन्वय मानकर `तुल्यत्व` को `प्रतीति` रूपी विधेय अंश के उद्देश्य का अवच्छेदक माना जाय अर्थात् `तुल्य` पदार्थ को उद्देश्य और `तुल्यत्व` को उसका अवच्छेदक तथा केवल धात्वर्थ`भान` को विधेय माना जाय, तो विवक्षित अर्थ प्रतीत नहीं होगा, क्योंकि वह चाहता है `सादृश्य` `तुल्यत्व` का विधेय होना और ऐसी स्थिति में वह उद्देश्य का अवच्छेदक हो जायगा ।

यहां `तुल्य` का अर्थ लक्षणा से `तुल्यत्वप्रकारक` करके इसका अभेद सम्बन्ध से धात्वर्थ में अन्वय करने पर `अरविन्दतुल्यो भाति` का शाब्द-बोध `अरविन्दनिरूपित तुल्यप्रकारकाभिन्नभानकृत्`-एतदाकारक मानने की बात कही जाय, और `अरविन्दतुल्य` को क्रियाविशेषण मानकर `क्रिया-व्ययविशेषणानां क्लीबत्वेष्यते` नियमानुसार `अरविन्दतुल्यं भाति` यही प्रयोग होगा - इस आपत्ति का उत्तर है कि व्याकरण तो सिद्धप्रयोगों को अनुवादक मात्र है, अत: क्रियाविशेषणों की क्लीबता का विषय `स्तोकं पचति` मात्र के लिए है, वह लोक व्यवहार का अतिक्रमण नहीं कर सकता । अत: शाब्दबोध होगा -

`अरविन्दनिरूपिततुल्यप्रकारभानविशेष: ।`

कुछ लोगों के अनुसार धातु ही लक्षणा से सकलार्थबोधिका है, `अरविन्दतुल्य:` तात्पर्यग्राहकमात्र है ।

नागेश ने पण्डितराज का खंडन करते हुए कहा कि उपमा-विधेयकबोध में तात्पर्य होने पर तो `अरविन्दतुल्यम्` ही उचित है, `अरविन्द-तुल्य:` नहीं । यदि वाक्य में विधेयभूत का उपमाबोधक (इव आदि) द्वारा समानधर्म रूप में उपस्थित किये जाने को उपमा मानें, तो भी ... `अर-

विन्दतुल्यविषयकम् भानम्' अथवा 'भानविषयोऽरविन्दतुल्य:' — इन दोनों तरह के बोधों में भी 'भान' के समानधर्मरूप में उपस्थित होने होने के कारण उपमा अविधेय ही रहेगी, क्योंकि 'भान' 'तुल्य' पद से बोधित नहीं होता, 'तुल्य' पद 'भान विषय' का बोध कराता है। 'भान' का नहीं। अत: 'अरविन्दतुल्यम्' यही प्रयोग करना होगा। यदि उपमा को सिद्ध करने वाला धर्म 'भाव' से भिन्न 'सौन्दर्य' आदि मान लें, तो अरविन्द तुल्य: प्रयोग हो सकता है, किन्तु तब भी उपमा उद्देश्यतावच्छेदक ही रहेगा।[1]

८. अरविन्दवत् सुन्दरम्

यहाँ तेन तुल्यं क्रिया चेद्वति:। (५।१।११५) पाणिनिसूत्र से 'वति' प्रत्यय हुआ है। इस प्रत्यय का अर्थ यद्यपि 'सादृश्यवत' है तथापि लक्षणा द्वारा उसका अर्थ 'सादृश्य' ही होगा, उसका 'सुन्दर' पदार्थ के एकदेश 'सुन्दरत्व' के साथ अन्वय करने पर 'अरविन्दमिव सुन्दरम्' की भाँति बोध होगा।

'अरविन्दमिव सुन्दरम्' में शक्ति द्वारा और 'अरविन्दवत् सुन्दरम्' में लक्षणा द्वारा सादृश्यप्रतिपादन के कारण पहली श्रौती, किन्तु दूसरी आर्थी है।

श्री पुरुषोत्तम शर्मा चतुर्वेदी के अनुसार 'अरविन्दवत् सुन्दरम्' में आर्थी उपमा नहीं मानी जा सकती, क्योंकि आर्थी वहाँ होती है, जहाँ सादृश्य की विशेषणतया प्रतीति हो, यहाँ 'वति' की 'सादृश्य' में लक्षणा में लक्षणा होने से वह विशेष्यरूप में प्रतीत हो रहा है। यह बात 'निखिलजगन्महनीया' उदाहरण में स्पष्ट है।[2]

---

१. रसगंगाधर—मर्मप्रकाश, पृ० २५१

२. हिन्दी रसगंगाधर—द्वितीय भाग, पृ० १०५-६

नागेश ने यह आपत्ति की है कि 'वति' प्रत्यय क्रिया की तुल्यता में ही होता है अतः 'अरविन्दमिव सुन्दरम्' और 'अरविन्दवत् - सुन्दरम्' का एक शाब्दबोध कैसे हो सकता है ? अतएव महाभाष्यकार ने 'ब्राह्मणवदधीते' में ब्राह्मण पद की 'ब्राह्मणकर्तृकाध्ययन' में लक्षणा की है। 'अरविन्द सुन्दरम्' वाक्य में 'भवति' क्रिया का अध्याहार करना चाहिये तथा 'अरविन्द' पद से 'सुन्दरारविन्दभवन' की लक्षणा होती है और 'सुन्दरारविन्दभवनसदृशं सुन्दरं मुखभवनम्' शाब्दबोध उचित है। 'अरविन्द' तथा 'मुख' की समानता की प्रतीति व्यंजना द्वारा होती है। इसी तरह 'अरविन्दवन्मुखम्' का शाब्दबोध भी 'अरविन्दभवनसदृशं मुखभवनम्' यही उचित है। [१]

९. अरविन्दवन्मुखम्

शाब्दबोध– 'अरविन्दनिरूपितसादृश्यवदभिन्नम्।'

अर्थात् अरविन्दनिरूपित सादृश्यवान् से अभिन्न।

१०. अरविन्दवत्सौन्दर्यमस्य

यहाँ 'अरविन्द' का अर्थ लक्षणा द्वारा 'अरविन्द की सुन्दरता' होता है, 'वति' का अर्थ 'सादृश्य' है उसके साथ सुन्दरता का 'निरूपितता' सम्बन्ध है, तब 'अरविन्दसौन्दर्यनिरूपितं यत्सादृश्यं तदधिकरणम् अस्य सौन्दर्यम्' यह शाब्दबोध होता है। इस प्रकार मुख और अरविन्द के सौन्दर्यों का शाब्द सादृश्यबोध हो जाने पर उन दोनों सौन्दर्यों को अभिन्न मान कर और बाद में उस अभिन्न धर्म को निमित्त मान कर मुख और

---

१. रसगंगाधर, मर्मप्रकाश, पृ० २५१-५२

अरविन्द के सादृश्य का भी मानसबोध हो जाता है ।

नागेश ने यहाँ आपत्ति की कि `वति` प्रत्यय इवार्थ में विहित है, अत: इसका`सादृश्य` अर्थ तो है ही, अब लक्षणा द्वारा इसका` सादृश्य-प्रयोजक` अर्थ करके` अरविन्दसादृश्यप्रयोजकयैतत्सम्बन्धिसौन्दर्यम्` — यह शाब्दबोध हो ही जाता है, फिर`अरविन्द` पद की `अरविन्दसौन्दर्य` में लक्षणा में क्या फल और क्या प्रमाण है ? [१]

किन्तु पं० चतुर्वेदी के अनुसार नागेश की यह आपत्ति आग्रह मात्र है, क्योंकि लक्षणा दोनों मानते हैं, तब पण्डितराज अरविन्द और मुख की सुन्दरताओं की समानता से मुख की समानता कहें, तो कोई आपत्ति नहीं । उपमान और उपमेय की सुन्दरताओं के भिन्न- भिन्न होने से यह कहना उचित भी है ।[२]

११. अरविन्देन तुल्यम्

यहाँ तृतीया का अर्थ `निरूपितता` है, उसका सादृश्य में अन्वय होता है, अत: शाब्दबोधस्वरूप है —

` अरविन्दनिरूपितसादृश्याश्रयाभिन्नम् ।`

अर्थात् अरविन्दनिरूपित सादृश्य के आश्रय से अभिन्न ।

१२. सौन्दर्येण अरविन्देन तुल्यम्

यहाँ `सौन्दर्येण` में तृतीया का अर्थ है`प्रयोजकत्व` । अत:

---

१. रसगंगाधर, गुरुमर्मप्रकाश, पृ० २५२

२. हिन्दी रसगंगाधर, भाग २, पृ० १०७

शाब्दबोधस्वरूप है -

'अरविन्दनिरूपितसौन्दर्यप्रयोज्यसादृश्यवदभिन्नम् ।'

अर्थात् अरविन्दनिरूपितसौन्दर्य के सिद्ध करने वाले सादृश्यवान् से अभिन्न ।

१३. अरविन्दम् आननं च समम्

यहां पहले 'समं' शब्द से अभेदसम्बन्ध द्वारा 'सादृश्यवदभिन्नं कमलं मुखंच' -- यह बोध हो जाने पर बाद में परस्परनिरूपित सादृश्य की अथवा प्रसिद्धनिरूपितसादृश्य की मानसी अथवा वैयञ्जनिक प्रतीति होती है । अर्थात् ऐसे वाक्यों में बारी बारी से दोनों को उपमान और दोनों को उपमेय कहा जा सकता है, क्योंकि इन दोनों में अमरनिरूपितसादृश्य अमुक में ही है --इसका कोई प्रमाण नहीं है । पर यदि सादृश्य का प्रसिद्धवस्तु द्वारा निरूपण अनुभवसिद्ध हो, तो सादृश्य को जो धर्म (सुन्दरता आदि)के लिए प्रसिद्ध हो, उसके ही द्वारा निरूपित समझ लेना चाहिए ।

१४- बिम्बप्रतिबिम्बभावापन्न-

'कोमलातपशोणाभ्रसन्ध्याकालसहोदरः ।
कुङ्कुमालेपनो याति काषायवसनो यतिः ।। '

इत्यादि में शक्ति द्वारा (और 'सहोदर' शब्द में लक्षणा द्वारा) शाब्दबोध होता है -- 'कुंकुमालेपनादिविशिष्टो यतिः कोमलातपादिविशिष्टसन्ध्याकालसहोदरः ।'

इसके पश्चात् सादृश्यप्रयोजक धर्म की आकांक्षा होने पर कुछ 'कोमल' और 'आतप' आदि उपमान और उपमेय के विशेषणों का सादृश्यमूल तादात्म्य मान लिया जाता है, इस प्रकार एकरूप माने गये विशेषण समान-

धर्मरूप बने जाते हैं।

`कुंकुमालेपकाषायवसनाभ्यामयं यति: ।
कोमलातपशोणाभ्रसन्ध्याकालसहोदर: ।।`

इस प्रकार कर दिये जाने पर यद्यपि `कुंकुमालेप` और `काषायवस्त्र` असाधारण होते हैं, अत: साधारण धर्मरूप नहीं सकते, तथापि सन्ध्यासमय और सन्यासी में कल्पनीय सादृश्य की सिद्धि में प्रयोजक बन जाते हैं, क्योंकि `कुंकुम का आलेप` और `काषायवस्त्र` सन्ध्यासमय के धर्मों (कोमलधूप और लालबादल) के साथ अभिन्न मान ली जाय, तो साधारणता का बोध करवा देती हैं। अत: इन धर्मों के सादृश्य की निष्पत्ति में प्रयोजक होने के कारण सादृश्य के साथ `कुंकुमालेप` तथा `काषायवस्त्र` — इन तृतीयान्तपदों का `प्रयोज्यता` सम्बन्ध से अन्वय होता है।

कुंकुमलेप आदि का सहोदर पद के अर्थ सदृश के एकदेश `सादृश्य` अन्वय तो आतिकगतिवश किया जाता है।

सादृश्य को समानधर्मरूप मानने वालों के मत से

शाब्दबोध

सादृश्य को समानधर्मरूप मानने वालों के मत में शाब्दबोध का स्वरूप कुछ भिन्न होता है। उनके मत से जहां समानधर्म धर्म का ग्रहण है, उन वाक्यों (१, २, ५, ८, १०, १२) में भेद होता है। उसमें से भी प्रथम तीन वाक्यों की प्रक्रिया के समान ही अन्तिम तीन वाक्यों की भी प्रक्रिया है। अत: इनतीन वाक्यों की प्रक्रिया द्रष्टव्य है।

१. अरविन्दसुन्दरम्

यहां `अरविन्द` से लक्षणा द्वारा अरविन्दवृत्ति समानधर्म का बोध होता है, उसका अभेदसम्बन्ध से `सुन्दर` पदार्थ के एकदेश `सौन्दर्य` के साथ अन्वय होता है, अत: शाब्दबोध होता है —

'अरविन्दवृत्ति समानधर्माभिन्नसुन्दरत्ववदभिन्नमुखम् ।'

२. अरविन्दमिवसुन्दरम्

इसमें 'अरविन्द' पदार्थ का 'बाध्यता' सम्बन्ध से 'इव ' पदार्थ समान धर्म के साथ अन्वय होता है, अतः शाब्दबोध पूर्ववत् ही होता है। अन्तर यही है कि प्रथम वाक्य में समानधर्म का बोध लक्षणा द्वारा होता है और यहां अभिधा द्वारा, क्योंकि यहां समानधर्म का वाचक 'इव' शब्द है और वहां नहीं ।

३. सौन्दर्येण अरविन्देन समम्

इस वाक्य में 'सौन्दर्येण' की तृतीया विभक्ति का अर्थ 'अभेद' है, 'धान्येन धनी' की भांति । 'अरविन्देन' की तृतीया का अर्थ 'निरूपितता' है, अतः शाब्दबोध है -

' सौन्दर्याभिन्नमरविन्दनिरूपितं यत्सादृश्यं तद्वदभिन्नम् ।'

लुप्तोपमा

समास और तद्धितविषया लुप्तोपमा के शाब्दबोध का विवेचन तो किया जा चुका, किन्तु नामधातु और कृदन्त के 'क्यङ्०' आदि प्रत्ययों के विषय में भी पण्डितराज ने विवेचन किया ।

अरविन्दायते

यहां 'क्यङ्० ' प्रत्यय का अर्थ 'आचार' धर्ममात्र है। उपमान पद 'अरविन्द' से लक्षणा द्वारा उपस्थित 'तत्-उपमान- निरूपितसादृश्य प्रयोजकतासंसर्ग से (सादृश्य को अतिरिक्त पदार्थ मानने वालों के मत से) अथवा अभेद सम्बन्ध से (सादृश्य को समानधर्म मानने वालों के मत से) उस

समानधर्म का विशेषण होता है और उपमेय 'आश्रयता' सम्बन्ध द्वारा विशेष्यहोता है। अत: शाब्दबोध का स्वरूप होता है —

'अरविन्दनिरूपितं यत्सादृश्यं तत्प्रयोजको य
आचार: (मुखवृत्तितद्धर्मरूप:) तदाश्रयो मुखम् ।'
(पदार्थान्तरत्ववादिमते)

'अरविन्दनिरूपितं यत्सादृश्यं, तदभिन्नो य आचारस्तदाश्रयो मुखम् ।'
(समानधर्मत्ववादिमते)

चन्द्रीयति

इसी प्रकार 'क्यच्' प्रत्यय में भी शाब्दबोध होता है, किन्तु 'क्यच' प्रत्ययार्थ आचार केवल समानधर्म रूप में ही नहीं अपितु 'अनुरूप क्रिया' आदि विशेष रूप से प्रतीत होता है —

'चन्द्रनिरूपितसादृश्य प्रयोजक: य आचार: तदनुकूलकृतिमन्मुखम् ।'
(पदार्थान्तरत्ववादिमते)

'चन्द्रनिरूपितसादृश्याभिन्न: य आचारस्तदनुकूलकृतिमन्मुखम् । '
(समानधर्मत्ववादिमते)

'इव' आदि अव्ययों की वाचकता

' इव' आदि अव्यय द्योतक हैं अथवा 'वाचक' इस सम्बन्ध में मतभेद रहा है। वैयाकरण 'इव' आदि को द्योतक ही मानते रहे हैं। भर्तृहरि ने स्पष्ट कहा —

'वादयो न प्रयुज्यन्ते पदत्वे सति केवला: ।
प्रत्ययो वाचकत्वेऽपि केवलो न प्रयुज्यते ।।'

इस प्रकार इस कारिका में पुण्यराज ने [1] कहा — 'एते हि

---

१. वाक्यप्रदीप, २।१९६

चाद्यो केवला न प्रयुज्यन्ते, ततो वाचका न भवन्तीति बोद्धव्यम्।' इसी सरणि में वैयाकरणों ने यह मत स्थिर किया कि जैसे उपसर्गों का स्वयं कोई अर्थ नहीं होता और धातु के अर्थ के द्योतक मात्र होते हैं, वैसे ही 'चादि' गण में 'इव' आदि भी सादृश्य के द्योतक हैं। 'द्योतक' का अर्थ है-- अपने समीपवर्ती किसी अन्य पद से शक्ति अथवा लक्षणा द्वारा (विवक्षानुसार) वैसे अर्थ के समझने के लिए तात्पर्य ज्ञान में उपयोगी होना । अत: 'इव' आदि उपमान शब्द से लक्षणा द्वारा ज्ञात होने वाले 'उपमानके सादृश्य' में वक्ताके ज्ञान का तात्पर्य देने में ही उनका उपयोग है।

नैयायिकों के अनुसार उपसर्गों को तो द्योतक मानना आवश्यक है, अन्यथा 'उपास्यते गुरु:', 'अनुभूयतेसुखम्' इत्यादि प्रयोगों में 'गुरु' आदि शब्द लडादि लकारों से उक्त न हो सकेंगे। क्योंकि उपसर्गरहित 'आस' और 'भू' धातु के अकर्मक होने के कारण 'गुरु' और 'सुख' आदि शब्द इन धातुओं के कर्म नहीं हो सकते। अत: यह मानना आवश्यक है कि 'सेवन' और 'अनुभव' भी 'आस्' और 'भू' धातु के ही अर्थ हैं, उन्हें 'उप' और 'अनु' उपसर्ग द्योतित कर देते हैं। यदि 'गुरु' आदि शब्द धातु के अर्थ से उक्त न होंगे तोउनमें प्रथमाविभक्ति न हो सकेगी। ऐसा होता नहीं, इसलिये उपसर्गों को तो द्योतक मानना आवश्यक है।

गंगेश उपाध्याय ने उपसर्ग को स्पष्टत: द्योतक कहा --

'उपसर्गास्तु द्योतका: न वाचका:। द्योतकत्वंच धातोरर्थविशेषे तात्पर्यग्राहकत्वम् तदुपसन्धानेन तत्र शक्तिवत्ति तु धात्वर्थाभिधायकत्व पौनरुक्त्यापत्ते:।'[1]

---

1. तत्त्वचिन्तामणि, शब्दखण्ड, उपसर्गवाद--पृ० ८५४, पार्ट ४, वैलुम २ विब्लोथिका इण्डिका, एशियाटिकसोसाइटी आफ बंगाल, कलकत्ता, १६०१

किन्तु 'इव' आदि को तो वाचक मानना ही उचित है। यह मानने में कोई बाधा भी नहीं है। 'निपात' होने से ही 'इव' आदि को द्योतक नहीं माना जा सकता, क्योंकि इस तरह तो 'अव्यय होने' को हेतु मान कर सारे अव्यय द्योतक ही माने जा सकते हैं। अत: उपसर्गों को द्योतक और 'इव' आदि को वाचक ही मानना उचित है।

नागेश ने नैयायिकों के इस मत का खंडन करते हुए कहा कि यदि उपसर्गों को ही द्योतक माना जाय और निपातों को नहीं, तो 'साक्षात्क्रियते दयिता' इत्यादि प्रयोगों में 'दयिता' आदि में प्रथमा न हो सकेगी। अव्ययों को द्योतक मानना इसलिए उचित नहीं है, क्योंकि उन्हें द्योतक मान लेने पर 'स्वर' आदि अन्य अव्ययों का स्वतंत्र प्रयोग न हो सकेगा, अत: उपसर्गों तथा निपातों को द्योतक तथा अव्ययों को वाचक मानना ही उचित है।[1]

उपमादोष

आचार्य भामह ने मेधावी द्वारा कथित सात उपमा दोषों का उल्लेख किया है —

> 'हीनतासम्भवौ लिंगवचोभेदौ विपर्ययः।
> उपमानाधिकत्वं च तेनासदृशतापि च ॥
> त एत उपमादोषाः सप्त मेधाविनोदिताः।'[2]

अर्थात् मेधाविकथित उपमादोष सात हैं — हीनता, असंभव लिंगभेद, वचनभेद, विपर्यय, उपमानाधिक्य, असदृशता। वामन ने विपर्यय को छोड़ कर छ: उपमादोष गिनाये —

---

१. रसगंगाधर, मर्मप्रकाश, पृ० — २५५

२. काव्यालंकार — २।३९।४०

`हीनत्वाधिकत्वलिंगवचनभेदासादृश्यासंभवास्तद्दोषा: ।।` [1]

रुद्रट ने केवल चार दोष ही माने — सामान्यशब्दभेद, वैषम्य, असम्भव तथा अप्रसिद्धि । [2] अप्पयदीक्षित ने वामन द्वारा उल्लिखित उपमादोषों को ही माना है ।

पण्डितराज ने उपमा के चमत्कार के अपकर्षक सारे तत्वों को उपमादोष कहा है । उनमें से मुख्य हैं — कविसमयप्रसिद्धिराहित्य, उपमानोपमेय की जाति, प्रमाण, लिंग या संख्या के कारण अननुरूपता, बिम्ब-प्रतिबिम्बभाव में उपमानोपमेयगत धर्मों की न्यूनाधिकता, अनुगामी धर्म में काल पुरुष या विध्यादि के कारण कारण अनुपपद्यमानार्थकता । [3]

पण्डितराज ने इसप्रश्न पर भी अपनी स्पष्ट सम्मति दी है कि धर्म का एक स्थान पर अनुवाद्य होना और दूसरे स्थान पर विधेय होना उपमादोष में परिगणित नहीं है । प्रार्थना आदि धात्वर्थ के विशेषण धर्मवाचक शब्द के प्रतिपाद्य होते हैं, अत: यदि वे, उपमान उपमेय दोनों में घटित न हों, तो धर्म की साधारणता में बाधक होते हैं, किन्तु उद्देश्यता अथवा विधेयता धर्मवाचक शब्द से प्रतिपाद्य नहीं होती, अत: वे धर्म की साधारणता में बाधक नहीं होतीं । इसी तरह `चन्द्रवत् सुन्दरं मुखम्` इत्यादि स्थल में भी `सुन्दरता` उपमान में अनुवाद्य है और उपमेय में विधेय, तथापि धर्म के समान होने में कोई हानि नहीं होती । अत: धर्म की एकत्र अनुवाद्यता और अपरत्र विधेयता को दोष नहीं माना जा सकता । [4]

१: काव्यालंकारसूत्रवृत्ति, ४।२।८

२: काव्यालंकार- रुद्रट, ११।२४

३: रसगंगाधर, पृ० २५५

४: रसगंगाधर, पृ० २५८-५९

ये परिगणित दोष कविसमय सिद्ध होने के कारण या अन्य किसी प्रकार से यदि चमत्कार को कम न करें, तो वे दोषरूप नहीं हो सकते लिंगभेद वचनभेद तथा हीनाधिकता दोषों के बारे में दण्डी ने भी कहा कि यदि ये धीमानों को उद्विग्न न करें, तो दोष नहीं होते ।[१] किन्तु पण्डितराज ने सारे दोषों के सम्बन्ध में यह विमल दृष्टि देकर इस विषय को और भी स्पष्ट कर दिया ।

----

१. न लिङ्गवचने भिन्ने न हीनाधिकते अपि ।
उपमादूषणायालं यत्रोद्वेगो न धीमताम् ॥
—काव्यादर्श – २।५१

उपमेयोपमा

उपमेयोपमा का सर्वप्रथम संकेत भामह में प्राप्त होता है। दण्डी ने इसका परिगणन उपमा के ही एक भेद अनन्योपमा में मान लिया है। उद्भट वामन, रुद्रट, मम्मट तथा रुय्यक आदि सभी आलंकारिकों ने इसे माना है। पंडितराज इसे उपमा का एक भेद मानकर भी इसका अलग से निरूपण करते हैं —

'अथास्या एव भेद उपमेयोपमा निरूप्यते–
तृतीयसदृशव्यवच्छेदबुद्धिफलकवर्णनविषयीभूतं
परस्परमुपमानोपमेयभावमापन्नयोरर्थयोः सादृश्यं
सुन्दरमुपमेयोपमा ।।' [१]

अर्थात् तीसरे सदृशपदार्थ की निवृत्तिका बोध जिसका फल है, उस वर्णन में आने वाला उपमानोपमेयभूत पदार्थों का सुन्दर सादृश्य ही उपमेयोपमा अलंकार है।

उपमेयोपमा का सादृश्य तृतीयसदृशपदार्थ की निवृत्ति का बोध कराने वाले वर्णन का विषय होता है, फलतः 'तडिदिव' तन्वी भवती भवतीव तडिल्लता गौरी' —इस परस्परोपमा में अतिव्याप्ति नहीं होती, क्योंकि यहां 'तानव' और 'गौरिमा' इन दो अनुगामी धर्मों से प्रयोजित उपमाद्वय तृतीय सदृश की निवृत्ति नहीं करती। उपमेयोपमा में एक धर्म से दूसरे सादृश्य निरूपित हो जाने पर उस धर्म द्वारा दूसरे सादृश्य की अर्थतः सिद्धि हो जाती है। ऐसी स्थिति में उसी बात का पुनः कथन अपनी निरर्थकता

---

१. रसगंगाधर, पृ० २४२

के परिहार के लिए तीसरे सदृश की निवृत्ति आक्षिप्त कर लेता है। इस तरह एक समानधर्म वाली परस्पर उपमा में तीसरे सदृश का व्यवच्छेद हो जाता है। किन्तु उल्लिखित उदाहरण में `तनुता` समान धर्म द्वारा बिजली से कामिनी का सादृश्य निरूपित हो जाने पर यद्यपि उसी समान धर्म द्वारा कामिनी से बिजली का सादृश्य भी अर्थात: सिद्ध हो जाता है, तथापि `गौरिमा` समान धर्म द्वारा कामिनी से बिजली का सादृश्य सिद्ध नहीं हो पाता। ऐसी स्थिति में सादृश्य को दुहराने का फल उन्हीं उपमानोपमेयों का अन्य समानधर्म द्वारा सादृश्य होता है, न कि तृतीय सदृश पदार्थ की निवृत्ति। उपमेयोपमा का सादृश्य `परस्पर उपमान उपमेय बने पदार्थों का` सादृश्य होना चाहिए, फलत:

` सादृशी तव तन्वि निर्मिता विधिना नेति समस्तसंमतम्।
अथ चेन्निपुणं विभाव्यते मतिमारोहति कौमुदी मनाक्।।`

ओ तन्वि, तुम्हारे जैसी विधाता ने दूसरी नहीं बनायी—यह सर्वसम्मत बात है, किन्तु यदि बहुत सावधान हो देखें, तो चांदनी कुछ-कुछ बुद्धि में आती है।

इस उपमा में उपमेयोपमा की अतिव्याप्ति नहीं होती।

पण्डितराज ने प्राचीन लक्षणों की आलोचना करते हुए, सर्वप्रथम अप्पयदीक्षित पर ही आक्रमण किया, क्योंकि स्वयम् अप्पय ने प्राचीनों का खण्डन कर अपना लक्षण किया—

अन्योन्येनोपमा बोध्या व्यक्त्या वृत्त्यन्तरेण वा।
एक धर्माश्रया या स्यात्सोपमेयोपमा स्मृता।।` [१]

परस्पर की प्रतियोगिता सहित जो उपमा व्यंजना या अन्य वृत्ति (अभिधा) द्वारा ज्ञात होती है दो और जो एक धर्म द्वारा सिद्ध

---

१. रसगंगाधर, पृ० २६२

होती हो, उस उपमा को उपमेयोपमा माना जाता है।

यहाँ `अन्योन्येन` विशेषण द्वारा दीक्षित ने `इदं तच्च रूपम्` इस उभयविश्रान्त उपमा का वारण किया, क्योंकि यहाँ परस्पर प्रतियोगिकता व्यंजनाव्यापारमात्रगम्य है और उपमाशक्तिवेद्य है, अत: परस्पर निरपेक्ष एक व्यापार से परस्परप्रतियोगिकताविशिष्ट उसका बोध नहीं होता। `एक धर्माश्रया` विशेषण से परस्परोपमा का वारण होता है और `व्यक्त्या` विशेषण द्वारा व्यंग्य उपमेयोपमा का भी संग्रह होता है।

फिर भी -

अहं लतायाः सदृशीत्यखर्वं गौरांगि गर्वं न कदापि यायाः।
गवेषणीनालमिहापरेषामेषापि तुल्या तव तावदस्ति ।।"

ओ गौरांगि, " मैं लता सरीखी हूँ" -यह गर्व तुम कभी न करना, दूसरों को ढूंढने की आवश्यकता नहीं, पहले तो यही तुम सरीखी है।

इस श्लोक में परस्परप्रतियोगिकत्वविशिष्ट `तनुता` आदि एकधर्माश्रय उपमा अभिधारूपी एक वृत्ति से बोधित होती है, अत: यहाँ भी उपमेयोपमा की आपत्ति होती है। यहाँ उपमा की परस्पर प्रतियोगिता का अस्वीकार नहीं किया जा सकता, क्योंकि तब `मुखस्य सदृशश्चन्द्रः चन्द्रस्य सदृशं मुखम्` में उपमेयोपमा की अव्याप्ति हो जायगी। यहाँ उपमेयोपमा को स्वीकार भी नहीं किया जा सकता, क्योंकि उपमेयोपमा में तृतीय सदृश की निवृत्ति प्रतिपादित होती है और विवेच्य श्लोक का तात्पर्य `गर्व निरास मात्र है। लक्षण में यदि `तृतीयसदृशव्यवच्छेदकत्व` विशेषण का सन्निवेश कर दें, तो और विशेषण व्यर्थ हो जायेगा। इसी तरह अप्पयदीक्षित के लक्षण में `एकवृत्तिमात्रवेद्य` कथन भी अयुक्त ही है, क्योंकि `खमिव जलं जलमिव खम्` इत्यादि में आकाश और जल के सादृश्य के साथ अन्वय में प्रतियोगित्व संसर्गरूप, अत: वृत्तिप्रतिपादित नहीं है। यह नियम है कि वृत्तिवेद्य पदार्थों का

संसर्ग वृत्तिवेद्य नहीं होता, अत: तब तो अप्पय का नियम `जमिव जलम् जलमिव-जम्` इस उपमेयोपमा में लगेगा ही नहीं । [१] नागेश ने एक वृत्ति से बोधित होने से तात्पर्य `वृत्तिद्वयवेद्यत्वाभाव` या `तज्जन्यप्रतीति में कथाकथंचित्` भासमानता लिया है । [२] अत: प्रकृत `जमिव जलम् जलमिव जम् इत्यादि में कोई दोष नहीं है । तब भी दीक्षित के लक्षण में पूर्वप्रतिपादित दोष तो रह ही जाते हैं ।

अलंकारसर्वस्वकार ने लक्षण किया —
`द्वयो: पर्यायेण तस्मिन्नुपमेयोपमा ।।` [३]

इस लक्षण में पण्डितराज ने —(१) अनन्वय के निवारण के लिए `द्वयो :` पद के सन्निवेश को अनावश्यक माना (२)`अर्ह लताया:` इत्यादि पद्यों में इस लक्षण की अतिव्याप्ति मानी । (३) `रथोनि: स्यन्दनौ-ढलैर्गजैश्च गजसन्निभै: । भुवस्तलमिव व्योम कुर्वन् व्योमेव भूतलम् ।।`

अर्थात् रथों से उड़ी धूलि से आकाश को भूतल सा और मेघों को गजों के समान बनाते (रघु दिग्विजय के लिये चले) ।

इस परस्परोपमा के उदाहरण में भी अतिव्याप्ति हो जायगी । यहां `विमर्शिनी` कार ने परस्पर के अतिरिक्त अन्य उपमान का निवारण मान कर उपमेयोपमा मानी, यह ठीक नहीं है, क्योंकि अन्य उपमान का निवारण तभी होता है जब दोनों उपमाओं में एक धर्म हो । अत: अलंकार-

---

१. रसगंगाधर, पृ० २६५-२६७

२. मर्मप्रकाश—रसगंगाधर, पृ० २६७

३. अलंकारसर्वस्व, पृ० ३८

सर्वस्वकार का लक्षण भी ठीक नहीं है। विश्वेश्वर पण्डित ने पण्डितराज और अप्पयदीक्षित के इस मत का विरोध किया —

"यत्तु चित्रमीमांसारसगंगाधरकाराद्य: —
नात्रोपमानान्तर तिरस्कार: तदुक्तम् , रजसां मेघतुल्यगजानां च बिम्बभावविवक्षायां बाधकाभावात् ।"[1]

अलंकाररत्नाकरकार ने 'परस्परमुपमानोपमेयत्वमुपमेयोपमा' लक्षण बनाकर 'सविता विधिवति' इत्यादि श्लोक को उदाहरण में दिया, और यहाँ परस्परउपमानोपमेयत्व को अन्य उपमान का निषेध रूप माना, किन्तु इस श्लोक से अन्य उपमान की निषेध प्रतीति नहीं होती।

पण्डितराज ने प्रथम तथा द्वितीय उपमा होने वाले वाक्यभेद शाब्द और अर्थ के आधार पर उपमेयोपमा के भेद स्वीकार किये। फिर धर्मों की अनुगामिता, बिम्बप्रतिबिम्बभावापन्नता, उपचरितता तथा शाब्दता के आधार पर भी भेद स्वीकार किये। उपमा के ही समान पूर्णा, लुप्ता आदि भेद भी पंडितराज ने स्वीकार किये।

अन्य अलंकारों की ही भाँति उपमेयोपमा भी जब किसी अन्य अर्थ की उत्कर्षाधायिका होती है, तभी अलंकार कहलाती है, अन्यथा इसकी परिणति अपने वैचित्र्यमात्र में हो जाती है। वाच्य उपमेयोपमा के अतिरिक्त व्यंग्य उपमेयोपमा भी होती है।

उपमा के दोष उपमेयोपमा भी होते हैं। इनके अतिरिक्त उपमेयोपमा में एक और दोष भी होता है — एक उपमा से दूसरी की

---

१. रसगंगाधर, पृ० २७०

विलक्षणता क[1] जिस तरह से पहली उपमा प्रयुक्त होती है, उसी तरह से ही दूसरी भी प्रयुक्त होनी चाहिए, अन्यथा उपर्युक्त दोष पड़ता है।

-----

१. रसगंगाधर, पृ० २७०

अनन्वय

अनन्वय का भरत ने पृथक उल्लेख नहीं किया, किन्तु उनकी `सदृशी उपमा` में इसका संकेत है । भामह ने इसे पृथक् अलंकार माना । दण्डी ने इसका अन्तर्भाव उपमा के ही एक भेद असाधारणोपमा में कर दिया । उद्भट ने इसे स्वतंत्र अलंकार के रूप में प्रस्तुत किया । रुद्रट ने पुन: इसे उपमा का ही भेद बताया । मम्मट ने इसे स्वतंत्र अलंकार मान कर परिभाषित किया —

" उपमानोपमेयत्वे एकस्यैवैकवाक्यगो अनन्वय: " [1]

रुय्यक ने इसकी परिभाषा " एकस्यैवोपमानोपमेयत्वेऽनन्वय: " कह कर की[2]। अप्पय दीक्षित ने इस प्रकार के लक्षण का खंडन किया और अपना लक्षण प्रस्तुत किया । [3] पण्डितराज ने लक्षण किया —

" द्वितीयसदृशव्यवच्छेदकफलकवर्णनविषयीभूतं
यदेकोपमानोपमेयकं सादृश्यं तदनन्वय: ।"

अर्थात् दूसरे सदृश का निवारण जिसका फल हो उस वर्णन में आने वाला और एक ही उपमान-उपमेय वाला सादृश्य अनन्वय कहलाता है ।

इसमें `द्वितीयसदृशव्यवच्छेदकफलकवर्णनविषयीभूत` पद रख पण्डितराज ने अनन्वयगत सादृश्य का स्वरूप स्पष्ट कर दिया । कल्पितोपमा में अतिव्याप्ति वारण के लिए `एकोपमानोपमेयक` पद का सन्निवेश किया ।

---

१. काव्यप्रकाश, पृ० ५८१

२. अलंकारसर्वस्व — ३७

३. चित्रमीमांसा — पृ० १४७-४८

४. रसगंगाधर, पृ० ३००

पण्डितराज ने उदाहरण में गंगालहरी का श्लोक प्रस्तुत किया —

> कृतक्षुद्राघौघानथ सपदि संतप्तमनसः ,
> समुद्धर्तुं सन्ति त्रिभुवनतले तीर्थनिवहाः ।
> अपि प्रायश्चित्तप्रसरणपथातीतचरितान्
> नरानूरीकर्तुं त्वमिव जननि त्वं विजयसे ।।

ओ मां, छोटे-मोटे पाप करने वाले संतप्तमानस लोगों का उद्धार करने के लिये तो संसार में अनेक तीर्थ हैं किन्तु प्रायश्चित के पथ की सीमा लांघ जाने वाले पाप करने वालों को अंगीकार करने में तुम सरीखी तुम्हीं उत्कृष्ट हो ।

यहां 'त्वम' ही उपमेय और उपमान है । उसके द्वारा कोई भी तीर्थ उसकी समता नहीं करता यह द्वितीय सब्रह्मचारिव्यवच्छेद प्रतीत होता है ।

अनन्वय भी उपमा की तरह कई प्रकार का होता है । उपमा की ही भांति पूर्ण और लुप्त । उसी तरह पूर्ण छः प्रकार का होता । लुप्त में प्रकार गिनाये गये —श्रौत वाक्यगत, अर्थ धर्मलुप्त के वाक्यगत, श्रौत समासगत, आर्थसमासगत, तथा आर्थ तद्धितगत । पण्डितराज ने अनन्वय में उपमानलुप्त आदि अन्य भेदों को असम्भव और अहृद्य मानकर उनके भेद प्रपंच का समर्थन नहीं किया ।

अलंकाररत्नाकरकार शोभाकरमित्र ने अनन्वय के तीन प्रकार बताये —

(१) जहां उपमेय ही उपमान रूप में कल्पित हो ।
(२) उपमेय के एकदेश के विषय में उसके उसी प्रकार के एकदेश की उपमानता कल्पित की जाय ।
(३) उपमेय के ही प्रतिबिम्ब आदि का वर्णन कर उनके भेद द्वारा उन्हें उपमान बना जाय ।[1]

---

१. अलंकाररत्नाकर, पृ० १०

पण्डितराज ने इस मान्यता का विरोध किया । उन्होंने कहा कि यदि अन्य उपमान की अभावप्रतीतिमात्र से अनन्वय होने लगे, तो 'स्तना-भोगे पतन्भाति' इत्यादि में भी अतिव्याप्ति हो जायगी । इसी प्रकार 'यथर्थोक्ति' वाली अतिशयोक्ति में भी अनन्वय की अतिव्याप्ति होगी । 'एतावति प्रपंचे' और 'गन्धेन सिन्धुरधुरन्धर' इत्यादि श्लोकों में वामार्ध और दक्षिणार्ध को उपमान और उपमेय को उपमानोपमेय नहीं बनाया जा सकता, क्योंकि वे भिन्न-भिन्न हैं । यह तर्क व्यर्थ है यहां नायिका के शरीर के एक भाग और गणेश के प्रतिबिम्ब द्वारा कवि का विवक्षित द्वितीय सब्रह्मचारिका निषेध है, अत: यहां अनन्वयत्व घटित हो जायगा, क्योंकि अनन्वय की व्युत्पत्ति ही है जहां अनन्वय न हो सके, अत: जहां एकदेश या प्रतिबिम्ब द्वारा तुलना की जाती है, वहां अनन्वय का अर्थ ही ठीक नहीं बैठता । साथ ही 'गगनं गगनाकारम्' की भांति उपमेय की निरुपमेयता 'एतावति प्रपंचे' इत्यादि में सिद्ध नहीं होती ।[१]

शोभाकरमित्र के उपर्युक्त दो उदाहरणों में जयरथ ने अनन्वय-ध्वनि मान ली थी (अलंकारसर्वस्वकार ने नहीं, जैसा कि पण्डितराज ने उल्लेख किया है) किन्तु पण्डितराज ने इसका भी खंडन किया । प्रकृत श्लोकों में उपमाननिषेध के व्यंग्य होने पर भी अभिन्नोपमानोपमेयसादृश्य का तो स्वरूपत: अभाव ही है । ऐसा कोई नियम नहीं है कि सभी अनुपमता की प्रतीति के पूर्व अभिन्नोपमानोपमेयसादृश्य की प्रतीति हो, अन्यथा कल्पितोपमा, अतिश-योक्ति और असम की ध्वनियों में व्यभिचार होगा वहां अनुपमता प्रतीत होती है, पर वैसा सादृश्य नहीं ।[२]

---

१. रसगंगाधर, पृ० २७३--२७५

२. ,, पृ० २७५

अनन्वय ध्वनि वहीं होगी जहां एकदेश या प्रतिबिम्बादि से भी तुलना न की जाय ।

पण्डितराज ने अप्पयदीक्षित द्वारा प्रस्तुत अनन्वयध्वनि के उदाहरण में अनन्वयध्वनि का खण्डन किया है । उदाहरण है :-

"अद्य या मम गोविन्द प्रीतिस्त्वयि गृहागते ।
कालेनैषा भवेत्प्रीतिस्तवैवागमनात्पुन: ।।"

अर्थात् हे गोविन्द , आज आपके मेरे घर पधारने पर जो प्रसन्नता हुई है, वह प्रसन्नता, जब आप ही फिर पधारेंगे , तो पुन: मिल सकती है । यहां "त्वदागमनप्रभवप्रीते: सैव सदृशी न त्वितरप्रभवा" -यह व्यंग्य नहीं है, अपितु "अतुल्यास्त्वदागमनप्रभवाया: प्रीते र्वारान्तरत्वदागमनप्रभवा प्रीति: सदृशी" यही व्यंग्य प्रतीत होता है ।[1]

इस प्रकार पण्डितराज ने अनन्वय स्वरूप, प्रकार और अनन्वय-ध्वनि के सम्बन्ध में मान्यताओं की व्याख्या कर स्वयं अनन्वय और उसकी ध्वनि के उदाहरण प्रस्तुत किये ।

----

१. रसगंगाधर, पृ० २७६

असम

शोभाकर मित्र ने सर्वप्रथम असम अलंकार का वर्णन किया है। पण्डितराज ने असम को परिभाषित करते हुए कहा—

"सर्वथैवोपमानिषेधो समाख्यालंकार।"

जहां उपमेय का वर्णन करते समय उसके उपमान का सर्वथा निषेध वाच्य रूप में किया जाए वहां असम अलंकार होता है।

पण्डितराज ने बताया कि असम अलंकार की व्यंजना तो अनन्वय में भी पाई जाती है। अत: वहां इसे उसी तरह पृथक् अलंकार नहीं माना जा सकता जैसे रूपक, दीपक आदि अन्य साधर्म्यमूलक अलंकारों में उपमा के व्यंग्य होते हुए भी उन्हें उपमा नहीं माना जाता। किन्तु जहां उपमा का निषेध वाच्य रूप में स्वतंत्र रूप से चमत्कारी हो वहां उसे पृथक् अलंकार मानना ही चाहिए। [1] शोभाकर मित्र ने बताया कि उपमान लुप्ता उपमा तथा असम में यह भेद है कि समानधर्म आदि वाले संभाव्य मान उपमान के होते हुए भी जहां उसका संकेत नहीं किया जाता वहां उपमान लुप्ता उपमा होती है। किन्तु असम में उपमान संभव ही नहीं होता।

ढुढुण्णंत मरीहिसि कंटअकलिआइं केअवणाइं।
मालइ कुसुमसरिच्छं भमर भमंतो न पाविहिसि॥

ओ भ्रमर तू कांटों से घिरी केतकी के जंगलों में ढूंढता-ढूंढता ही मर जायेगा, किन्तु मालती कुसुम-सा न पा सकेगा।

यहां पर शोभाकर ने असम अलंकार माना है। उनके अनुसार

---

1. रसगंगाधर, पृ० २७५

यहां उपमान का असंभव ही उपनिबद्ध है अत: इसे उपमानलुप्ता उपमा कह ही नहीं सकते यह असम है। किन्तु पण्डितराज ने इसका खण्डन किया। वे यहां य लुप्तोपमा ही मानते हैं, असम नहीं। कवि यहां यही कहता है कि — ओ भ्रमर मालती कुसुम सरीखा ढूंढने पर भी तुम न पाओगे। इसका अर्थ यही है कि उसके समान पदार्थ कहीं न कहीं होगा तुम्हारे लिए तो दुष्प्राप्य ही है। यहां उपमान का सर्वथा निषेध नहीं प्रतीत होता इसलिए यहां उपमान-लुप्ता ही होगी, असम अलंकार नहीं। अगर असम अलंकार होता तो कवि यह कहता — "मालती कुसुम के समान पदार्थ है ही नहीं।"[1]

पण्डितराज ने यहां एक प्रश्न उठाकर समाहित किया है कि अनन्वय अलंकार में चमत्कार जनक अंश उपमान के निषेध की प्रतीति ही है। उपमान के निषेध का ही नाम असमालंकार है अत: यह स्पष्ट है कि असम अलंकार के ध्वनित करने में ही अनन्वय की चमत्कारिता है। इसलिए अनन्वय के वर्णन को असमालंकार ध्वनित करने वाली वस्तु के रूप में ही मान लेना चाहिए, उसे पृथक अलंकार मानने की क्या आवश्यकता है। पण्डितराज ने इसका उत्तर दिया है कि दीपक आदि अलंकारों में भी उपमा की अभिव्यक्ति से ही चमत्कारिता आती है किन्तु उन्हें भी पृथक् अलंकार माना जाता है उसी तरह व अनन्वय को भी पृथक् अलंकार मानेंगे।

यदि यह आपत्ति की जाए कि दीपक आदि में उपमा व्यंग्य होने पर भी गुणीभूत होती है इसलिए उसे तो अलंकार कह सकते हैं किन्तु अनन्वय में तो व्यंग्य असम ही प्रधान होता है अत: उसे अलंकार कैसे कहा जा सकता है? तो इसका उत्तर पण्डितराज ने यह दिया — कि अनन्वय को उसी प्रकार ध्वनिकाव्य और अलंकार कह सकते हैं जैसा कि सादृश्यमूलक अप्रस्तुतप्रशंसा और पर्यायोक्त के सम्बन्ध में किया जाता है। ध्वनिकार आनन्दवर्धन ने

१, रसगंगाधर, पृ० २७६

स्पष्ट कहा है कि जब अप्रस्तुतप्रशंसा में सादृश्य के कारण ही अप्रकृत और प्रकृत का सम्बन्ध होता है तब यदि समान रूप वाले वाच्य प्रस्तुत की प्रधान रूप में विवक्षा न हो तो उसका ध्वनि में अन्तर्भाव हो जाएगा। अभिनवगुप्त ने भी इस बात का समर्थन किया है।[१] पण्डितराज की दृष्टि स्पष्ट है कि जिस अंश में अप्रस्तुत प्रशंसा का उपर्युक्त स्थल वस्तुत: ध्वनि होते हुए भी अलंकार रूप में व्यवहृत होता है उसी अंश में अनन्वय को भी अलंकार कह सकते हैं।

प्राचीन आचार्य असम को भिन्न अलंकार नहीं मानते। उनकी दृष्टि में उपमा के निषेध से उपमेय का उत्कर्ष सिद्ध होता है और यह व्यतिरेक अलंकार का विषय है अत: असम को व्यतिरेक के अन्तर्गत ही मानना चाहिए। किन्तु यह ठीक नहीं क्योंकि व्यतिरेक में साधर्म्य रहता है किन्तु असम में साधर्म्य का लेश भी नहीं होता।

यह असम अलंकार कहीं उपमान के निषेध से होता है और कहीं साक्षात् अलंकार उपमा के निषेध से। इसी प्रकार पूर्ण और लुप्त होने के कारण असम के और भेदों की भी यथासंभव तर्कणा के लिए पण्डित-राज ने दिङ्० निर्देश कर दिया है। पण्डितराज ने असमध्वनि का भी निर्देश किया है।

---

१. ध्वन्यालोक--पृ० २२७-२३० (कुप्पुस्वामी शास्त्री द्वारा सम्पादित)

उदाहरण

उदाहरण का भी उल्लेख शोभाकर ने किया है। उन्होंने इसकी परिभाषा की — "सामान्योद्दिष्टानामेकस्यनिदर्शनमुदाहरण।"[१] पण्डितराज ने इसकी परिभाषा की —

"सामान्येननिरूपितस्यार्थस्यसुखप्रतिपत्तये तदेकदेशं निरूप्यतयोरवयवावयविभाव उच्यमान उदाहरणं।"[२]

सामान्य रूप से एकदेश निरूपित अर्थ का सरलता से बोध होने के लिए, उसके एकदेश का निरूपण करके, सामान्य पदार्थ और उसके एकदेश का, शब्द से उक्त अवयवावयविभाव उदाहरण कहलाता है।

पण्डितराज ने यह स्पष्ट कर दिया कि सामान्य के द्वारा विशेष का समर्थन करने पर अर्थान्तरन्यास अलंकार होता है किन्तु जहाँ `इव` आदि वाचक शब्दों का प्रयोग कर विशेष के द्वारा सामान्य की उक्ति का समर्थन हो वहाँ उदाहरण अलंकार होता है। वाक्यों में `वा`, `इव`, `यथा`, `निदर्शन`, और `दृष्टान्त` आदि शब्दों से अवयवावयविभाव की उक्ति होती है। ये शब्द सादृश्य के तो वाचक हैं किन्तु लक्षणा के द्वारा `इव` आदि से जैसे संभावना का बोध होता है वैसे अवयवाविभाव का बोध भी होगा।[३] इस अलंकार में जब `इव` आदि शब्दों का प्रयोग होता है तब सामान्य पदार्थ की प्रधानता होती है और एकवाक्य होता है जब

---

१. अलंकार रत्नाकर, सूत्र,१२

२. रसगंगाधर, पृ० २८१

३. रसगंगाधर, पृ० २८२

निदर्शन आदि शब्दों का प्रयोग होता है तब विशेष पदार्थ की प्रधानता होती है और दो वाक्य होता हैं।

अर्थान्तरन्यास से यह अलंकार इस अंश में भी अलग है कि इसमें सामान्य और विशेष दोनों ही पदार्थों का एक ही विधेय में अन्वय होता है किन्तु अर्थान्तरन्यास में ऐसा नहीं होता है। [१]

पण्डितराज ने अप्पयदीक्षित द्वारा प्रतिपादित विकस्वर[२] अलंकार का खण्डन करने के लिए एक श्लोक को उद्धृत कर यह स्पष्ट कर दिया कि ऐसे स्थलों पर अर्थान्तरन्यास को स्पष्टीकरण द्वारा अलंकृत करता हुआ उदाहरणालंकार प्रयुक्त होता है। अप्पयदीक्षित द्वारा उद्धृत कालिदास के श्लोक –

"अनन्तरत्नप्रभवस्ययस्य" [३]

इत्यादि में यही सरणि पण्डितराज ने प्रदर्शित कर विकस्वर अलंकार का खण्डन कर दिया।

उदाहरण का पृथक् विवेचन करते हुए भी पण्डितराज ने प्राचीन आचार्यों के इस मत का आदर किया है कि वस्तुत: यह अलंकार उपमा से ही गतार्थ हो जाता है। यह नहीं कहा जा सकता कि जब सामान्य और विशेष में तो अभेद सम्बन्ध होता है, भेद विशिष्ट सादृश्य तो होता नहीं फिर यहां उपमा कैसे होगी, क्योंकि यह नियम है कि कोई सामान्य बिना विशेष के नहीं होता अत: यह मानना पड़ेगा कि प्रकृति - सामान्य

---

१. रसगंगाधर, पृ० २८५

२. कुवलयानन्द, पृ० २०८

३. कुमारसंभव, – १।३

के गर्भ में कोई न कोई विशेष अवश्य रहती है, उस विशेष को लेकर अन्य विशेष के साथ विशेषरूप में पर्यवसन्न सामान्य का सादृश्य हो सकता है। इसलिए यह मानना ही उचित है कि 'इव' आदि शब्दों से प्रथमत: सामान्य-विशेष भाव की प्रतीति होने पर भी वह सामान्य विशेष भाव अन्तत: दो विशेषों के सादृश्य में ही परिणत होता है।

स्मरण

स्मरण अलंकार की उद्भावना रुद्रट ने की ।[१] मम्मट ने भी स्मरण अलंकार का उपस्थापन भेदाभेदप्रधान अलंकार में किया ।[२] रुय्यक ने इसकी परिभाषा की -- 'सदृशानुभवात् वस्त्वन्तरस्मृति: स्मरणं उच्यते ।[३] इसी परिभाषा से मिलती-जुलती परिभाषाएं शोभाकर,[४] विश्वनाथ,[५] विद्याधर,[६] विद्यानाथ[७] ने लिखी । इन समस्त परिभाषाओं में सदृशानुभव को ही स्मरण अलंकार का बीज मात्र माना गया है । पण्डितराज ने इसका खण्डन करते हुए बताया कि स्मरणालंकार का बीज सदृशानुभव नहीं अपितु सादृश्य का ज्ञान है उन्होंने परिभाषा की --

" सादृश्यज्ञानोद्बुद्ध संस्कारप्रयोज्यं स्मरणालंकार: " ।[८]

अर्थात्

"सादृश्यज्ञान द्वारा उद्बुद्ध संस्कार से प्रयोज्य स्मरण को स्मरणालंकार कहते हैं ।" पण्डितराज ने --

---

१. काव्यालंकार, ८।१०९
२. काव्यप्रका, पृ० ५६३
३. अलंकार सर्वस्व, पृ० ४०
४. अलंकार रत्नाकर, पृ० २२, ९
५. साहित्य दर्पण, पृ० ६२६
६. एकावली, पृ० २१०
७. प्रतापरुद्रीय, पृ० ३७०
८. रसगंगाधर, पृ० २८६

एकीभवत्प्रलयकाल पयो विकल्प

मालोक्य संगरगत कुरुराजसैन्यं ।

सस्मारतल्पमहिपुंगवकायकान्त

निद्रांचयोगकलितां भगवान्मुकुन्द: ।।

विग्रह एक होते हुए भी प्रलय के समुद्र के समान् युद्ध में आयी कुरुराज दुर्योधन की सेनादेखकर भगवान् कृष्णा को सर्पराज शेष के शरीर की शय्या का और योगनिद्रा का स्मरण हो आया ।

इस श्लोक में यद्यपि तल्प और निद्रा का स्मरण उनके सादृश्य देखने से उद्बुद्ध संस्कार के फलस्वरूप नहीं होता तथापि सेना में समुद्र कासादृश्य देखने के कारण समुद्र का संस्कार उद्बुद्ध होता है फलस्वरूप समुद्र का स्मरण होता है और उस स्मरण के अधीन है तल्प और निद्रा का स्मरण । इस प्रकार परम्परयातल्प और निद्रा का स्मरण भी उद्बुद्ध संस्कार के ही फल-स्वरूप होता है इसलिए यहां लक्षण के प्रयुक्त होने में कोई कठिनाई नहीं है क्योंकि लक्षण में यह विवक्षित नहीं है कि सादृश्य, जिसका स्मरण हो उसका सम्बन्धी होना चाहिए बल्कि यह अभीष्ट है कि सादृश्य चाहे किसी से सम्बन्ध रखे किन्तु वह सादृश्य द्वारा साक्षात् अथवा परम्परा उद्बुद्ध संस्कार के फल-स्वरूप होना चाहिए । पण्डितराज ने कुछ लोगों के मत का स्मरण किया है जिनके अनुसार सादृश्य के ज्ञान से उत्पन्न संस्कार से जनित और सदृश विषयक ही स्मरण अलंकार रूप होता है और इसलिए उपर्युक्त श्लोक में भुजगेन्द्र शेष और निद्रा का स्मरण अलंकार रूप नहीं है । किन्तु नागेश भट्ट ने इस मत के प्रति पण्डितराज की अरुचि को स्पष्ट कर दिया है । इस मत में पूर्व लक्षण के प्रयोज्य पद के स्थान पर `जन्य` पद तथा `सादृश्यविषयकमेव` इतना अति-रिक्त सन्निवेश किया गया है । पूर्वोद्धृत पद्य में शेष शय्या और निद्रा का स्मरण यद्यपि समुद्र के स्मरण से उत्पन्न होता है तथापि सदृश के विषय में नहीं है अत: ऐसे स्मरण को अलंकार नहीं कहा जा सकता । किन्तु इस दशा में `सदृशविषयकमेव` -इस अंश का लक्षण में सन्निवेश व्यर्थ है क्योंकि सदृश के ज्ञान से उद्बुद्ध संस्कार द्वारा उत्पन्न स्मरण असदृश के बारे में नहीं होता

और दूसरे समुद्र का स्मरण तो सदृश का ज्ञान है ही क्योंकि स्मरण ज्ञान रूप ही है। समुद्र सेना के समान है। इस समुद्र के स्मरण के द्वारा शय्या आदि के स्मरण के अनुकूल संस्कार का उद्बोधन होता ही है अत: तल्प आदि का स्मरण भी सादृश्यज्ञान से उद्भूत संस्कार द्वारा जनित ही सिद्ध हो जाता है अत: `केचित्` का प्रयत्न व्यर्थ ही है।[१]

अप्पय दीक्षित का लक्षण है --

" स्मृतिसादृश्यमूलाया वस्त्वन्तरसमाश्रया।
स्मरणालंकृतिस्सा स्यादव्यंग्यत्व विशेषिता।।"[२]

अर्थात् `सादृश्यमूलक`, भिन्नवस्तुसमाश्रिता अव्यंग्य स्मृति स्मरणालंकार होता है। इस लक्षण में वस्त्वन्तर शब्द का प्रयोग इसलिए किया गया है कि स्मरणालंकार सदृश वस्तु तथा सदृश वस्तु सम्बन्धी वस्तु दोनों के स्मरण में होता है अत सदृश वस्तु सम्बन्धी वस्तु का संग्रह करने के लिए वस्त्वन्तर के साथ सदृशविशेषण नहीं लगाया गया। साथ ही व्यंग्य रूप स्मृति के वारण के लिए `अव्यंग्यत्व विशेषिता` विशेषण दिया गया है।

पण्डितराज इन दोनों विशेषणों को व्यर्थ समझते हैं। पहला विशेषण इसलिए व्यर्थ है कि `सादृश्यमूलस्मृति : स्मरणालंकार:` --इतने लक्षण से ही दीक्षित को अभिमत, दोनों वस्तुओं का ग्रहण हो जाता है।` अव्यंग्यत्वविशेषिता` विशेषण भी व्यर्थ है क्योंकि व्यंग्य भी गुणीभूत होने पर अलंकार बनते ही हैं अत: स्मृति भी जहाँ रसादि की उपस्कारिता होगी वहाँ अलंकार बन ही जाएगी। जहाँ केवल स्मृति होती है और उसकी

---

१. रसगंगाधर, -- मर्मप्रकाश, पृ० २८७-२८८

२. चित्रमीमांसा--पृ० १५६

३. रसगंगाधर, पृ० २६०-२६१

प्रयोजक रूप में कोई सदृश वस्तु नहीं होती वहां स्मरणालंकार न होकर स्मृति नामक संचारीभाव हो सकता है।[१] इसी बात को अलंकारसर्वस्वकार ने —

"अत्रानुगोदं मृगयानिवृत्तस्तरंगवातेन विनीतखेदः
रहस्त्वदुत्संग निषण्णमूर्धा स्मरामि वानीरगृहेषु सुप्तः ।।

अर्थात् यहां गोदावरी के किनारे-किनारे मृगया से लौटकर तरंगों से लग कर आती वायु से श्रान्ति रहित हुआ मैं वेतसनिकुंजों में तुम्हारी गोद में सिर रख कर सोता था—यह याद कर रहा हूं।

यहां स्मृति भाव मान कर स्पष्ट किया है।[२]

पण्डितराज ने अलंकारसर्वस्वकार के लक्षण में सदृशानुभव को स्मरण का बीज मानने का खण्डन किया है क्योंकि ऐसा मानने पर ऐसे स्थलों पर जहां सदृश स्मरण से उत्पन्न संस्कार से भी स्मरण होता है वहां स्मरणालंकार न हो सकेगा क्योंकि सदृश स्मरण से उत्पन्न संस्कार तो सदृशानुभव कहला नहीं सकता। रुय्यक का लक्षण मानने पर निम्नलिखित श्लोक में स्मरणालंकार हो ही नहीं सकेगा —

"सन्त्येवास्मिन् जगति बहवः पक्षिणो रम्यरूपा
स्तेषां मध्ये मम तु महती वासना चातकेषु ।
यैरध्यक्षैरथ निजसखं नीरदं स्मारयद्भिः
स्मृत्यारूढं भवति किमपि ब्रह्म कृष्णाभिधानम् ।।"

इस संसार में बहुतेरे रमणीय रूप वाले पक्षी हैं पर उनमें से चातकों पर मेरी महती प्रीति है, जो आंख के सामने आते ही अपने मित्र मेघों का स्मरण कराते हैं और जिससे कृष्ण नामक एक अनिर्वचनीय ब्रह्म स्मृति में आरूढ हो जाता है।

---

१. रसगंगाधर, पृ० २६०-२६१

२. अलंकारसर्वस्व, पृ० ४०

यहाँ चातक के दर्शन से उससे सम्बद्ध बादल का स्मरण हो आता है और फिर बादल से पुन: सम्बद्ध कृष्ण का स्मरण हो आता है। यह स्मरण कवि के भगवद्विषय रति भाव का अंग है। इस स्थल में कृष्ण का स्मरण बादल के ज्ञान से होता है चातक के अनुभव से नहीं और बादल के ज्ञान से होता है चातक के अनुभव से नहीं और बादल के-ज्ञान-से-होतास्वयं अनुभवगम्य नहीं बल्कि स्मृति गम्य है। इसीलिए ऐसे स्थलों पर अव्याप्ति बचाने के लिए पण्डितराज ने `सादृश्यानुभव` की जगह पर `सदृशज्ञान` पद रखा है।

यह अलंकार `सदृशवस्त्वन्तरस्मरण` और `सदृशवस्त्वन्तरसम्बद्ध वस्त्वन्तर` के स्मरण में भी होता है। उपमा की ही तरह स्मरणालंकार में भी साधारण धर्म के अनुगामी, शुद्ध, सामान्य, बिम्ब-प्रतिबिम्बभाव-रूप, उपचरित तथा श्लिष्ट (शब्दगतमात्र), भेद देखे जाते हैं।[१]

---

१. रसगंगाधर, पृ० २६५-२६६

रूपक

सर्वप्रथम आचार्य भरत ने ही रूपक का उल्लेख किया । भामह, दण्डी उद्भट, वामन, रुद्रट आदि ने इसका विवेचन किया । दण्डी ने लक्षण किया—

" उपमैवतिरोभूतभेदा रूपकमुच्यते ।" [1]

उपमा ही भेद तिरोहित होने पर रूपक कहलाती है । आचार्य मम्मट ने इसकी परिभाषा इस प्रकार की —

"तद्रूपकमभेदोयउपमानोपमेययो: ।" [2]

उपमान और उपमेय के अभेद को रूपक कहते हैं ।

पण्डितराज ने इस लक्षण का खण्डन इस आधार पर किया कि अपह्नुति आदि अलंकारों में भी उपमान उपमान तथा उपमेय का अभेद होता है अत: उन अलंकारों में इस लक्षण की अति-व्याप्ति हो जाएगी । यदि" उपमानोपमेययो:" उक्ति का तात्पर्य उपमेयतावच्छेदक (मुखत्वआदि) को आगे रखकर उसमें उपमानतावच्छेदक (चन्द्रत्व आदि) से अवच्छिन्न (चन्द्रआदि) का अभेद मानें तो भी उत्प्रेक्षा में अतिव्याप्ति होगी क्योंकि वहां उपमेयतावच्छेदक को सामने रखकर ही मुख आदि का निरूपण किया जाता है । यदि अभेद होने पर ही जहां निषेध हो वहां अपह्नुति और जहां संभावना हो वहां उत्प्रेक्षा और उससे अतिरिक्त केवल अभेद रूपक का विषय माना जाए, तो जिस प्रकार कि" शरमयंबर्हि:" इसके विषय से अतिरिक्त चोत्र" कुशमयंबर्हि :" इस श्रुति का है अथवा जैसे "शल इगुपधादनिट:क्स:" इस सूत्र के चोत्र से अतिरिक्त विषय

---

1. काव्यादर्श —2।66
2. काव्यप्रकाश—पृ० ५६३

"सिद्" का है अथवा जैसे लोकव्यवहार में "ब्राह्मणों को दही देना और "कौण्डिन्य" को मट्ठा" —इस कथन में भी जिसे मट्ठा देना है उससे अतिरिक्त लोगों को दही देना यह स्पष्ट हो जाता है वैसे ही यहां भी होगा ।

किन्तु यह तर्क ठीक नहीं । यहां पर दृष्टान्त विषम है इनमें विशेष शास्त्र अथवा नियम यह बात बोधित करता है कि सामान्य शास्त्र का विषय विशेषशास्त्र के विषय से अतिरिक्त है अर्थात् जहां विशेष नियम न लगे वहां सामान्य नियम लगता है । यहां प्रकृत में लक्षण रूपक का धर्म है, यदि वह उत्प्रेक्षा पर भी लागू हो तो उसे उस विषय से हटाकर दूसरे विषय का ग्रहण कौन कराएगा ? यहां पर स्थिति यह है कि जैसे घटत्व `घट` का धर्म है वह घड़े में से पृथ्वीत्व या द्रव्यत्व को निराश करके केवल घटत्व को समझाने की सामर्थ्य नहीं रखता । इसी प्रकार अपह्नुति और उत्प्रेक्षा में निषेध और संभावना को देखकर यह नहीं कहा जा सकता कि यहां अभेद नहीं है और यदि अभेद है तो मम्मटके लक्षणानुसार यहां रूपक मानना ही पड़ेगा । निश्चयात्मक प्रमाण के अभाव में जैसे अभेद से युक्त संभावना को उत्प्रेक्षा कहते हैं वैसे ही संभावना से युक्त अभेद को भी उत्प्रेक्षा कह सकते हैं । इसके अतिरिक्त उत्प्रेक्षा में उपमेय के अभेद की दृष्टि से रूपक और संभावना की दृष्टि से उत्प्रेक्षा- इन दो अलंकारों का व्यवहार होने लगे । यदि मम्मट के लक्षण में "निश्चीयमानत्वेन् अभेद्" यह विशेषण और बढ़ा दिया जाए तब तो पण्डितराज का अभिमत ही सिद्ध हो जाता ।[१]

पण्डितराज ने अप्पय दीक्षित के लक्षण का भी खण्डन किया है लक्षण है —

"बिम्बाविशिष्टे निर्दिष्टे विषये यदनिह्नुते ।
उपरंजकतामेति विषयी रूपकं तदा ।।"[२]

---

१. रसगंगाधर, पृ० ३०४-३०५,   २. चित्र मीमांसा, पृ० १७१

अर्थात् जब विषयी (उपमान) बिम्ब से रहित, विषयिनोधक से भिन्न शब्द द्वारा बोधित और न छिपाये गये विषय का उपरंजक बनता है तब रूपक होता है।

इस लक्षण में "बिम्बाविशिष्ट" इस पद को विषये का विशेषण बना कर यह बताया गया है कि रूपक में बिम्बप्रतिबिम्ब भाव नहीं होता, निदर्शना में होता है। दीक्षित ने रूपक में बिम्बप्रतिबिम्ब-भावापन्न धर्म का सर्वथा निषेध कर दिया और उसे केवल निदर्शना का क्षेत्र माना। "निर्दिष्ट" पद के द्वारा दीक्षित ने अतिशयोक्ति का वारण किया, "अनिह्नुते" पद के द्वारा और "उपरंजकतामेति" के द्वारा सन्देह, उत्प्रेक्षा समासोक्ति, परिणाम तथा भ्रान्तिमान् का वारण किया।

पण्डितराज ने दीक्षित द्वारा रूपक में बिम्बप्रतिबिम्ब-भावापन्न धर्म के सर्वथा निषेध को उचित नहीं माना। दीक्षित ने निम्न-लिखित पद्य में निदर्शना मानी —

त्वत्पादनखरत्नानां यदलक्तकमार्जनम्।
इदं श्रीखण्डलेपेन पाण्डुरीकरणं विधोः ॥

अर्थात् रत्नसदृश आपके चरणों का जो आलक्तक से मार्जन है, वह तो चन्दन के लेप से चन्द्रमा को श्वेत करता है। वे यहाँ "विधु" का चन्दन के द्वारा पाण्डुरीकरण तथा "नखरत्नों के आलक्तकमार्जन" में बिम्बप्रतिबिम्बभाव मानते हैं। अप्पय के अनुसार यहाँ वाक्यार्थ निदर्शना है किन्तु पण्डितराज यहाँ वाक्यार्थ रूपक मानते हैं क्योंकि "इदं" पद के प्रयोग के कारण यहाँ दोनों में श्रौतसामानाधिकरण्य है। पण्डितराज रूपक में बिम्बप्रतिबिम्बभाव के निषेध को भ्रान्ति ही मानते हैं। उन्होंने अपने समर्थन में विमर्शिनीकार जयरथ का मत भी उद्धृत किया जो बिम्बप्रतिबिम्बभाव में रूपक ही स्वीकार करते हैं।

इसी प्रकार अप्पय दीक्षित के लक्षण में "निर्दिष्ट" पद के सन्निवेश करने पर पण्डितराज ने "सुन्दरंकमलंभाति लतायामिदमद्भुतम्

इत्यादि रूपकातिशयोक्ति में अतिव्याप्ति, " मुखचन्द्रस्तु सुन्दर: " इत्यादि रूपक में अव्याप्ति दोष बताया है। निर्दिष्ट का तात्पर्य उपमेयतावच्छेदक रूप शब्द से अभिहित लेने पर " अनिह्नुते " विशेषण ही व्यर्थ हो जाता है। यही नहीं — " नायं सुधांशु: किन्तर्हि सुधांशु: प्रेयसीमुखम् " —इस कुवलयानंद में अपह्नुति में भी अतिव्याप्ति होती है। नागेश ने " निर्दिष्ट " पद के सन्निवेश पर की गई पण्डितराजकृत आलोचना का खण्डन किया है।[१] किन्तु रूपक में बिम्बप्रतिबिम्बभावापन्न धर्म का निषेध करने पर उठाई गई पण्डितराज की आपत्ति तो स्वीकार करनी ही पड़ेगी।

पण्डितराज ने शोभाकर मित्र की इस मान्यता का विरोध किया कि कार्य-कारणभाव सम्बन्ध वाली " सारोपा शुद्धा " में भी रूपक अलंकार होता है। उन्होंने सादृश्य के कारण अथवा अन्य किसी सम्बन्ध के कारण-भिन्न पदार्थों की समानाधिकरणता को रूपक माना है। पण्डितराज ने इस मान्यता का विरोध किया। दो भिन्न पदार्थों के समानाधिकरण मात्र में रूपक मानने से अपह्नुति आदि अन्य अलंकारों में भी रूपक की अतिव्याप्ति हो जाएगी क्योंकि भिन्न पदार्थों का समानाधिकरण्य वहाँ भी मिलता है। शोभाकर मित्र ने यह माना है कि स्मरण अलंकार वहीं होगा जहाँ सादृश्यमूलक स्मरण हो। चिन्तादिमूलक स्मृतिभाव में उन्होंने अलंकारत्व नहीं माना। यदि वे सादृश्य से भिन्न कार्य-कारणादिभाव सम्बन्ध में कल्पित ताद्रूप्य में भी रूपक मानना चाहते हैं तो क्यों न वे सादृश्यभिन्न चिन्तामूलक स्मरण को भी अलंकार मान लें। यह नहीं कहा जा सकता कि ऐसा मान लेने पर स्मरण को जो भावरूप बताया गया है उसके लिए कोई स्थान न रहेगा क्योंकि भाव होने के लिए व्यंग्य स्मरण तो विद्यमान ही रहेगा।[२]

इस प्रकार पण्डितराज ने केवल सादृश्य सम्बन्ध को लेकर कल्पित ताद्रूप्य में ही रूपक अलंकार मानने के प्राचीनाभिमत का समर्थन

---

१. रसगंगाधर तथा गुरु मर्म प्रकाश, पृ०. २९८-३०३

२. रसगंगाधर, पृ० २९८

करते हुए रूपक का निर्दुष्ट लक्षण प्रस्तुत किया —

उपमेयतावच्छेदकपुरस्कारेणोपमेये शब्दान्निश्चीयमानमुपमा-
मानतादात्म्यं रूपकम् । तदेवोपस्कारकत्व विशिष्टमलंकार: ।।"1
अर्थात् — "उपमेयतावच्छेदक को आगे रख कर शब्द द्वारा निश्चित किया जाने
वाला उपमेय में उपमान का तादात्म्य रूपक कहलाता है वही अगर किसी
अन्य का उपस्कारक हो तो रूपकालंकार कहलाता है। इस लक्षण में "उप-
मेयतावच्छेदकपुरस्कारेण" इस पद के सन्निवेश का फल है कि अपह्नुति, भ्रान्ति
मान्, अतिशयोक्ति और निदर्शना में अतिव्याप्ति नहीं होती क्योंकि अप-
ह्नुति में उपमेयतावच्छेदक का स्वेच्छा से ही निषेध कर दिया जाता है,
भ्रान्तिमान में उसी के उत्पन्न करने वाले दोष के द्वारा उपमेयतावच्छेदक
का ज्ञान रोक दिया जाता है और अतिशयोक्ति तथा निदर्शना का मूल
साधारण साध्यवसानालक्षणा है जिसमें उपमेयतावच्छेदक का पुरस्कार ही
नहीं हो सकता। "शब्दात्" विशेषण का फल है कि जब हम प्रत्यक्ष
देखने के समय" यह मुख चन्द्रमा है" —इस तरह का आहार्य निश्चय करें तब
उस निश्चय में आने वाले तादात्म्य से रूपक का भेद हो जाता है क्योंकि
वह तादात्म्य शब्द द्वारा निश्चित नहीं किन्तु इच्छा और इन्द्रिय द्वारा
निश्चित होता है।" निश्चीयमान " विशेषण के द्वारा उत्प्रेक्षा का
निवारण हो जाता है। लक्षण में उपमान और उपमेय विशेषणों
के द्वारा जो सादृश्य प्राप्त होता है उससे "मुखंमनोरमारामा" इत्यादि सादृ-
श्यहीन शुद्ध आरोप विषय तादात्म्य में रूपक की निवृत्ति हो जाती है
अत: यह स्पष्ट है कि सादृश्य मूलक अभेद का ही नाम रूपक है।2 —
" सादृश्यमूलकमेव तादात्म्यं रूपकमामनन्ति।" 2

यह सादृश्यमूलक अभेद काव्यों में तीन तरह से आता है —
सम्बन्धरूप से, विशेषणरूप से और विशेष्यरूप से। जहां उपमान और उपमेय
दोनों एक विभक्ति में आएं वहां यह अभेद सम्बन्ध रूप से रहता है अन्यत्र
किसी शब्द के अर्थरूप में, अत: कहीं विशेषण रूप से रहता है और कहीं
विशेष्य रूप से ।

1- रसगङ्गाधर- पृ० २८७
2- " " "

रूपक के भेद--

भामह ने रूपक के केवल दो ही भेद माने हैं -- समस्त वस्तु विषय तथा एकदेशविवर्ती[१]। दण्डी ने इसके अनेक भेद माने हैं। दण्डी ने रूपक को समस्तरूपक, व्यस्तरूपक और समस्तव्यस्त रूपक भेद में विभक्त किया किन्तु मम्मट आदि परवर्ती आचार्यों ने इसे नहीं माना। उद्भट ने भी भामह के ही दोनों भेद माने हैं, किन्तु उद्भट ने समस्त वस्तुविषय का दूसरा नाम मालारूपक दिया है।[२] रुद्रट ने रूपक के तीन भेद माने हैं --सावयव, निरवयव, तथा संकीर्ण।[३] मम्मट ने रुद्रट के ही आधार पर वर्गीकरण किया। रुद्रट के संकीर्ण को ही मम्मट ने परम्परित कहा है। सावयव तथा निरवयव को ही क्रमशः सांग और निरंग रूपक भी नाम दिया है। मम्मट के वर्गीकरण की तालिका निम्नलिखित प्रकार की है --
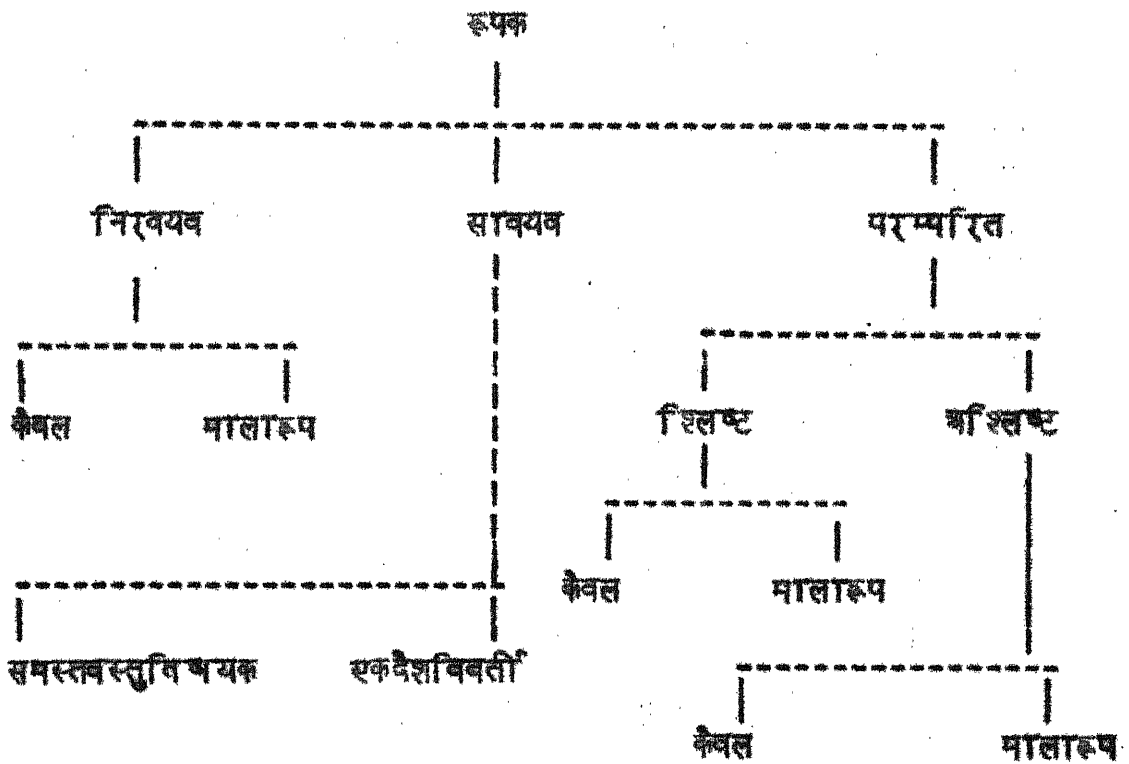
मम्मट कृत इन भेदों को परवर्ती आचार्यों ने स्वीकार किया। पण्डितराज ने भी इसी वर्गीकरण को माना।

निरवयव--

केवल निरवयव रूपक वहां होता है जहां रूपक केवल एक ही

आरोप का साधक होता है, अन्य का नहीं । मालानिरवयव रूपक में आरोप के साधक अनेक विषयियों का एक विषय पर आरोप किया जाता है ।

सावयव—

सावयव रूपक उन्हें कहते हैं जिन रूपकों के सिद्ध करने में एक दूसरे की अपेक्षा इनमें से प्रथम अर्थात् समस्तवस्तुविषय में सब उपमान शब्द द्वारा प्रतिपादित होते हैं और दूसरे अर्थात् एक देश विवर्ती सावयव रूपक में किसी अवयव में उपमान शब्दश: प्रतिपादित होता है और कहीं अर्थत: आक्षिप्त होता है । यह रूपक एकदेश में अपने स्वरूप को छिपाए रहता है अत: उसकी स्थिति उनसे भिन्न होती है जिनमें शब्दत: उपमान लिखा गया है । अथवा इस प्रकार कहा जा सकता है कि यह रूपक एक देश में अर्थात् यहां शब्दत: उपमान का ग्रहण हो वहां विशेष रूप से स्पष्टतया वर्तमान रहता है अन्यत्र अस्पष्ट रूप से । इसीलिए इसे एकदेशविवर्ती कहते हैं ।[१] विधेयता और अनुवाद्यता:—सावयव रूपक समूहरूप होता है । यद्यपि उसके सभी अवयवों का परस्पर समर्थित होना अथवा समर्थित करना समान होता है क्योंकि सभी परस्पर सापेक्ष रहते हैं, इसलिए उनमें से किसी को समर्थ्य और किसी को समर्थक नहीं कहा जा सकता, तथापि

" सुविमल मौक्तिक तारे धवलांशुः चन्द्रिका चमत्कारे"

इत्यादि स्थल में राका के रूपक का ही समर्थ्य होना अभिप्रेत है अत: यहां राका रूपक सामर्थ्यअर्थात् प्रधान और अन्य रूपक समर्थक अर्थात् अंगभूत हैं ।

पिछले पृष्ठ का शेष—

१. काव्यालंकार, २।२२, २. काव्यालंकार सार संग्रह—१।२५

३. काव्यालंकार, रुद्रट, ८।४१

---

१ रसगंगाधर, पृ० ३०६

ऐसी स्थिति में समर्थक रूपकों के अनुवाद्य होने पर भी, क्योंकि उनके उपमानोपमेयों में पृथक् विभक्तियां नहीं सुनाई देतीं, समर्थ्य रूपके के विधेय होने के कारण, क्योंकि वहां उपमानोपमेयों में पृथक् विभक्तियां सुनाई देती हैं सामर्थ्य रूपक को लेकर संघातात्मक सावयवरूपक को भी विधेय माना जाता है। पण्डितराज ने इसके लिए दृष्टान्त दिया कि जैसे योद्धाओं के समूह के अन्तर्गत किसी मुख्य "भट" की जय अथवा पराजय से अन्य योद्धाओं की जय-पराजय का भी व्यपदेश किया जाता है —

"एवंस्थिते समर्थरूपकाणां विषयविषयिणोः पृथग्विभक्तेरश्रवणादनुवाद्यत्वे ऽपि समर्थ्यरूपकस्य तयोः पृथग्विभक्तिश्रवणाद्विधेयतया तदादाय-संघातात्मकस्य सावयवरूपकस्यापि विधेयत्वमत्र व्यपदिश्यते। यथा भटसंघातान्तर्गतस्य मुख्यस्य कस्यापि भटस्य जयपराजयाभ्यां भटसंघातो जितः पराजितश्चेत्युच्यते।" [१]

अतः निष्कर्ष यह है कि सावयव रूपक में समर्थ रूपक विधेय होने से समस्त-सावयव रूपक को विधेय माना जाता है और उसके अंगरूप रूपकों के अनुवाद्य होने की परवाह नहीं की जाती। [२]

एकसमूह : पृथक्भेद: —

पण्डितराज ने सावयव रूपक के रूपक समूहरूप होने पर भी उसमें विशेष चमत्कार होने के कारण उसे रूपकालंकार में एक पृथक भेद के गिने जाने का समर्थन किया। जैसे मोतियों के अलंकारों की गणना करने पर "नासामौक्तिक" को एक गहना गिना जाता है और संघातात्मक "मौक्तिकमंजरी" को भी एक गहना माना जाता है। वैसे ही यहां भी संघातात्मक सावयव रूपकों को एक अलंकार ही मानेंगे अन्यथा मालोपमा को उपमा भेद में न गिना जा सकेगा।

"यथा मौक्तिकालंकृतिभेदगणनायामेकं नासामौक्तिकमिव संघातात्मकं मौक्तिकमंजर्यादयोऽपि गण्यन्ते। अन्यथा मालारूपस्यौपम्यादेस्तद्भेदगणने गठनप्रसंगात्।" [३]

---

१. रसगंगाधर, पृ० ३०६।३०७ २. रसगंगाधर, पृ० ३०८ ३. रसगं०, पृ०३०६

परम्परित रूपक--

जहां आरोप ही अन्य आरोप का निमित्त हो वह परम्परित रूपक कहलाता है । इसमें भी जिस रूपक को कवि समर्थक के रूप में कहना चाहे वह यदि श्लेष मूलक हो तो वह श्लिष्ट परम्परित कहलाता है, अन्यथा शुद्ध परम्परित ।

" यत्र आरोप स्वारोपान्तरस्य निमित्तं तत्परम्परितम् । तत्रापि समर्थकत्वेन विवक्षितस्यारोपस्य श्लेषमूलकत्वे श्लिष्टपरम्परितम् ।" [1]

पण्डितराज ने सावयव रूपक से शुद्ध परम्परित रूपक के विभेद को भी स्पष्ट किया । यद्यपि सावयव रूपक में भी एक आरोप अन्य आरोप का समर्थक होता है तथापि वहां आरोप के बिना केवल कवि समय-सिद्ध सादृश्य द्वारा भी अन्य आरोप की सिद्धि हो सकती है पर शुद्ध परम्परित रूपक में ऐसा नहीं होता । अतएव पण्डितराज ने यह बता दिया कि सावयव रूपक से परम्परित रूपक के भेद की कारण उपर्युक्त ही है न कि यह सावयव रूपक में अनेक आरोप होते हैं शुद्ध परम्परित में केवल दो ।

श्लिष्ट परम्परित रूपक: एक विचार :-कमलावासाकासार:" इत्यादि श्लिष्ट परम्परित रूपक में एक (कमलों के निवास में `कमला का निवास का ) आरोप अन्य ( राजा में ) सरोवर के आरोप का उपाय माना जाता है । किन्तु यह कैसे संभव है ? यहां श्लेष से` कमलों के निवास` और कमला के निवास का अभेद ही प्रतीत होता है, एक अर्थ का दूसरे में आरोप नहीं क्योंकि आरोप के लिए उपमेय का स्वतंत्ररूप से निर्देश अपेक्षित है । अभेदज्ञान को आरोप कहा नहीं जा सकता, क्योंकि तब तो अतिशयोक्ति में, जहां उपमान से उपमेय का काम लिया जाता है, आरोप का व्यवहार होने लगेगा । वहां शुद्ध अभेद बोध से काम भी नहीं चल सकता,` यत्सम्बन्धिनि यत्सम्बन्ध्यभेदस्तस्मिं तदभेद:" --नियम के अनुसार राजा में सरोवर का आरोप तभी सिद्ध हो सकता है, जब कि राजसम्बन्धी " कमला के निवास` का आरोप सरोवर

---

1. रसगंगाधर, पृ० ३०६

सम्बन्धी 'कमलों के निवास' के साथ सिद्ध हो, किन्तु श्लेष से राजा और सरोवर का अभेद ज्ञान हो, जायगा, किन्तु पर राजरूप उपमेय में सरोवर रूप उपमान के प्रस्तुत आरोप की सिद्धि नहीं हो सकती। अत: शुद्धाभेद में 'इमौ अभिन्नौ' नहीं, अपितु 'अयम् एतद्रूप:' -यह आरोप अपेक्षित है और यह श्लेष से सिद्ध नहीं हो सकता।

इसका उत्तर पण्डितराज ने यह दिया कि श्लेष से शुद्ध अभेद की प्रतीति हो चुकने पर मध्य में प्रस्तुत आरोप का समर्थन करने के लिए मुख्य रूप में राजसम्बन्धी 'कमला के निवास' में सरोवरसम्बन्धी 'कमलों के निवास' का आरोप की मानस-प्रतीति की कल्पना कर लेनी चाहिए।

"श्लेषेण शुद्धाभेदप्रतीतौ सत्यां प्रकृतारोपसमर्थनायान्तरा मानसस्य राजसम्बन्धिनि कासार-संबन्ध्यभेदारोपस्य कल्पनान्नानुपपत्ति:।"[१]

इस तरह 'सौजन्यचन्द्रिका चन्द्रो राजा' -इस शुद्ध परम्परित रूपक में अभेद सम्बन्ध से आरोप हो जाने पर भी, आरोप के सादृश्यमूलक न होने के कारण उसे रूपक न कहा जा सकेगा यह आशंका नहीं करनी चाहिए क्योंकि समर्थक आरोप-चन्द्रिका में सौजन्य के आरोप- द्वारा राजा और सरोवर के धर्म को एक मान लेने से सादृश्य सिद्ध हो जाता है।

अभेद-

'सौजन्यचन्द्रिकाचन्द्र' -इस शुद्ध परंपरित रूपक में 'सौजन्यचन्द्रिका' में पद कर्मधारय' फिर 'चन्द्र' पद के साथ तत्पुरुष समास है वहां तत्पुरुष के अंगरूप कर्मधारय में सौजन्य पदार्थ, 'चन्द्रिका' पदार्थ का अभेद सम्बन्ध से विशेषण होता है। अत: 'सौजन्य' के विशेषण और 'चन्द्रिका' के विशेष्य होने से 'चन्द्रिका' में सौजन्य का अभेद प्रतीत होता है,

---

१. रसगंगाधर, पृ० ३१२

'सौजन्य' में 'चन्द्रिका' नहीं। ऐसे अभेद से 'चन्द्र' में 'राजा' के अभेद का समर्थन हो सकता, 'राजा' में 'चन्द्र' के अभेद का नहीं। पण्डितराज ने अभेद के सम्बन्ध में उठाये गये इस प्रश्न का सुन्दर समाधान प्रस्तुत किया।

वाक्य और समास में विशेषण-विशेष्य होना परिवर्तित हो सकता है, अनुयोगित्व - प्रतियोगित्व नहीं बदलता। अतः वाक्य और समास दोनों में ही 'चन्द्रप्रतियोगिकाभेद' अर्थात् चन्द्र का अभेद ही संसर्गरूप होता है, मुख का अभेद नहीं। कहीं अनुयोगी पहले होता है, कहीं प्रतियोगी। यह दुराग्रह मात्र है कि विशेषण सदा अभेद का प्रतियोगी ही हो सकता है, अनुयोगी नहीं, क्योंकि इसमें कोई प्रमाण नहीं है :-

"स्वप्रतियोगिकाभेद एव विशेषणसंसर्गो न तु स्वानुयोगिकाभेद इति तु दुराग्रहः।"[१]

अतः परंपरितरूपक में कोई अनुपपत्ति नहीं हो सकती क्योंकि 'सौजन्यचन्द्रिका' आदि रूपकों में 'चन्द्रिका के विशेषणरूपसौजन्य' का संसर्ग 'सौजन्याभेद' नहीं, 'चन्द्रिका भेद' ही है। फलतः भंग्यन्तर से सौजन्य में चन्द्रिका का अभेद सिद्ध हो जाने पर 'राजा' में 'चन्द्र' का अभेद भी निष्पन्न हो जाता है।

यह अवश्य उल्लेखनीय है कि जहाँ अनुयोगी पहले होता है, उस 'मुखचन्द्र है' इत्यादि वाक्यों में रूपक विधेय होता है और जहाँ प्रतियोगी पहले हो वहाँ रूपक अनुवाद्य होता है —

---

१. रसगंगाधर, पृ० ३१४

विश्वेश्वर ने तो 'नीलघटः' इत्यादि कर्मधारय में अभेद को 'विशेषणप्रतियोगिक' ही माना और 'राजा में चन्द्र के अभेद' को 'चन्द्रिकाप्रतियोगिकाभेदानुयोगित्वजन्य' बोध से समर्थित किया है।

— अलंकारकौस्तुभ

सो यमेदो यत्रानुयोगित्वमुक्तस्तत्र रूपकस्य विधेयता ।
यत्र च प्रतियोगित्वमुक्तस्तत्रानुवाद्यत्वमिति दिक् ।" [1]

परंपरित रूपक में समर्थ्य-समर्थक रूपक के उपमानोपमेय के परस्पर अनुकूल होने के समान ही प्रतिकूल होने पर भी रूपक होता है । इस प्रकार पण्डितराज ने पदार्थ रूपक का अर्थात् एक विषयभूत पदार्थ में दूसरे विषयिभूत पदार्थ के आरोप का लेशत: निरूपण प्रस्तुत किया ।

वाक्यार्थ रूपक --

प्राचीन अलंकारिक केवल पदार्थरूपकगत भेद ही स्वीकार करते हैं किन्तु पण्डितराज ने वाक्यार्थरूपक भी स्वीकार किया । शोभाकर मित्र ने भी वाक्यार्थरूपक मान कर उसके शाब्द आर्थ दो प्रकार माने हैं । उन्होंने जहां दो वाक्यों में श्रौत सामानाधिकरण्य हो वहां वाक्यार्थरूपक माना है, जबकि रुय्यक आदि प्राचीन आलंकारिक वहां वाक्यार्थनिदर्शना बताते हैं । [2]

पण्डितराज ने भी वाक्यार्थरूपक स्वीकार करते हुए, लक्षण किया -- " एक वाक्य का अर्थ जहां उपमेय और उसमें अन्य वाक्य का उपमान-रूप अर्थ आरोपित किया जाय, तो वाक्यार्थरूपक होता है "

" वाक्यार्थे विषये वाक्यार्थान्तरस्यारोपे वाक्यार्थ रूपकम् ।।" [3]

वाक्यार्थरूपक की प्रतिष्ठा करते हुए पण्डितराज ने अप्पयदीक्षित का खंडन किया । उन्होंने अप्पय के इस मत को अस्वीकार किया कि रूपक में बिम्बप्रतिबिम्बभाव नहीं होता ।

---

१. रसगंगाधर, पृ० ३१५

२. अलंकाररत्नाकर, पृ० २१

३. रसगंगाधर, पृ० ३१६

साधारणधर्म :—

रूपक में भी साधारण धर्म उपमा की तरह अनुगामी, बिम्बप्रतिबिम्बभावापन्न, उपचरित तथा केवल शब्दात्मक हो सकता है । पण्डितराज ने इसे निरूपित करते हुए सुन्दर उदाहरण प्रस्तुत किये । उन्होंने जहां धर्म हेतुरूप में उपस्थित किया जाय वहां `हेतुरूपक` और एक विषय में दो विषयियों को आरोप में `द्विरूपक` का निर्देश भी किया । इसी प्रकार अन्य भेदों को जानने का भी उन्होंने निर्देश दिया ।[१] `यश:सौरभ्यलशुन:` इत्यादि में साधारण धर्म का विवेचन करते हुए उन्होंने भी यह स्पष्ट किया कि जहां तक एक ताद्रूप के अधीन अन्य का ताद्रूप्य अन्योन्याश्रित रूप में दीखता है, वहां किसी भी ताद्रूप्य की पहले कल्पना कर लेनी चाहिये । काव्य में सकलसिद्धि कल्पनामय है और वह कल्पना कविप्रतिभाधीन ही है —

" अन्योन्याश्रयो नाशंकनीय:, सकलसिद्धे: कल्पनामयत्वेन, कल्पनायाश्च स्वप्रतिभाधीनत्वात् । शिल्पिभि: परावष्टम्भमात्राधीनस्थितिकाभि: शिलेष्टकाभिर्गृहविशेषनिर्माणाच्च ।"

ध्वनि:—

रूपक की ध्वनि का विवेचन भी पण्डितराज ने किया । इस निरूपण में पण्डितराज ने अत्यन्त उल्लेखनीय निर्देश किया । आनन्दवर्धनाचार्य ने रूपकध्वनि बताते हुए यह श्लोक प्रस्तुत किया —

" प्राप्त श्रीरेष कस्मात्पुनरपि मयि तं मन्थखेदं विदध्यान्निद्रामप्यस्य पूर्वामनलसमनसो नैव संभावयामि ।

सेतुं बध्नाति भूय: किमिति च सकलद्वीपनाथानुयात:,
त्वय्यायाते वितर्कानिति दधत इवाभाति कम्प: पयोधे : ।।"

---

१. रसगंगाधर, पृ० ३२४—३२५

"इसे श्री (राज्यलक्ष्मी-लक्ष्मी) मिल गयी है, फिर भी क्या यह मन्थन कर मुझे कष्ट देगा ? निरलसचित्त इसमें पहले की नींद भी नहीं दिखाई पड़ती । सारे द्वीपस्वामियों के साथ क्या यह फिर सेतु तो नहीं बांधेगा ? तुम्हारे आने पर मानों वितर्क करते से जलधि का कम्पन दीख पड़ता है ।"

पण्डितराज ने कहा कि इस श्लोक में राजा पर विष्णु का आरोप नहीं है, अपितु कम्प के हेतु रूप में जिन तीन विकल्पों की कल्पना की है, उनसे तो जलधिगत अनाहार्य अर्थात् प्रकल्पित विष्णु में तादात्म्यनिश्चयरूप भ्रान्ति का ही आरोप होता है, रूपक का नहीं । समुद्र को भ्रम हो तभी कल्पित होगा, झूठी कल्पनामात्र से नहीं । अत: यहां भ्रान्तिमान् ध्वनि ही है ।[१]

रूपकदोष—

रूपक में भी लिंगभेद आदि दोष होते हैं, किन्तु जहां उपमान—उपमेय की लिंग आदि द्वारा कीगयी सम्प्रदायसिद्धि, अतएव चमत्कार की हानि न करते हों, वहां ये दोषरूप नहीं होते ।[२]

रूपकगत शाब्दबोध:—

पण्डितराज ने उपमा की ही भांति रूपक के शाब्दबोध का भी विवेचन किया । रूपक के शाब्दबोध निर्णय उन्होंने दो मतों का उपस्थापन किया प्रथम मत उन प्राचीनों का है, जो रूपक में लक्षणा का आश्रय अनिवार्य बताते हैं और लक्षणाप्रयोजनभूत अभेद व्यंग्य होता है । द्वितीय मत उन नव्यों का जो रूपक में लक्षणा स्वीकार नहीं करते । क्योंकि दो प्रतिवादिकों के अर्थों का अभेदसंसर्ग से अन्वय व्युत्पत्तिसिद्ध है । और अभेद को भी आकांक्षादि से ही सिद्धि हो जाती है ।

---

१. रसगंगाधर, पृ० २२८
२. ,, पृ० २२६

उन्होंने रूपक में लक्षणा मानने पर चार दोष भी गिनाये—

(१) `मुखचन्द्र` — इस स्थल में उपमित और विशेषण समास दोनों हो सकते हैं। प्राचीन दोनों समास में उत्तरपद लाक्षणिक मानते हैं। इस समानता के रहते एक स्थल पर उपमा और दूसरे पर रूपक मानना व्याहत होगा।

(२)` मुख नं चन्द्रसदृशंमपि तु चन्द्र:` — इत्यादि स्थल में लक्षणा द्वारा सादृश्यबोध नहीं होगा, क्योंकि वक्ता को सादृश्य-बोध अभीष्ट नहीं है।

(३) `देवदत्तमुखं चन्द्र एव, यज्ञदत्तमुखं न तथा, अपितु चन्द्रसदृशम्`— इत्यादि स्थल में नञर्थ का लक्ष्यभाण `चन्द्रसदृश` में अन्वय होगा, अत: न चन्द्रसदृश श्चन्द्रसदृशम्`[१]जैसा बोध होने लगेगा

(४) `तत्सादृश्य` का अर्थ है `तद्गतधर्मयुक्त होना।` इसका फल तदभेदबुद्धि कैसे हो सकता है ?

` न हि साधारणधर्मावच्छिन्नाभेदज्ञानस्य तत्तदसाधारणधर्मावच्छिन्नाभेदज्ञाने हेतुत्वं क्वाप्यवगतम्। घटपटयोर्द्रव्यत्वेनाभेदग्रहे पि घटत्वादिना भेदग्रहात्। तदभिन्नत्वेन ज्ञानस्य पुनस्तद्धर्मप्रतिपत्ति: फलं स्यात्।` [१]

`द्रव्यत्व` रूप में अभेदग्रह होने पर भी घट और पट में `घटत्व` — `पटत्व` मूलक भेदग्रह तो होता ही है। तदभिन्न समझने का परिणाम यह हो सकता है` तद्धर्मप्रतिपत्ति` फल हो अर्थात् `गंगायां घोष:` स्थल में गंगातट को गंगाप्रवाह से अभिन्न मानने पर `घोष` में गंगावति शैत्य - पावनत्वादि का ज्ञान हो सकता है, किन्तु सादृश्यज्ञान का फल अभेदज्ञान नहीं हो सकता। अत प्राचीनों की सरणि उचित नहीं।

---

१. रसगंगाधर, पृ० २२०-२१

शाब्दबोध: —

(क) मुखंचन्द्र: —

प्राचीनसम्मत—"चन्द्रवृत्तिगुणवदभिन्नंमुखम् ।"

नव्यसम्मत —"चन्द्राभिन्नं मुखम् ।"

(ख) "गाम्भीर्येण समुद्रोऽयं सौन्दर्येण च मन्मथ: ।"

प्राचीनसम्मत: — "गाम्भीर्याभिन्नसमुद्रवृत्तिधर्मवदभिन्नोऽय

नवीनसम्मत: —"गाम्भीर्यादिप्रयोज्यसमुद्राद्यभिन्न: ।"

इसी प्रकार पण्डितराज ने समासगतरूपक का शाब्दबोध भी प्रस्तुत किया । इस पद्धति से उन्होंने अलंकारों में बोधवैलक्षण्य का प्रतिपादन किया । उन्होंने शाब्दबोधनिरूपण के द्वारा चमत्कृति की विलक्षणता भी स्पष्ट की:-

"बोधवैलक्षण्याभावेन विच्छित्तिवैलक्षण्याभावात् ।"[१]

उनके व्याकरणन्याय आदि शास्त्र के गंभीर पाण्डित्य ने अलंकारों की चमत्कृति-सीमा के निर्धारण में अपूर्व योगदान किया ।

----

१. रसगंगाधर, पृ० ३१८

परिणाम

परिणाम अलंकार का उद्भावन रुय्यक ने किया । शोभाकर, विश्वनाथ, विद्याधर, विद्यानाथ और अप्पयदीक्षित ने भी इसे स्वीकार किया । पण्डितराज जगन्नाथ ने भी परिणाम अलंकार माना और उसका लक्षण इस प्रकार प्रस्तुत किया :—

'विषयी यत्र विषयात्मतयैव प्रकृतोपयोगी न स्वातन्त्र्येण, स परिणाम: ।'[1]

अर्थात् जहां विषयी (उपमान) विषय (उपमेय) के रूप में ही प्रकृति कार्य में उपयोगी हो सके, स्वतंत्ररूप से अर्थात् विषयी के रूप में उपयोगी न हो सके, वहां परिणाम अलंकार होता है ।

परिणाम में उपमेय का अभेद उपमान के लिए उपयुक्त होता है अर्थात् उपमान को उपमेय से अभिन्न माने उसकी संगति प्रस्तुत अर्थ से हो नहीं पाती किन्तु रूपक में ऐसा नहीं होता । वहां उपमान का अभेद उपमेय के लिए उपयोगी होता है । रूपक और परिणाम में यही भेद है ।

> 'अत्र च विषयाभेद: विषयिणि उपयुज्यते । रूपके तु नैवमिति रूपकादस्य भेद: ।'[2]

परिणाम को परिभाषित करते हुए पण्डितराज से पूर्ववर्ती आचार्य ने दो दृष्टियां ग्रहण की । रुय्यक[3] शोभाकर[4] और विद्याधर[5] का एक मत है

---

१. रसगंगाधर, पृ० ३२६

२. ,, पृ० ५१

३. अलंकारसर्वस्व, पृ० ५१

४. अलंकाररत्नाकर, सूत्र—२८

५. एकावली, पृ० २२१

और विश्वनाथ,[१] विद्याधर[२] तथा अप्पय[३] का दूसरा । प्रथम मत के अनुसार विषय विषयी रूप में परिणत होकर प्रकृत कार्योपयोगी हो और दूसरे मत के अनुसार विषयी विषय रूप में परिणत हो कर प्रकृतकार्योपयोगी हो, तो परिणाम अलंकार होता है ।

पण्डितराज ने इस भिन्न दृष्टिकोण के साथ ही रुय्यक के मत की आलोचना की । रुय्यक ने परिणाम का लक्षण लिखा :—

"आरोप्यमाणस्य प्रकृतोपयोगित्वे परिणाम: ।"[४]

रुय्यक ने इसकी व्याख्या करते हुए कहा कि रूपक में आयोजित किया जाने वाला प्रकृत में विषय के साथ उसका कोई उपयोग नहीं होता अर्थात् प्रस्तुत कार्य में विषय के साथ उसका कोई सम्बन्ध नहीं होता, अत: केवल प्रकृत का उपरंजन करने के कारण ही उसका प्रस्तुत से अन्वय होता है —

"आरोप्यमाणं रूपके प्रकृतोपयोगित्वाभावात्
प्रकृतोपरंजकत्वेनैव केवलेनान्वयं भजते ।"[५]

किन्तु परिणाम में तो आरोप्यमाण का प्रकृत रूप में उपयोग होता है, अत: प्रकृत आरोप्यमाण के रूप में परिणत होता है ।

पण्डितराज ने इसका विश्लेषण करते हुए पूछा कि "प्रकृतोपयोग" का क्या अर्थ है ? प्रकृत कार्य में उपयोग अथवा प्रकृत (उपमेय) के रूप में उपयोगी[६]

---

१. साहित्यदर्पण, पृ० १०।३४

२. प्रतापरुद्रयशोभूषण, पृ० ३७७

३. कुवलयानन्द, कारिका— २१

४. अलंकारसर्वस्व, पृ० ५१

५. ,, पृ० ५१

६. रसगंगाधर, पृ० ३३२-३३३

यदि पहला अर्थ लें, तो कठिनाई होगी :—

' दासे कृतागसि भवत्युचित: प्रभूणां
पाद प्रहार इति सुन्दरि, नास्मि दूये ।

उद्यत्कठोरपुलकाङ्कुरकण्टकाग्रै —
र्यत् खिद्यते पदं ननु सा व्यथा मे ।। ' [१]

श्री सुन्दरि, यदि दास अपराध करे, तो स्वामियों का चरणप्रहार उचित है, अत: दु:खी नहीं, किन्तु तुम्हारा चरण खड़े होते कठोर रोमकंटकों से खिन्न हो रहा है, व्यथा मुझे इसी ही की है ।

पहला अर्थ लेने पर, रुय्यक द्वारा उदाहृत इस श्लोक में आरोप्य-माण 'कंटकों' का उपयोग प्रकृत कार्य (नायिका के) खेद से (नायक के) दु:ख - में होता है, अत: यहां परिणाम मानना पड़ेगा और इस तरह परिणाम लक्षण की अतिव्याप्ति होगी ।

यदि 'प्रकृतोपयोग' का अर्थ — 'आरोप्यमाण का उपमेय रूप में उपयोग' — यह अर्थ रुय्यक मानें, तो निम्नलिखित उनके ही द्वारा उदाहृत श्लोक में व्यधिकरण परिणाम का कथन असंगत हो जाएगा —

' अथ पवित्रमतामुपेभिर्वाग्भि:
सरसैर्वक्त्रपथाश्रितैर्वचोभि: ।
क्षितिभर्तुरुपायनं चकार
प्रथमं तत्परतस्तुरंगमाद्यै: ।। ' [२]

अर्थात् उसने पहले मुखरूपी पथ के पथिक और परिपक्व अतएव सरस वचनों द्वारा राजा को उपायन प्रस्तुत किया, बाद में घोड़े , आदि द्वारा ।

यहां राजा के मिलन में, आरोप्यमाण 'उपायन' का उपायनरूप से

---

१. अलंकारसर्वस्व, पृ० ४५
२. ,, पृ० ५३

से ही उपयोग है न कि वचनरूपी उपमेय के रूप से । अत: `प्रकृतोपयोग` का द्वितीय अर्थ स्वीकार करने पर उनका स्वयं के उदाहरण में लक्षणा की प्रवृत्ति नहीं है । इस प्रकार पंडितराज ने रुय्यक के विवेचन में असंगति दिखा दी है ।

उनके अनुसार वस्तुत: `प्रकृतोपयोग का दूसरा अर्थ ही ठीक है और रुय्यक का व्याधिकरण परिणाम का उदाहरण, वस्तुत: व्यधिकरण रूपक का उदाहरण हो सकेगा ।

पण्डितराज ने इस विवेचन के द्वारा परिणाम के सम्बन्ध में चले आ रहे मतभेद में अपनी स्पष्ट सम्मति यही दी कि परिणाम वहीं मानना चाहिए, जहाँ उपमान उपमेय रूप से ही प्रस्तुतोपयोगी हो, स्वतंत्रतया नहीं । उन्हें शोभाकर, जयरथ तथा विद्याधर का अभिमत [१] स्वीकार्य नहीं है कि उपमेय उपमान रूप में परिणत हो कर प्रस्तुत कार्योपयोगी होता है, तब परिणाम अलंकार होता है,।

पण्डितराज ने अप्पयदीक्षित द्वारा प्रस्तुत व्यधिकरण परिणाम के उदाहरणों की आलोचना कर सिद्ध किया कि उनका `तारानायक शेखराय` [२] इत्यादि उदाहरण तो शुद्धरूपक का ही है और `द्विषांव: पुष्पकतो:` [३] इत्यादि उदाहरण में भी उपमान का उपमेय रूप में उपयोग नहीं है, अत: वह

१-(क)` प्रकृतमप्रकृतरूपतया परिणमति`— अलंकार रत्नाकर, पृ० ३६

(ख)` अतश्च प्रकृतमप्रकृततया परिणमतीति परिणाम: ।`

— विमर्शिनी, अलंकार सर्वस्व, पृ० ५२

(ग) `परिणमति यत्र विषय: प्रस्तुतकार्योपयोगाय । तथा यत्रारोपविषय: प्रकृतकार्यसिद्ध्यर्थमारोप्यमाणतया परिणमति ।`

—एकावली? पृ० २२१

२. चित्रमीमांसा, पृ० १६६

३. ,, पृ० १६६

परिणाम का उदाहरण नहीं है ।[1]

पण्डितराज ने उन लोगों के मतों का भी उल्लेख किया, जो परिणाम को रूपक से अलग नहीं मानते । उनके अनुसार कहीं केवल उपमेय अपने रूप से प्रस्तुत में उपयोगी नहीं होता, अत: उसे आराप्यमाण से अभिन्न रहना पड़ता है और कहीं आरोप्यमाण उपमान स्वात्मना प्रस्तुत कार्य में उपयोगी नहीं होता, अत: उसे उपमेय से अभिन्न होना पड़ता है - इन दोनों स्थलों, पर रूपक ही होना चाहिए । इस मत में रूपक का लक्षण इस प्रकार है —

' विषयतावच्छेदक-विषयितावच्छेदकान्यतरपुरस्कारेण निश्चयीमानविषयिविषयान्यतरत्वम् ।'

पण्डितराज ने इस मत के समर्थन में मम्मट की परिभाषा भी प्रस्तुत की ।[2]

बाद में मम्मट के टीकाकार नागेश ने तथा विश्वेश्वर पंडित ने भी परिणाम की मान्यता का खंडन किया । नागेश ने 'वदनेन्दुना तन्वी स्मरतापं विलुम्पति' उदाहरण में 'चन्द्र' में वदनतादात्म्य प्रतीति से वर्णनीय 'मुख' आदि के अनुत्कर्षकत्व के कारण अलंकारता ही अस्वीकार करदी । विश्वेश्वर पण्डित ने पण्डितराज द्वारा उदाहृत श्लोक में 'हरिनवतमाल:' में उपमा ही बताई है । उन्होंने भी कहा कि चन्द्रादि में मुखादि का तादात्म्य होने पर वे मुखादि से उत्कृष्ट सिद्ध नहीं होते, अत: वैचित्र्यभाव में उसे अलंकार मानना उचित नहीं ।[3]

किन्तु पण्डितराज ने परिणाम को पृथक् अलंकार न मानने के मत का सूचनमात्र किया है । वे इस मत के प्रति अपनी अरुचि व्यक्त कर देते हैं । इस अरुचि का मूल है कि वैचित्र्य के कारण की भिन्नता से अलंकारभिन्न हो जाते हैं । रूपक में उपमान का चमत्कार होता है और परिणाम में उपमेय का ।

---

१. रसगंगाधर, पृ० ३३१,३२

२. रसगंगाधर, पृ० ३३४

३. उद्योत, पृ० ४६५

पण्डितराज ने रूपक और परिणाम के शाब्दबोध प्रकार प्रस्तुत कर वैचित्र्य के इस आधार को स्पष्ट कर दिया है। शाब्दबोध में किसी भी प्रकार से उपमेय के अभेद की प्रतीति ही नहीं उसके प्रकृत में उपयोग ही होने पर परिणाम होता है, यह स्पष्ट कर पण्डितराज ने परिणाम का क्षेत्र निश्चित कर दिया है।[१]

पण्डितराज ने परिणामध्वनि के विवेचनप्रसंग में अप्पयदीक्षित द्वारा विद्याधर द्वारा, उदाहृत परिणामध्वनि के उदाहरण के खंडन का खंडन किया। प्रत्युत अप्पय द्वारा परिणाम ध्वनि के उदाहरण को ही उसका उदाहरण स्वीकार नहीं किया।[२]

---

१. रसगंगाधर, पृ० ३३४-३६

२. ,, पृ० ३३७-३८

ससन्देह

पण्डितराज ने ससन्देह अलंकार को इस प्रकार परिभाषित किया:—

सादृश्यमूला भासमानविरोध का समबला नानाकोट्यवगाहिनी धी रमणीया ससन्देहालंकृति: ।"[१]

अर्थात् सादृश्य के कारण होने वाला, जिसमें परस्पर विरोध भासित होता हो, ऐसी समबल वाली अनेक कोटियों का अवगाहन करने वाला ज्ञान, सुन्दर होने पर ससन्देह अलंकार कहलाता है ।

सन्देह अलंकार `सादृश्यमूलक` वर्णन में ही होता है, अत: `सादृश्यमूला` विशेषण —

`अधिरोप्य हरस्य हन्त चापं,परितापं प्रशमय्य बान्धवानाम् ।
परिणेष्यति वान वा युवायं निरपायं मिथिलाधिनाथपुत्रीम् ।।`

हाय, शिव का धनुष चढ़ा के और वान्धवों का सन्ताप शान्त करके यह युवक जनकनन्दिनी को व्याहेगा या नहीं — इस मिथिलावासी जनों की उक्ति में उनकी चिन्ता के अभिव्यंजक संशयमात्र में अतिव्याप्ति वारण के लिए दिया गया है । इसी विशेषण से उपमा में भी अतिव्याप्ति का वारण होता है, क्योंकि `सादृश्यमूला` का अर्थ `सादृश्यज्ञानरूपदोषजन्या` लिया जाता है । उपमा `सादृश्यज्ञानरूपा` होती है और यहां सादृश्यज्ञान से संदेह की उत्पत्ति होती है ।

मालारूपक का वारण करने के लिए `भासमानविरोधका` दिया है , क्योंकि मालारूपक में एक ही विषय पर अनेक विषयी का आरोप होता

---

१. रसगंगाधर, पृ० ३४०

है, जो परस्पर अविरुद्ध होता है, किन्तु यहां वह आरोप परस्पर विरुद्ध होता है।

'समबला' विशेषण उत्प्रेक्षा के वारण के लिए है। उत्प्रेक्षा में अप्रकृत (उपमान) का पलड़ा भारी होता है। यहां विधेयकोटि प्रबल होती है किन्तु ससन्देह में उपमानोपमेय--दोनों का सन्देह समान बलवाला रहता है।

'स्थाणुर्वा पुरुषो वा' इस लौकिक संशय के वारण के लिए 'रमणीया' विशेषण दिया गया। इन विशेषणाद्वय और सादृश्यमूलकता के न होने पर वह संशयमात्र है, ससन्देह अलंकार नहीं।

यदि सन्देह में विरोध भासित होने को अनिवार्य न माना जाय, बल्कि उसका अर्थ यह लिया जाय-- ऐसी अनेक कोटियों वाला ज्ञान जो अविरोधी होनेके ज्ञान से रहित हो-- तो पंडितराज ने ससन्देह का लक्षण इस प्रकार किया कि सादृश्यमूलक, निश्चय और संभावना इन दोनों में से किसी भी एक के रूप में न होने वाला बोध, रमणीय होने पर संशयालंकार है :--

'सादृश्यहेतुका' निश्चयसंभावनाग्यताभिन्ना धी रमणीया संशयालंकृति: ।'[१]

भामह ने ससन्देह का वर्णन किया है। उनका उदाहरण केवल निश्चयगर्भ सन्देह का है।[२] उद्भट ने निश्चयगर्भ तथा शुद्धसन्देह का संकेत किया[३]। दण्डी ने इसका समावेश संशयोपमा में किया है।[४] वामन ने इसका उल्लेख किया है।[५] रुद्रट ने इसे औपम्यगर्भ अलंकारों के अन्तर्गत रखा और शुद्ध

---

१. रसगंगाधर, पृ० ३४१

२. काव्यालंकार, ३. ४३,४४

३. अलंकारसारसंग्रह, ६।५

४. काव्यादर्श, २।२६

५. काव्यालंकारसूत्रवृत्ति-४-३, ४-१

निश्चयगर्भ तथा निश्चयान्त — इन तीनों भेदों का उल्लेख किया।[१] मम्मट,[२] रुय्यक[३] ने रुद्रट के अनुसार ही त्रिविध सन्देह स्वीकार किये। पण्डितराज ने भी त्रिविध सन्देह —शुद्ध, निश्चयगर्भ और निश्चयान्त भेद माने। उन्होंने उपर्युक्त पदकृत्य देकर ससन्देह का निर्दुष्ट लक्षण प्रस्तुत किया।

जयरथ के अनुसार रुय्यक सन्देह में आरोप के साथ-साथ अध्यवसान भी स्वीकार करते हैं।[४] अध्यवसान में विषय का या तो सर्वथा होता ही नहीं या होता भी है तो विषयी द्वारा उसकी निगीर्यमाणता अवश्य रहती है। शोभाकर ने इस मत का खंडन किया। पण्डितराज को भी यह मत मान्य नहीं हुआ। उन्होंने कहा कि —

'सिन्दूरैः परिपूरितं किमथवा: लाक्षारसैः क्षालितम्'

इत्यादि श्लोक में कुछ लोग संशयधर्मी 'महिमण्डलम्' के प्रथमान्त तथा विषयी 'सिन्दूरादि' के तृतीयान्त होने के कारण विषय पर विषयी का आरोप नहीं मानते। उनके अनुसार या यहां संशयधर्मी 'किरणव्रात' का सिन्दूरत्वादि द्वारा निगरण कर लिया जाता है। किन्तु पण्डितराज ने बताया कि आरोपमूलक सन्देह मे भी विभक्तिभेद हो सकता है। इस पद्य में प्रथमत: संशय की शाब्दी प्रतीति होती — 'यह यही मंडल सिन्दूर से पूर्ण है, या लाक्षारस से धुला है, या कुंकुमलिप्त है।' फिर व्यंजनागम्य संशय प्रतीतहोता है — किरणव्रात में सिन्दूर या लाक्षारस या कुंकुमद्रव का संदेह। इस व्यंजनागम्य सन्देह में समानविभक्तिकता की आवश्यकता नहीं है।

---

१. काव्यालंकार — ८।५६-६३

२. काव्यप्रकाश, पृ० ५८८

३. काव्यालंकारसर्वस्व, पृ० ५३

४. ,, पृ० ५३-५५

वाच्य आरोप में उपमान - उपमेय एक विभक्तिक होते हैं, व्यंग्य में नहीं, अत: सन्देहों को अध्यवसानमूलक नहीं मानना चाहिये —

"एवं च सूर्यकिरणधार्मिक: संशयो गुणीभूतो व्यंजनागम्यत्वाद् विषयविषयिणोरारोपानुकूलविभक्तिकतां नापेक्षते । अपेक्षते च साक्षाच्छब्दवेद्यतायामिति कुत्राध्यवसानमूलता संशयस्य ।"[1]

पण्डितराज ने जहां सन्देहालंकार वाचकशब्दों से प्रतीत होने को कहा हो, वहां वाच्य सन्देह, जहां लाक्षणिक शब्दों का प्रयोग हो वहां लक्ष्य सन्देह माना है । इसके अतिरिक्त जहां सन्देह किसी का उपस्कारक न होकर स्वयं प्रधान हो वहां सन्देहध्वनि मानी है ।[2]

सन्देह में कहीं अनेक कोटियों में एक ही समानधर्म होता है, कहीं पृथक्-पृथक् । अत: पंडितराज ने एक अनुगामी धर्म, पृथक् अनुगामी धर्म बिम्ब-प्रतिबिम्बभावापन्न समानधर्म, निर्दिष्ट और अनिर्दिष्ट धर्म के अनुसार भी भेद उदाहृत किये हैं ।[3]

यह सन्देह कभी वास्तविक माना जाता है और कभी आहार्य अर्थात् मिथ्या समझते हुए कल्पित । कवि की कल्पनाभूमि पर ही दोनों में सन्देह उत्पन्न होता है , अत: कविगत सन्देह आहार्य होता है, किन्तु कवि-निबद्ध पात्र में प्राय: अनाहार्य संशय ही निबद्ध होता है , पर कहीं कहीं कवि द्वारा निबद्धमान परनिष्ठ भी सन्देह आहार्य ही होता है ।[4]

सन्देह रूपक की ही भांति परम्परित भी हो सकता है । इस

---

१. रसगंगाधर, पृ० ३४३
२. ,, पृ० ३४५-४६
३ ,, पृ०३४६
४. ,, पृ०३५१-५२

प्रकार पण्डितराज ने सन्देहालंकार के विवेचन में अध्यवसानमूलक सन्देह के सम्बन्ध में अन्तिम रूप से निर्णय कर दिया । उन्होंने सन्देह के वाच्य के अतिरिक्त लक्ष्यात्मक व्यंग्यात्मक, धर्मपरक भेदों का अपूर्व मौलिकता से निरूपण किया । सन्देह के कविनिष्ठ और कविनिबद्ध पात्रनिष्ठ आहार्य-अनाहार्य स्वरूप को बताकर उन्होंने इस प्रसंग को अत्यन्त स्पष्ट रूप से निरूपित कर दिया । इसके अतिरिक्त अप्पयदीक्षित द्वारा प्रदत्त सन्देहध्वनि के उदाहरण के प्रसंग में उन्होंने अत्यन्त निर्मल दृष्टि से ध्वनिकारादिसम्मत इस बात पर बल दिया स्वशब्दवाच्यताके तनिक से भी संस्पर्श से ध्वनित्व समाप्त ही हो जाता है:-

> सर्वथा वाच्यवृत्त्यचुम्बितस्यैव तथात्वमितिध्वनिमार्गप्रवर्तकैः सिद्धान्तितत्वात् ।[१]

---

१. रसगंगाधर, पृ० ३४८

भ्रान्तिमान्

सन्देह में चित्तवृत्ति दोलायमान रहती है, किन्तु भ्रान्ति में मिथ्याज्ञान निश्चयात्मक स्थिति में पहुंच जाता है। प्रकृत में अप्रकृत की मिथ्याज्ञानरूप यह भ्रान्ति जब चमत्कारपूर्ण रूप में काव्य में वर्णित होती है, तो भ्रान्तिमान् अलंकार बन जाती है। पंडितराज ने इसका लक्षण इस प्रकार किया :--

"सदृशे धर्मिणि तादात्म्येन धर्म्यन्तरप्रकारकोऽनाहार्यो निश्चय: सादृश्यप्रयोज्यश्चमत्कारी प्रकृते भ्रान्ति: । सा च पशुपक्ष्यादिगता यस्मिन् वाक्यसन्दर्भेऽनूद्यते स भ्रान्तिमान् ।।"[1]

अर्थात् सादृश्ययुक्त धर्मी में अभेद सम्बन्ध से, अन्य किसी धर्मी का वास्तविक समझा हुआ और सादृश्य द्वारा सिद्ध होने वाला निश्चय, चमत्कारयुक्त होने पर, अलंकार प्रकरण में, भ्रान्ति कहलाता है। वह पशु-पक्षी आदि में रहने वाली भ्रान्ति जिस वचनसन्दर्भ में रहती है वह सन्दर्भ भ्रान्तिमान् कहलाता है।

अलंकार का नाम 'भ्रान्ति' ही है। उसे 'भ्रान्तिमान्' नाम से व्यवहृत करना औपचारिक ही है। जिस सन्दर्भ में प्रमाता से भिन्न अर्थात् कवि से अतिरिक्त का भ्रान्तिरूपी बोध अनूदित होता है, वह सन्दर्भ 'भ्रान्तिमान्' कहलाता है, अलंकार अर्थ में तो यह शब्द लाक्षणिक ही है।[2]

---

१. रसगंगाधर, पृ० ३५३

२. ,, पृ० ३५३

मीलित, सामान्य और तद्गुण अलंकारों में अतिव्याप्ति वारणार्थ लक्षण में 'धर्मी' पद को दो बार ग्रहण किया गया। इन अलंकारों में एक धर्मी में अन्य धर्मी का निश्चय नहीं होता, अपितु धर्मों का होता है।

रूपक के बोध में अतिव्याप्ति वारण के लिए 'अनाहार्य' अथवा 'कविगतभिन्न' विशेषण दिया। क्योंकि रूपक में अभेद का बोध वास्तविक नहीं, अपितु आहार्य होता है। सन्देह के वारणार्थ 'निश्चय' तथा लौकिक भ्रम में अतिव्याप्ति वारण के लिए 'चमत्कारी' पद सन्निविष्ट किये गये हैं :—

'अकरुणहृदय प्रियतम मुञ्चामि त्वामितः परं नाहम्।
इत्यालपति कराम्बुजमादायालीजनस्य विकला सा ।।'

ओ निर्दयहृदय प्रियतम, अब मैं तुम्हें नहीं छोड़ने वाली। इस तरह विकल वह, सखीजन का करकमल लेकर बातें करती है।

नायिकासंदेशहारक की इस उक्ति में अभिव्यक्त 'उन्माद' में अतिव्याप्तिवारण के लिये 'सादृश्यप्रयोज्य' पद का सन्निवेश आवश्यक है। 'निश्चयः' पद में एकवचन स्पष्ट कर देता है कि एक ही निश्चय में भ्रान्ति होती है, अनेक ज्ञाता और अनेक विशेषण वाली एक विशेष्य वाली भ्रान्तियों के समुदाय में तो 'उल्लेख' अलंकार ही होता है।[1]

पण्डितराज ने अत्यन्त विशद रूप में भ्रान्तिमान् को परिभाषित कर दिया। भ्रान्तिमान् का सर्वप्रथम उल्लेख रुद्रट ने किया। रुद्रट ने अपने लक्षण में अर्थविशेष को देखते हुए तत्सदृश अन्य को निःसन्देह सादृश्य प्रतिपत्ता के बोध को ही भ्रान्तिमान कहा।[2] नमिसाधु ने 'अर्थविशेष' का तात्पर्य

---

१. रसगंगाधर, पृ० ३५४
२. काव्यालंकार, ८.८७

उपमान बताया है ।[१] रुद्रट के आधार पर ही मम्मट और रुय्यक ने भी लक्षण बनाया ।[२] विद्यानाथ, विद्याधर तथा विश्वनाथ ने रुय्यक का ही अनुकरण किया ।[३]

पण्डितराज ने अप्पयदीक्षित के लक्षण की आलोचना की है —

' कविसंमतसादृश्याद्विषये पिहितात्मनि ।
आरोप्यमाणानुभवो यत्र स भ्रान्तिमान्मत: ।। '[४]

अर्थात् जिस वाक्य में कवि सम्मत सादृश्य के द्वारा उस विषय (उपमेय) में जिसका स्वरूप छिपा गया है — विषयी का अनुभव हो, वहां भ्रान्तिमान् होता है ।

पण्डितराज ने इस लक्षण में अनेक दोषों को दिखाया है —

(१) अप्पय ने यह लक्षण ' भ्रान्तिमान् ' अर्थात् भ्रान्तिवाले काव्य वाक्य का किया है, अत: उसकी अतिव्याप्ति रूपक में नहीं, रूपक काव्य वाक्य में होगी । रूपक वाक्य में आरोप्यमाण (विषयी) का अनुभव होता नहीं, अपितु उससे उत्पन्न होता है । अत: यह लक्षण वहां अतिव्याप्त होता ही नहीं , फिर उसके वारण के लिये ' पिहितात्मनि ' सन्निवेश व्यर्थ है ।

(२) यदि दीक्षित लक्षण के दो अंश मानें, 'कविसम्मत' से 'अनुभव' पर्यन्त 'भ्रान्ति' का और तदनन्तर 'भ्रान्तिमान्' का लक्षण स्वीकार करें, इस तरह अतिव्याप्ति मानें तो भी पण्डितराज अतिव्याप्ति नहीं मानते,

---

१. काव्यालंकार,टीका, पृ० ११७
२. काव्यप्रकाश, १०. ४६ , अलंकारसर्वस्व, पृ०—५५
३. प्रतापरुद्रयशोभूषण, पृ० —३८०, एकावली, पृ० — २२५ , साहित्यदर्पण, — १०।३६
४. चित्रमीमांसा, पृ० २२०

क्योंकि भ्रान्ति स्वयं अनुभव रूप है और रूपक अनुभव में आने वाला विषय है , भ्रान्ति का लक्षण रूपक में कैसे लगेगा ?

(३) यदि 'रूपक' का अर्थ रूपकानुभव लें और तब अतिव्याप्ति वारण के लिये 'पिहितात्मनि' सन्निवेश करें, तो यह लक्षण शुद्ध सन्देह में अतिव्याप्त होगा । क्योंकि वहां उपमेय स्वरूप छिपा होता है और उसमें उपमान का अनुभव होता है । [१]

पण्डितराज ने रुय्यक का लक्षण भी सदोष पाया । उनका लक्षण है —

सादृश्याद्वस्त्वन्तरप्रतीतिर्भ्रान्तिमान् ।

अर्थात् सादृश्य के कारण एक वस्तु में अन्य की प्रतीति भ्रान्तिमान् है ।

इसमें सादृश्य के कारण वस्त्वन्तरप्रतीति को भ्रान्तिमान् कहा किन्तु ऐसी प्रतीति तो सन्देह और उत्प्रेक्षा में भी है, अत: ये लक्षण वहां अतिव्याप्त होगा ।

यदि प्रतीति का अर्थ निश्चय लें, तो भी रूपक में अतिव्याप्ति होगी ।

यदि 'वस्त्वन्तरनिश्चय' ऐसा लें जो विषयतावच्छेदक (मुखत्वादि) से असंसृष्ट हो, तो भी अतिशयोक्ति में अतिव्याप्ति रहेगी ही, क्योंकि अतिशयोक्ति में विषय का ज्ञानविषय रूप नहीं होता, अपितु उसमें विषयी का ही निश्चय होता है ।

यदि इन सारे दोषों से मुक्ति के लिये 'अनाहार्य' विशेषण लगावें तो प्रथमत: उसका पर्यवसान पण्डितराज की उक्ति में ही होगा, दूसरे

---

१. रसगंगाधर, पृ० ३५४-५५

यह लक्षण भ्रान्तिका ही होगा, भ्रान्तिमान् का नहीं ।[१]

इस प्रकार पण्डितराज ने सर्वथा निर्दुष्ट लक्षण प्रदान कर भ्रान्तिमान् के सारे पक्ष को सामने निर्मल रूप में उपस्थित कर दिया । उन्होंने यह भी बताया कि भ्रान्तिमान् में पूर्ववत् ही अनेक प्रकार का समान धर्म रहता है । अप्पय के भिन्नकर्तृक उत्तरोत्तर भ्रान्ति के उदाहरण में भी दोष दर्शन करा कर उन्होंने अपनी सावधान दृष्टि का परिचय दिया ।

उल्लेख

उल्लेख वहां होता है, जहां कवि किसी पदार्थ का इस तरह वर्णन करता है कि उसके तत्तत् गुण के कारण अलग-अलग व्यक्ति उसे अलग-अलग ढंग से देखता है। उस पदार्थ का अलग-अलग ग्रहीता के साथ अलग अलग वर्णन किया जाता है। इसके अतिरिक्त एक ही ग्रहीता के अनेक विषयों के अनेक प्रकार के अनुभवों का अनेक प्रकार से वर्णन करने पर द्वितीय प्रकार का उल्लेख होता है। पण्डितराज ने दोनों प्रकार के उल्लेख का अलग-अलग लक्षण बनाया है :-

> एकस्य वस्तुनो निमित्तवशाद्यदनेकैर्ग्रहीतृभिरनेकप्रकारकं ग्रहणं तदुल्लेखः।[1]

तथा

यत्रासत्यपि ग्रहीत्रनेकत्वे विषयाश्रयसमानाधिकरणादीनां सम्बन्धिनामन्यतमानेकत्वप्रयुक्तमेकस्य वस्तुनोऽनेकप्रकारत्वम्।।[2]

अर्थात् एक वस्तु का निमित्तों के अधीन होकर अनेक ज्ञाताओं द्वारा अनेक प्रकार का ज्ञान उल्लेख है।

तथा

जहां ज्ञाताओं के अनेक होने पर भी विषय, आश्रय तथा समानाधिकरण आदि में से किसी की अनेकता के कारण एक वस्तु के अनेक प्रकार हों।

प्रथम उल्लेख के लक्षण में 'अनेकैः ग्रहीतृभिः' विशेषण मालारूपक में अतिव्याप्ति वारण के लिये है। किन्तु बहुत ग्रहीता ही नहीं, दो ग्रहीता हो, तो भी उल्लेख हो सकता है। 'ग्रहण' से तात्पर्य 'ग्रहणसमुदाय' अर्थात्

---

१. रसगंगाधर, पृ० ३५८
२. ,, पृ० ३६१

ज्ञानसमुदाय से है ।` निमित्तवशात्` विशेषण ज्ञानस्वरूप स्पष्ट करने केलिये है ।

पण्डितराज ने दोनों उल्लेखों के पृथक्करण पर सुन्दर प्रकाश डाला प्रथम उल्लेख में` ज्ञानसमुदाय` को अलंकार माना गया है और द्वितीय में `प्रकार-समुदायमात्र को :—

` प्रथमनिरूपितोल्लेखप्रकारे ...... तत्तद्गृहीतृकतत्तत्प्रकारकज्ञानसमुदायस्य चमत्कारजनकताया अनुभवसिद्धत्वेन अलंकारत्वम् । द्वितीये तु प्रकारे ...... तत्तद्विषयभेदभिन्नस्य प्रकारसमुदायमात्रस्य तथात्वम् ।` [१]

किन्तु पण्डितराज ने `परे` के नाम से यह द्वितीय मत भी सामने रखा कि दोनों ही भेदों में` वर्णनीय के अंदर विद्यमान रूप में भासित प्रकारसमुदाय` ही उल्लेख है । आशय यह है कि प्रथम निरूपित उल्लेख में भी` प्रकारसमुदाय को ही उल्लेख मानना चाहिये ।[२]

उल्लेख का सर्वप्रथम निरूपण रुय्यक ने किया । उन्होंने उभयविध उल्लेख का एक ही लक्षण बनाया ।[३] शोभाकर और विश्वनाथ भी दोनों प्रकारों का एक साथ लक्षण देते हैं ।[४] विद्याधर तथा विद्यानाथ संभवत: प्रथम प्रकार के भेद को ही उल्लेख मानते हैं ।[५]

पण्डितराज ने उल्लेख के विवेचन में मिश्रित उल्लेख की भी चर्चा की है । इसी प्रकार फलों के उल्लेख पर फलोल्लेख तथा हेतुओं के उल्लेख पर हेतूल्लेख की भी चर्चा की है । उन्होंने उल्लेख के उदाहरण भी प्रस्तुत किये ।

----

१. रसगंगाधर, पृ० ३६४
२. ,, पृ० ३६४
३. अलंकारसर्वस्व, पृ० ५८
४. अलंकाररत्नाकर—सूत्र ३४, साहित्यदर्पण—१०।३७
५. एकावली, ८।१०
प्रतापरुद्रयशोभूषण, पृ० ३८२

अपह्नुति

पण्डितराज ने अपह्नुति का लक्षण इस प्रकार लिखा:—

उपमेयतावच्छेदकनिषेधसामानाधिकरण्येनारोप्यमाणमुपमान-
तादात्म्यमपह्नुति: ।"[1]

अर्थात् उपमेयतावच्छेदक 'मुखत्वं' आदि के निषेध का निषेध करते हुए समानाधिकरण्य द्वारा आरोपित ~~कवि~~ किया जाने वाला उपमान का तादूप्य 'अपह्नुति' कहलाता है ।

यहाँ 'उपमेयतावच्छेदकनिषेधसामानाधिकरण्येन' —इतना अंश रूपक के वारण के लिये गृहण किया गया है । रूपक तथा अपह्नुति दोनों में ही आरोप होता है, अत: रूपक का वारण करने के लिये अपह्नुति लक्षण में विषय-निषेध का गृहण होता है । रूपक में उपमेय और उपमान दोनों में सामानाधि-करण्य प्राप्त होता है, किन्तु अपह्नुति में उपमेयतावच्छेदक का निषेध होने से उपमेयतावच्छेदक तथा उपमानतावच्छेदक का विरोध प्रतीत होता है । रूपक में यह विरोध दोनों के समानाधिकरण्य के कारण प्रतीत नहीं होता :—

" अस्यां चोपमेयतावच्छेदकस्य निषेधादुपमेयता ~~वच्छेदका~~पमानताव-च्छेदकयोर्विरोधो गम्यते । रूपके तु तयो: सामानाधिकरण्यप्रत्ययात्स निवर्तते ।"[2]

पण्डितराज ने अपह्नुति वहीं मानी है, जहाँ निषेधमूलक आरोप आहार्य हो । अतएव उन्होंने लक्षण में आये 'आरोप्यमाण' पद का अर्थ 'आहार्यनिश्चयविषयीक्रियमाण' किया है । आहार्य से तात्पर्य है, जहाँ ~~कवि~~ कवि मिथ्या जानते हुए भी कल्पना से मुखादि में चन्द्रत्वादि का आरोप, संभा-

---

१. रसगंगाधर, पृ० ३६६

२. ,, पृ० ३६६

बना या अभेद कर लेता है, किन्तु 'अनाहार्य निश्चय' वहां होता है जहां किसी अन्य वक्ता के किसी दोषविशेषजन्य ज्ञान का वर्णन करता है। अनाहार्य ज्ञान के ऐसे स्थलों में पण्डितराज ने अपह्नुति का निषेध किया है --

"नत्वपह्नुत्यलंकार: तज्ज्ञानस्य दोषविशेषजन्यत्वेनानाहार्यत्वात्, किन्तु भ्रान्त्यलंकार एव।"[१]

अपह्नुति का सर्वप्रथम उल्लेख भामह में प्राप्त होता है।[२] उन्होंने वहां अपह्नुति माना जहां औपम्य के आधार पर वास्तविक अर्थ का अपह्नव किया जाय और वह कवि को अभीष्ट हो। उद्भट ने भी भामह के अनुसार ही लक्षण लिखा।[३] दण्डी ने शुद्ध अपह्नुति अलंकार के अतिरिक्त उपमापह्नुति तथा तत्वापह्नवरूपक का भी उल्लेख किया है।[४] अब अपह्नुति के सम्बन्ध में स्पष्टत: दो मत दिखाई पड़ते हैं। भामह, उद्भट, वामन[५] रुद्रट,[६] मम्मट,[७] रुय्यक,[८] विद्यानाथ,[९] विद्याधर,[१०] पण्डितराज तथा विश्वेश्वर पंडित[११] केवल साधर्म्यसम्बन्ध में अपह्नुति मानते हैं और दण्डी, शोभाकर,[१२] जयदेव,[१३]

---

१. रसगंगाधर, पृ० ३६८

२. काव्यालंकार--३।२१

३. उद्भट-- ५।३

४. काव्यादर्श --२।३०४, २।३०६, २।९५

५. काव्यालंकारसूत्रवृत्ति--४।३।५

६. काव्यालंकार--८।५७

७. काव्यप्रकाश, पृ० ६०६

८. अलंकारसर्वस्व, पृ० ६३

९. प्रतापरुद्रयशोभूषण, पृ० ३८०

१०. एकावली, पृ० २२८

११. अलंकारकौस्तुभ, पृ० २३५

१२. "एवं च नोपमेयस्यैव निषेधे पह्नुति: क्वचिदुपमानस्यापि निषेधात्, नापि प्रकृतस्यैव निषेधो प्युपादाहृतत्वात्।"
--- अलंकाररत्नाकर, पृ० ४३

१३. चन्द्रालोक--५।२४-२६

विश्वनाथ [१] तथा अप्पयदीक्षित [२] इतर सम्बन्ध में भी अपह्नुति स्वीकार करते हैं।

अपह्नुति को सादृश्येतरसम्बन्ध में भी मानने के पक्षपाती अप्पय-दीक्षित ने जयदेव अपह्नुति के पांच भेद में एक और जोड़ कर छ: भेद माने हैं -- अपह्नुति, पर्यस्तापह्नुति, भ्रान्तापह्नुति, छेकापह्नुति, कैतवापह्नुति तथा हेत्वपह्नुति। पण्डितराज ने 'पर्यस्तापह्नुति' भेद का खंडन किया और बतया कि यहां अपह्नुति का सामान्य लक्षण लागू नहीं होता। इसमें काव्यप्रकाश का लक्षण भी प्रवृत्त नहीं होता, क्योंकि यहां उपमेय को नहीं, उपमान को झूठा ठहराया जा रहा है। अलंकारसर्वस्व का लक्षण -- 'विषयापह्नवेवस्त्वन्तर-प्रतीतापह्नुति :' -- अर्थात् उपमेय के अपह्नव होने पर अन्य वस्तु की प्रतीति को अपह्नुति कहते हैं --भी नहीं प्रवृत्त होता, क्योंकि यहां विषय का निषेध कर अन्य वस्तु की प्रतीति नहीं कराई गयी है। स्वयं 'चित्रमीमांसा' में लिखित लक्षण भी लागू नहीं होता। लक्षण है :--

' प्रकृतस्य निषेधेन यदन्यत्वप्रकल्पनम् ।
साम्यादपह्नुतिर्वाक्यभेदाभेदवती द्विधा ।।' [३]

अर्थात् उपमेय का निषेध कर के, सादृश्य के कारण, अन्य होने की कल्पना को अपह्नुति कहते हैं। यह वाक्य के भेद और अभेद से दो प्रकार की होती है।

'नायं सुधांशु किं तर्हि सुधांशु प्रेयसीमुखम्' इस उदाहरण में उप-मेयतावच्छेदक और उपमानतावच्छेदक का सामानाधिकरण्य स्पष्टत: प्रतीत होता है। अपह्नुति में उपमेयतावच्छेदक का पुरस्कार कर उसका निषेध किया जाता है। अत: यहां 'प्रेयसीमुख' पर 'सुधांशु' का आरोप रूपक ही सिद्ध करता है।

---

१. साहित्यदर्पण -- १०।३८

२. चित्रमीमांसा -- पृ० २३७ -- ४४

३. ,, पृ० २३७

फलत: ऐसे स्थलों पर `पर्यस्तापह्नुति` न कह कर हटारोपक ही स्वीकार करना चाहिए । विमर्शिनीकार जयरथ ने भी ऐसे स्थलों पर रूपक ही माना है ।[१]

पण्डितराज ने सावयव और निरयव अपह्नुतियां बता कर अपह्नुति के अन्य भेदों की चर्चा की है । वे वाक्यभेद , वाक्याभेद,अपह्नवपूर्वकत्व, आरोप-पूर्वकत्व, उपमान ताद्रूप्यउपमेयनिषेध में से एक का शाब्दत्व और दूसरे के आर्थत्व दोनों के ही शाब्दत्व-आर्थत्व, विधेयत्व एवम् अनुवादत्व को आधार पर भेदों की संभावनाओं की चर्चा करते हैं, किन्तु इस प्रकार के भेदों को प्रोत्साहन नहीं देते ।

पण्डितराज ने अपह्नुतिध्वनि के लिये अप्पयदीक्षित द्वारा दिये गये उदाहरण का खंडन किया है । नागेश ने अप्पय के उदाहरण को दंडी के लक्षण के अनुसार मान कर समर्थित करने का यथाकंचित् प्रयास किया,[२] किन्तु वह व्यर्थ ही रहा, क्योंकि दीक्षित ने अपना लक्षण तो दण्डी के समान बनाया नहीं, उदाहरण दण्डी के अभिमत लक्षण के अनुसार दिया ।

---

१. विमर्शिनी, अलंकारसर्वस्व, पृ० ६३

२. रसगंगाधर, गुरुमर्मप्रकाश, पृ०- ३७४

उत्प्रेक्षा

भामह से लेकर पंडितराज तक सभी आलंकारिकों ने उत्प्रेक्षा को स्वीकार किया है। इस महत्वपूर्ण अलंकार के विवेचन में पंडितराज ने गंभीर पाण्डित्य का प्रदर्शन किया है। उत्प्रेक्षा का लक्षण उन्होंने इस प्रकार लिखा:—

"तद्भिन्नत्वेन तदभाववत्वेन वा प्रमितस्य पदार्थस्य रमणीय तद्वृत्तितत्सामानाधिकरण्यान्यतरतद्धर्मसम्बन्धनिमित्तकं तत्वेन तद्वत्वेन वा संभावनमुत्प्रेक्षा।" १

अर्थात् जिसका जिस पदार्थ से भिन्न होना यथार्थतया ज्ञात हो, उस पदार्थ की वैसे भिन्न पदार्थ के रूप में की जाने वाली ऐसी संभावना, जो उभय पदार्थनिष्ठ सुन्दरधर्मनिमित्तक हो,

अथवा

जिसका जिस धर्म के अभाव से युक्त होना यथार्थतया ज्ञात हो, उस पदार्थ में वैसे धर्म से युक्त होने की ऐसी संभावना, जो उस धर्म के साथ रहने वाली किसी सुन्दर वस्तु धर्म को निमित्त मान कर की गयी हो, उत्प्रेक्षा कहलाती है।

पण्डितराज ने इस लक्षण में 'तद्भिन्नत्वेन प्रमितस्य' पद संभावना की आहार्यता बताने के लिये रखा। इसी प्रकार 'रमणीयतद्धर्मनिमित्तक' आदि शब्द साभिप्राय हैं। निमित्तधर्म को 'रमणीय' मानने से चमत्कारहीन 'स्थाणुनानेन भवितव्यम्' इत्यादि स्थलों में अतिव्याप्ति नहीं होती। 'संभावन' पद के सन्निवेश से 'रूपक' में अतिव्याप्ति का वारण होता है, क्योंकि वहां बोध

---

१. रसगंगाधर, पृ० ३७४

संभावना नहीं, अपितु निश्चय रूप होता है।

पण्डितराज ने धर्म्युत्प्रेक्षा और धर्मोत्प्रेक्षा दोनों के संग्रह के लिये पृथक् पृथक् लक्षणादल रखे। धर्म्युत्प्रेक्षा में किसी पदार्थ की अन्य पदार्थ के रूप में उत्प्रेक्षा की जाती है, किन्तु धर्मोत्प्रेक्षा में किसी धर्म की किसी ऐसे धर्मी में उत्प्रेक्षा की जाती है, जिस धर्मी का उस धर्म के साथ सम्बन्ध हो

" अत्र च तादात्म्येन संसर्गेण धर्म्युत्प्रेक्षाया:, संसर्गान्तरेण धर्मोत्प्रेक्षायाश्च संग्रहायैकोक्त्या लक्षणद्वयं विवक्षितम्।"[१]

उत्प्रेक्षा के भेद :—

पण्डितराज ने उत्प्रेक्षा के प्रथमत: वाच्या और प्रतीयमाना — दो भेद बताये हैं। जहां उत्प्रेक्षा की सामग्री इव, नूनम्, मन्ये, जाने, अवैमि, ऊहे, तर्कयामि, शंके, उत्प्रेक्षे इत्यादि और क्यङ्, आचारक्विप् आदि उत्प्रेक्षा प्रतिपादक शब्दों सहित हो वहां वाच्योत्प्रेक्षा कहलाती है और जहां प्रतिपादक शब्द न हो, किन्तु सामग्रीमात्र वहां प्रतीयमाना उत्प्रेक्षा कहलाती है। यह प्रतीयमाना इसलिये कहलाती है, क्योंकि यह `अर्थसामर्थ्यावसेय` है। इसे `व्यंग्या` अथवा ध्वनिरूपा कहने के भ्रम में नहीं पड़ना चाहिये :—

" वाचकानामिवादीनां त्यागे प्रतीयमाना, अर्थसामर्थ्यविसेयत्वात्, न तु व्यंग्येति भ्रमितव्यम्, तस्या: प्रकृते प्रसंगाभावात्।"[२]

इन दोनों उत्प्रेक्षा भेदों के पुन: तीन-तीन भेद होते हैं — स्वरूपोत्प्रेक्षा, हेतूत्प्रेक्षा, फलोत्प्रेक्षा। जाति, गुण, क्रिया और द्रव्यरूप तथा इनके अभावरूप पदार्थों के अभेद सम्बन्ध द्वारा अथवा अन्य किसी सम्बन्ध द्वारा जाति, गुण, क्रिया,रूप अलग-अलग अथवा सम्मिलित शब्द द्वारा वर्णित

---

१. रसगंगाधर, पृ० ३७६

२. ,, पृ० ३८६

और सिद्ध अथवा, साध्य - धर्मों को निमित्त मान कर यथासंभव जाति, गुण, क्रिया और द्रव्यरूपी विषयों से उत्प्रेक्षा स्वरूपोत्प्रेक्षा कहलाती है।

उपर्युक्त प्रकार पदार्थों की उस प्रकार के पदार्थों में उपर्युक्त प्रकार के निमित्तों द्वारा यथासंभव हेतुरूप से अथवा फलस्वरूप से संभावना की जाय तो क्रमश: हेतूत्प्रेक्षा और फलोत्प्रेक्षा होती है। इसके अतिरिक्त उत्प्रेक्षा माला-रूप भी हो सकती है।

किन्तु पण्डितराज ने जात्यादि के आधार पर किये गये प्राचीनों के सम्मत भेदों को समर्थित नहीं किया है, क्योंकि इनके चमत्कार में विलक्षणता नहीं है। चमत्कारवैलक्षण्य तो स्वरूपोत्प्रेक्षा, फलोत्प्रेक्षा और हेतूत्प्रेक्षा— इन तीन भेदों में ही है —

'इह जात्यादयो हि भेदा: प्राचामनुरोधात् उदाहृता:। वस्तु-तस्तु नैषां चमत्कारे वैलक्षण्यमस्तीत्यनुदाहार्यतैव। चमत्कारवैलक्षण्यं पुनर्हेतुफल-स्वरूपात्मकानां त्रयाणां प्रकाराणामेवेति।' [1]

विषय के उपात्त होने में तो उत्प्रेक्षा के पूर्वोक्त सारे भेद होते ही हैं, किन्तु कहीं यह विषय अपह्नुति भी हो सकता है :—

> 'विषयोऽप्युपात्तो निरूपित एव। क्वचिदममपह्नुतोऽपि भवति।' [2]

निमित्त धर्म — स्वरूपोत्प्रेक्षा में निमित्त रूप धर्म उपमा की ही तरह प्रति-बिम्बभाव आदि भेदों से युक्त होता है। वह कहीं उपात्त और कहीं अनुपात्त होता है। किन्तु हेतूत्प्रेक्षा और फलोत्प्रेक्षा में तो उसी धर्म के प्रति हेतु और फलका निरूपण किया जाता है, अत: वह धर्म कल्प्यमान होने पर भी 'उत्प्रेक्षा

---

१. रसगंगाधर, पृ० ३८--८६

२. रसगंगाधर, पृ० ४०६

के विषय में रहने वाले साहजिक धर्म से अभिन्न माना जाता है और वही उत्प्रेक्षा का निमित्त होता है। अत: वह धर्म उपात्त ही होता है, अनुपात्त नहीं अन्यथा हेतु और फल का अन्वय किसके साथ किया जा सकेगा ? उत्प्रेक्षा का निमित्त रूपक धर्म स्वत: साधारण और साधारणीकरण के उपाय से साधारण बना लिया जाने वाला — यह दो प्रकार का होता है। असाधारण को साधारण धर्म बनाने के उपाय हैं — रूपक, श्लेष, अपह्नुति, बिम्बप्रतिबिम्बभाव उपचार तथा अभेदाध्यवसायरूप अतिशय "द्विविधो ह्येतावद्धर्मोऽपि — स्वत एव साधारण: साधारणीकरणोपायेनासाधारणोऽपि साधारणीकृतश्च। स चोपाय: क्वचिद्रूपकं, क्वचिच्छ्लेष:, क्वचिदपह्नुति:, क्वचिद्बिम्बप्रतिबिम्बभाव: क्वचिदुपचार:, क्वचिदभेदाध्यवसायरूपोऽतिशय:।"[1]

कहीं-कहीं उपात्त रहने पर भी, या तो विषय-विषयी दोनों में साधारण न होने से, या असुन्दर होने से, स्वयं उत्प्रेक्षा को साक्षात् उल्लसित करने में असमर्थ होता है, तथापि उत्प्रेक्षोल्लासक किसी अन्य धर्म के उपस्थित करने में अनुकूल होकर उपयोगी होता है।

शाब्दबोध:— विषयी की विषय में उत्प्रेक्षा अभेद सम्बन्ध से ही होता है, अन्य किसी सम्बन्ध से नहीं, चाहे विषय धर्मिरूप हो या धर्मरूप। 'मुखं चन्द्रं मन्ये' इत्यादि धर्मिस्वरूपोत्प्रेक्षा में विषयी चन्द्र का विषय मुख से अभेद स्पष्ट ही है। दो प्रातिपदिकार्थों का भेदसंबन्ध से अन्वय अव्युत्पन्न ही है। यहां विषय--'मुख' शब्दत: प्रतिपादित है, अत: यह उपात्तविषया है।

इसी तरह 'अस्यां मुनीनामपि मोहमूहे' (नैषधीयचरित ७।६४) में भी मुनिसम्बन्धी अन्य (देखना) धर्मरूपी विषय में विषयी (दमयन्ती विषयक मोह) की अभेद सम्बन्ध से उत्प्रेक्षा है। यहां विषय का अनुपादान उत्प्रेक्षा के साध्यवसाना--विषय विषयी में अन्त:प्रविष्ट होने से संगत हो

---

१. रसगंगाधर, पृ० ४०४-४०५

जाता है। निमित्तधर्म 'तत्तदर्थंगासक्तवृत्तित्व' है ही।

इसी प्रकार `लिम्पतीव तमोऽङ्गानि वर्षतीवांजनं नभः` इत्यादि में प्रथमान्तकर्ता (अंधकार और आकाश) में `लेपन` और `वर्षण` रूपी क्रियाओं के कर्तृत्व की उत्प्रेक्षा नहीं है। यह कर्तृत्व आख्यात (लिम्पति` के `ति के अर्थ (आश्रय) का विशेषण है, अत: वाक्य का प्रधान अंश नहीं, अपितु एक देश है। अत: अमुख्य होने के कारण `कर्तृत्व` धर्म की उत्प्रेक्षा नहीं की जा सकती। इसी प्रकार `लेपन` की भी उत्प्रेक्षा नहीं हो सकती। उत्प्रेक्षा `तम:कर्तृक अंग-कर्मक लेपन` की तथा `तम:कर्तृक अंजन कर्मक वर्षण` की ही होती है। उत्प्रेक्ष्य-माण `लेपन` और `वर्षण` द्वारा `तम:कर्तृकव्यापन` का निगरण हो जाता है, अत: उपादान नहीं है। फलत: यह अनुपात्तविषया उत्प्रेक्षा है। निमित्त-धर्म `` श्यामीकारकत्व` आदि भी अनुपात्त है। इस प्रकार स्वरूपोत्प्रेक्षा की गुणरूप और क्रियारूप धर्मों की उत्प्रेक्षा के दोनों ही स्थलों मे अभेदसम्बन्ध ही है। प्राचीनों की इस मान्यता के प्रमाण में पण्डितराज ने मम्मट का समर्थन किया —

` अतएव` संभावनमथोत्प्रेक्षा प्रकृतस्य समेन यत्` इति लक्षणं विधायो-क्तम् `व्यापनादि लेपनादिरूपतया संभावितम्` इति मम्मट भट्टै: ।` [१]

इसी प्रकार हेतूत्प्रेक्षा और फलोत्प्रेक्षा में भी प्राचीन आचार्य अभेद सम्बन्ध से ही विषय और विषयी का उत्प्रेक्षण मानते हैं।

इस प्रसंग में नवीन विद्वान् पण्डितराज का मत है कि अभेद सम्बन्ध-मात्र से उत्प्रेक्षा में कोई प्रमाण नहीं है। बल्कि लक्ष्यों में -` अस्या मुनीनामपि मोहमूहे इत्यादि स्थलों में --भेदसम्बन्ध से भी उत्प्रेक्षा दीख पड़ती है :—

---

१. रसगंगाधर, पृ० ३६१

' नह्यभेदेनैवोत्प्रेक्षामिति वेदेन बोधितम् , यदर्थमयमाग्रह: स्यात्, लक्षणनिर्माणस्य पुरुषाधीनत्वात् ।' [१]

'लिम्पतीव तमोऽङ्गानि' इत्यादि स्थल में अंधकार' आदि विषय में लेपनकर्तृत्व की ही उत्प्रेक्षा होती है। नवीन लोग अनुकूलव्यापारात्मक कर्तृत्व' को ही आख्यात का अर्थ स्वीकार करते हैं। उसका प्रथमान्त विशेष्य में आश्रयतासंसर्ग से अन्वय मान लेने पर कोई दोष नहीं रहता—

' तस्य च प्रथमान्ते विशेष्ये आश्रयतासंसर्गेणान्वयान्न दोष: ।' [२]

पण्डितराज वैयाकरणविरुद्ध मत स्वीकार करने में हिचकते नहीं—
न च वैयाकरणमतविरोधो दूषणमिति वाच्यम्, स्वतन्त्रेण आलंकारिक तन्त्रास्य तद्विरोधस्यादूषणत्वात् ।' [३]

'लिम्पतीव तमोऽङ्गानि' इत्यादि तिङन्त पदों वाली उत्प्रेक्षा में भेद सम्बन्ध (आश्रयदाता) अथवा अभेद संबंध से तिङर्थ की प्रथमान्त पद के अर्थ अन्धकार आदि में उत्प्रेक्षा की जा रही है। यहां उत्प्रेक्षा का विषय 'अंधकार' और 'आकाश' है, व्याप्त होना' नहीं। वैयाकरण मत मानने पर सर्वजनसिद्ध 'इवादि' की विधेयता नहीं बन पाती क्योंकि उद्देश्यविधेयभाव के लिए उद्देश्य और विधेय का अलग-अलग पदों से बोधित होना आवश्यक है। इसके अतिरिक्त 'लेपन' में व्याप्त होने का अध्यवसान मानने पर 'तम:कर्तृक - लेपनमिव' इत्यादि उद्देश्यबोधकशक्त वाक्य से भी उत्प्रेक्षा की प्रतीति होने लगेगी। नवीन मत में केवल निमित्त बनाने के लिये लेपनादि में व्यापनादि को

---

१. रसगंगाधर, पृ० २८३
२. ,, पृ० ३८३-८४
३. ,, पृ० ३८६

निर्गीर्ण माना जाता है, अनुपात्तविषय । और अध्यवसानमूला बनाने के लिए नहीं । निमित्त के अनुपात्त और अध्यवसानमूलक होने मात्र से अलंकार की अध्यवसान मूलकता मानने पर तो रूपक को भी अनुपात्तविषय और अध्यवसानमूलक मानना पड़ेगा । अत: निमित्त भाग के अध्यवसान में तो अतिशयोक्ति ही माननी चाहिए ।

पण्डितराज ने धर्मोत्प्रेक्षा की भाँति हेतूत्प्रेक्षा और फलोत्प्रेक्षा में भी अभेदसम्बन्ध से ही उत्प्रेक्षा के सिद्धान्त को अस्वीकार किया और अप्पयदीक्षित का खंडन किया —

' एतेन यदा हेतुफलधर्मस्वरूपोत्प्रेक्षोदाहरणेष्वपि तादात्म्येनैवोत्प्रेक्षा' इति प्राचां मतमनुसरता द्रविडपुंगवेन यदुक्तं तदपि परास्तम् ।'[१]

अलंकारसर्वस्वकार का मत :-

रुय्यक ने 'अध्यवसाय' को दो प्रकार का माना - स्वारसिक और उत्पादित । स्वारसिक अध्यवसाय में 'विषय' का अवगम ही नहीं होता, क्योंकि स्वरसत: अर्थात् अनाहार्यत: विषय प्रतीति का उल्लास होता है । उत्पादित ~~लेस~~ में विषय और विषयी का तादात्म्य उत्पादित होता है क्योंकि विषय और विषयी के वास्तविक भेद का ज्ञान रहता है । यहां तादात्म्य किसी निमित्तवश होता है । स्वारसिक अध्यवसाय तो 'भ्रान्ति' में होता है । उत्पादित अध्यवसाय भी दो प्रकार का होता है —सिद्ध और साध्य । सिद्ध वह है, जहां विषय के अनुपात्त होने के कारण निगीर्ण होने से अध्यवसित प्राधान्य हो और साध्य वह है, जहां 'इव' आदि के उपादान के कारण संभावनाप्रत्ययात्मक होने से विषय का निगरण होता है, अतएव अध्यवसाय क्रिया प्रधान होती है । इसीलिये यहां कभी-कभी विषय का उपादान नहीं होता —

---

१. रसगंगाधर, पृ० ३६८-६६

' सिद्धौ यत्र विषयस्यानुपात्ततया निगीर्णत्वादध्यवसितप्राधान्यम् साध्यौ यत्रैवाद्युपादानात् संभावनाप्रत्ययात्मकत्वाद्विषयस्य निगीर्यमाणत्वादध्यवसायक्रियाया एव प्राधान्यम् ।' [१]

उत्प्रेक्षा में यही साध्यअध्यवसाय होता है । नागेश के अनुसार लक्षणा पर आधृत है, यह प्राचीनों का अभिप्राय है :--

' तात्पर्यानुपपत्त्यैव च लक्षणा । लक्ष्यगतातिशयप्रतीतिश्च प्रयोजनम् एतावतैवोत्प्रेक्षायां साध्यवसानत्वव्यवहार: प्राचामिति बोध्यम् ।' [२]

रुय्यक के इस मत से पण्डितराज सर्वथा असहमत हैं । मम्मट और रुय्यक उत्प्रेक्षा में साध्यवसाय मानते हैं, किन्तु पण्डितराज ने उदाहरणों में इस सिद्धान्त का विरोध दिखाते हुए यह बताया कि उत्प्रेक्षा में अध्यवसाय कैसे हो सकता है, जबकिवहाँ विषय जागरूक रहता है । साध्याध्यवसान मानने में कोई प्रमाण भी नहीं है, दूसरे तब तो रूपक में भी साध्यवसान ही मानना पड़ेगा । पण्डितराज ने यहाँ विधेयांश में लक्षणा भी अस्वीकार कर दी । लक्षणा का स्वीकार तो किसी ने नहीं किया,बल्कि यहाँ समवायादि संसर्ग से आहार्य (काल्पनिक) बोध ही स्वीकार किया गया है :--

' किं च नूनं मुखं चन्द्र:' इत्यादौ कुत्राध्यवसाय: , विषय जागरूकत्वात् । न च सिद्धे/ध्यवसाये विषयस्य जठरवर्तित्वम्, साध्ये तु निगीर्यमाणत्वात्पृथगुपलब्धिरितिवाच्यम्, साध्याध्यवसाने मानाभावात् । अन्यथा रूपकादेरध्यवसानगर्भत्वापत्ते: । किं च अध्यवसानं लक्षणाभेद: । न चात्र विधेयांशे लक्षणास्ति । अभेदादिसंसर्गैराहार्यबोधस्यैव स्वीकारात् ।' [३]

---

१. विमर्शिनी, अलंकारसर्वस्व, पृ० ५५

२. उद्योत, नागेश, --एकावली,पृ० ५७८ पर उद्धृत ।

३. रसगंगाधर, पृ० ४००-४०१

पण्डितराज ने अभेदसम्बन्ध से ही उत्प्रेक्षा और उत्प्रेक्षा में अध्यवसानमूलता के प्राचीनाभिमत की परीक्षा करके यही मत स्थिर किया कि धर्म्युत्प्रेक्षा 'नूनं मुखं चन्द्रः' में तो अभेदसम्बन्ध से ही उत्प्रेक्षा है। धर्मोत्प्रेक्षा में गुणरूप धर्म के उदाहरण 'अस्या मुनीनामपि मोहमूहे' आदि में भेद सम्बन्ध से ही उत्प्रेक्षा होती है। क्रियारूपधर्म के उदाहरण 'लिम्पतीव तमोऽङ्गानि' में भी अभेदसम्बन्ध से उत्प्रेक्षा है।

हेतूत्प्रेक्षा में भी एक पक्ष है कि पंचमी विभक्ति के अर्थ हेतु है और प्रकृति तथा प्रत्ययार्थ का सम्बन्ध अभेद ही है। इस अर्थ की 'प्रयोज्यता' सम्बन्ध से उत्प्रेक्षा 'इव' आदि द्वारा समझाई जाती है। दूसरे लोग पंचमी का अर्थ 'प्रयोज्यता' मानते हैं और प्रकृति तथा प्रत्यय का सम्बन्ध 'निरूपितता' स्वीकार करते हैं। इनके अनुसार उत्प्रेक्षा 'आश्रयता' सम्बन्ध से होती है। इस तरह 'विश्लेषदुःखादिवबद्धमौनम्' का शाब्दबोध इस प्रकार होता है :--

प्रथम मत -- विश्लेषदुःखभिन्नो यो हेतुस्तत्प्रयोज्यमिव मौनम्।'

द्वितीय मत-- 'विश्लेषदुःखनिरूपितप्रयोज्यताश्रय इव मौनम्।'

दोनों ही पक्षों में पंचमी के अर्थ की उत्प्रेक्षा होती है और 'इव' आदि के साथ उसका अन्वय होता है। यहां हेतु का अन्वय धर्म (मौन आदि) और धर्म का अन्वय धर्मी (मौनयुक्त आदि) में होता है।

जहां साक्षात् धर्म ही किसी धर्म के साथ अभिन्न माना जाकर उत्प्रेक्षा विषय हो, वहां उस धर्म का अवच्छेदक निमित्त रूप होता है। जैसे 'विश्लेषदुःखादिवमौनम्' में मौन का अवच्छेदक धर्म 'मौनत्व' उत्प्रेक्षा का निमित्त होगा।

इसी भांति हेतूत्प्रेक्षा में जहां 'तृतीया' विभक्ति हो, वहां भी शाब्दबोध प्रकार होगा।

फलोत्प्रेक्षा में 'तुमुन्' प्रत्यय आदि का अर्थ 'फल' होता है।

यहां भी प्रकृति और प्रत्ययार्थ का अभेद सम्बन्ध होता है और 'इव' आदि के साथ फल का अन्वय साधनता सम्बन्ध से होता है। आशय है कि फलोत्प्रेक्षा साधनतासम्बन्ध से होती है। हेतूत्प्रेक्षा की ही भांति यहां भी यदि विषय-धर्मी हो, तो विषयी धर्म से अभिन्न विषयका धर्म निमित्त होता है और यदि विषय धर्मरूप हो, तो वहां उस धर्म के विशेषणरूप में रहनेवाला अन्य धर्म अर्थात् अवच्छेदकधर्म निमित्त होता है।

जहां विषय समास अथवा प्रत्यय द्वारा गौण हो गया हो अर्थात् अन्य पदार्थ या प्रत्ययार्थ प्रधान हो तथा विषयिवाचक शब्द का अर्थ उनका एकदेश बन गया हो। अत: हेतु और फल का विषय के साथ साक्षात् अन्वय न हो सकता हो, वहां प्रधान को ही उत्प्रेक्षा का विषय बनाना चाहिए। 'विषय' होने की योग्यता रखने वाले विशेषण को द्वार मानकर 'प्रयोज्यता' और 'प्रयोजकता' से ही क्रमश: हेतु और फल की उत्प्रेक्षा समझनी चाहिए।

पण्डितराज ने बताया कि उत्प्रेक्षा में विषय के उद्देश्य और विषयी के विधेय होने की प्रतीति होती है, इसीलिये प्रधान को ही उत्प्रेक्षा का विषय मानना आवश्यक है, विशेषण को नहीं। प्राचीनाभिमत मानने पर इस अनुभवसिद्ध उद्देश्यविधेयभाव में कठिनाई पड़ती है। विशेषण को विषय मानकर एकदेश को उद्देश्य कैसे बनाया जा सकता है? इसके अतिरिक्त प्राचीनों का सिद्धान्त मानने पर विषयी से निगीर्ण विषय में (जो वहां उल्लिखित हो) उस हेतु वाले कार्य और फलोत्प्रेक्षास्थल में (जो वहीं उल्लिखित हो) उस फल वाले कारण के स्वरूप की उत्प्रेक्षा में ही पर्यवसान होता है, हेतु और फल की उत्प्रेक्षा में नहीं। इस तरह स्वयम् उनके द्वारा आकलित हेतूत्प्रेक्षा और फलोत्प्रेक्षा भी स्वरूपोत्प्रेक्षामात्र रह जायगी, क्योंकि उनकी रीति से हेतु और फल का उत्प्रेक्षा के साथ अन्वय ही नहो पाता —

किं च प्राचां मते हेतुफलोत्प्रेक्षास्थलेतद्धेतुकफलकयो: कार्य-कारणायोरेव निगीर्णे विषये उत्प्रेक्षाणात्स्वरूपस्योत्प्रेक्षायामेव पर्यवासनम् न तु हेतुफलयो: । एव च विभागश्चिरन्तनोनामुच्छिन्न: स्यात् ।"[1]

इस प्रकार पंण्डितराज ने न केवल उत्प्रेक्षा के लक्षण में सुस्पष्ट विधि अपनायी, अपितु प्रकार निरूपण, निमित्त धर्म तथा उत्प्रेक्षा के शाब्द-बोध प्रकार का गंभीर विवेचन किया और मम्मट से अप्पयदीक्षित तक की मान्यता का पुनर्मूल्यांकन कर सर्वथा नवीन दृष्टि प्रदान की । यद्यपि इस बीच विद्याधर ने अतिशयोक्ति में अभेदसम्बन्ध मात्र मानने पर बल नहीं दिया था,[2] किन्तु इस दृष्टि का स्पष्ट उल्लेख भी उन्होंने नहीं किया ।

पण्डितराज के इस विवेचन का स्पष्ट प्रभाव विश्वेश्वर पण्डित के कथन में देखा जा सकता है :—

" अत्र प्राचामयं सिद्धान्त: सर्वत्र विषयिणो भेदेनैव संसर्गेणोत्प्रेक्षाणां न तु सम्बन्धान्तरेण । .... अत्र नवीना :— अभेदनैवोत्प्रेक्षणमिति नियमाभाव: । 'अस्यां मुनीनामपि मोहमूहे.....' इत्यादौ भेदेनापि संसर्गेण तद्दर्शनात् । .... तस्मात् तद्भिन्नत्वेन प्रमितस्य पदार्थस्य रमणीयतद्वृत्तिधर्मनिमित्तकं तादात्म्येन संभावनं धर्मिस्वरूपोत्प्रेक्षायास्तदभाववत्वेन प्रमितस्य पदार्थस्य तत्समानाधिकरण धर्म निमित्तकं तद्वत्वेन सम्भावनं धर्मस्वरूपोत्प्रेक्षाया लक्षणमाहु: ।"[3]

यहां न केवल विचारसरणि और तर्कपद्धति, अपितु शब्दावली पर भी पण्डितराज का प्रभाव स्पष्टतया देखा जा सकता है ।

---

१. रसगंगाधर, पृ० ४०३

२. एकावली, पृ० ५८५

३. अलंकार कौस्तुभ, पृ० १६४-१६६

अतिशयोक्ति

पण्डितराज ने अतिशयोक्ति का लक्षण इस प्रकार लिखा :-

" विषयिणा विषयस्य निगरणमतिशय: । तस्योक्ति: ।" [1] --

विषयी के द्वारा विषय का निगरण ही अतिशय कहलाता है और अतिशय की उक्ति ही अतिशयोक्ति है ।

अतिशयोक्ति की प्रतिष्ठा अत्यन्त महत्वपूर्ण अलंकार के रूप में भामह ने ही कर दी । उन्होंने इसे समस्त अलंकारों का मूल बताया--

" सैषा सर्वत्र वक्रोक्ति: अनयार्थो विभाव्यते ।
यत्नोऽस्यां कविना कार्य: कोऽलंकारोऽनया विना ।" [2]

आचार्य दण्डी ने भी इसके महत्व को इसी तरह व्यक्त किया :-

" अलंकारान्तराणामप्येकमाहु: परायणम् ।
वागीशमहितामुक्तिमिमामतिशयाह्वयाम् ।।" [3]

आचार्य आनन्दवर्धन ने प्राचीनों के इस कथन का आदर किया --

---

1. रसगंगाधर, पृ०--४१०
2. काव्यालंकार-- २।८५
3. काव्यादर्श -- २।२२०

"प्रथमं तावदतिशयोक्तिगर्भता सर्वालंकारेषु शक्यक्रिया । कृतैव च सा महाकविभि: कामपि काव्यच्छायां पुष्यतीति । कथं ह्यतिशययोगिता स्व-विषयौचित्येन क्रियमाणा सती काव्ये नोत्कर्षमावहेत् । भामहेनाप्यतिशयलक्षणे यदुक्तं --सैषा सर्वैति, तत्रातिशयोक्तिर्यमलंकारमाधितिष्ठति, कविप्रतिभावशात् तस्य चारुत्वातिशययोग: अन्यस्यालंकारमात्रतैवेति सर्वालंकारशरीरस्वीकरणायोग्यं-त्वेनाभेदोपचारात् सैव सर्वालंकाररूपेत्ययमेवार्थोऽवगन्तव्य: ।" [1]

आचार्य मम्मट ने भी अतिशयोक्ति की सर्वालंकारप्राणता का आदर करते हुए कहा--

> सर्वत्र एवंविधविषयेऽतिशयोक्तिरेव प्राणत्वेनावतिष्ठते, तां विना ~~प्राणत्वेना~~ प्रायेणात्वालंकारत्वायोगात् ।" [2]

भामह से लेकर सभी महान् आलंकारिक आचार्यों ने इसे परिभाषित किया । भामह ने इसे 'निमित्ततो वचो यत्तु लोकातिक्रान्तगोचरम्' अर्थात् लोक के सामान्य अनुभव का अतिक्रमण कर किसी निमित्तवश किया गया वर्णन--कह कर परिभाषित किया । उद्भट ने इसी लक्षण को शब्दश: स्वीकार किया । दण्डी ने भी 'लोकसीमातिवर्तिनी विवक्षा' को अतिशयोक्ति बताया [3] । वामन ने संभाव्यधर्म की उत्कृष्ट कल्पना को अतिशयोक्ति बताया ।[4]

भामह ने 'गुणातिशययोग' में अतिशयोक्ति कह कर एक प्रकार की अतिशयोक्ति का उल्लेख किया । दण्डी ने 'संशयोक्ति आदि' अन्य भेदों की ओर

---

१. ध्वन्यालोक, पृ० ४६५-४६८

२. काव्यप्रकाश--पृ० ७४३

३. काव्यादर्श, २।११४

४. काव्यप्रकाश, पृ० ६२८-३१

संकेत किया । उद्भट ने भेद में अनन्यत्व , अभेद में नानात्व, संभाव्यमानार्थ निबन्धन तथा कार्यकारण के पौर्वापर्यविपर्यय भेद को स्वीकार किया । ये ही भेद मम्मट के भी अभिमत से हैं ।[1] रुय्यक ने भेद में अभेद, अभेद में भेद, सम्बन्ध में असंबन्ध , असम्बन्ध में सम्बन्ध, कारणकार्यपौर्वापर्यविध्वंस-ये पांच भेद माने हैं ।[2] चन्द्रालोककार छह भेद- अक्रमातिशयोक्ति, अत्यन्तातिशयोक्ति, चपलातिशयोक्ति, सम्बन्धातिशयोक्ति, भेदकातिशयोक्ति तथा रूपकातिशयोक्ति का उल्लेख करते हैं ।[3]

पण्डितराज ने अतिशयोक्ति के भेदों का विवेचन करते हुए प्रथमतः सावयव और निरवयवा भेद वर्णित किये । जहां समर्थन के लिये अन्य कोई निगरण नहीं वर्णित किया गया हो, किन्तु केवल साधारण धर्मादि ही लिखे गये हों, वहां निरवयवा अतिशयोक्ति होती है किन्तु जहां निगरण के समर्थन में अन्य विशेषण लाये गये हों, वहां अतिशयोक्ति सावयवा होती है । पंण्डितराज ने अतिशय को भेद में अभेद, अभेद में भेद, असम्बन्ध में सम्बन्ध, सम्बन्ध में असम्बन्ध और कारणकार्य का पौर्वापर्य विपर्यय रूप मान कर अतिशयोक्ति के पांच प्रकार की चर्चा की ।

इस आधार पर प्राचीनों के लक्षण का विवेचन करते हुए उन्होंने बताया कि प्राचीन `इन पांच भेदों में से कोई एक होना` - अतिशयोक्ति का सामान्य लक्षण मानते हैं ।

दूसरे आचार्य सम्बन्ध में असम्बन्ध और असम्बन्ध में सम्बन्ध` - इन दोनों भेदों को अतिशयोक्ति नहीं मानते । क्योंकि ऐसा` अतिशय` स्वभावोक्ति के अतिरिक्त रूपक, दीपक, उपमा और अपह्नुति आदि प्रायः सभी

---

१. काव्यप्रकाश, पृ० ६२८-३१

२. अलंकार सर्वस्व, पृ० ८३

३. चन्द्रालोक, पृ० ५६-६७

अलंकारों में भी रहता है । इसके अतिरिक्त इसी भेद में `कारणकार्य का पौर्वापर्यविपर्यय` भी अन्तर्भूत हो जायगा , अत: विषयी द्वारा विषय का निगरण कर अध्यवसान, प्रस्तुत का अन्यत्व`, यथादि शब्दों से असंभवी वस्तु` की कल्पना और कार्यकारणपौर्वापर्यविपर्यय में से कोई एक होना अतिशयोक्ति है ।

इस प्रकार रुय्यक के अनुसार `प्राचीन` और मम्मट के अनुसार `अन्ये` का मत रख कर पण्डितराज ने `नवीन` नाम से स्वाभिमत प्रतिपादन किया नवीनों के अनुसार `निगरन कर के अध्यवसान` ही अतिशयोक्ति कहलाती है, — अन्य भेद तो अनुगत रूप के अभाव के कारण अन्य अलंकार ही हैं ।

अलंकाररत्नाकर और विमर्शिनी द्वारा यह प्रतिपादन किया गया है कि` प्रस्तुतान्यत्वभेद` में भेद से अभेद का निगरण हो जाता है अर्थात् अभिन्न मन: स्थिति भी भिन्न रूप में वर्णित करने से भिन्न द्वारा अभिन्न मन:स्थिति स्थगित कर दी जाती है,` असम्बन्ध में सम्बन्ध` भेद में सम्बन्ध से असंबन्ध का निगरण होता है अर्थात् वर्णनीय तो वस्तुत: असंम्बन्ध था, किन्तु वहां सम्बन्ध का वर्णन किया गया, इस तरह सम्बन्ध द्वारा असम्बन्ध का निगरण हो गया, `सम्बन्ध में असम्बन्ध` भेद में असम्बन्ध से सम्बन्ध का निगरण हो जाता है, `कारणकार्यपौर्वापर्यविपर्यय` भेद में उसी के द्वारा आनुपूर्वी का निगरण हो जाता है अर्थात् पहले कारण फिर कार्य का वर्णन वर्णनीय होता है, किन्तु पौर्वापर्य की विपरीतता द्वारा कारणकार्य के समुचित पूर्वापरीभाव का निगरण हो जाता है — इस प्रकार `निगीर्याध्यवसान` होने से ये चार भेद नव्यों के मत में स्वीकार्य हो सकते हैं यह तर्क मान्य नहीं हो सकता, क्योंकि इन भेदों में अन्यत्वादि से अनन्यत्वादि की प्रतीति ही चमत्काराधायक होती है, न कि अनन्यत्व (तादूप्य) से अनन्यत्व की प्रतीति ।

अभेद में भेद असम्बन्ध में सम्बन्ध आदि प्रकारों` उक्त निगरणों में

में से कोई एक होना —यह लक्षण बनाकर अनुगतता नहीं मान सकते, क्योंकि जब चमत्कार में भिन्नता है तो इतने कथन मात्र से काम नहीं चल सकता । यह कहना तो इसी प्रकार हुआ कि 'उपमा, रूपक आदि में से एक होना अतिशयोक्ति है अथवा' सभी अलंकारों में एक होना अतिशयोक्ति है :—

'न चान्यतमत्वमनुगतमिति शक्यते वक्तुम् । विच्छित्तिवैलक्षण्ये सत्यन्यतमत्वस्याप्रयोजकत्वात् । अन्यथोपमारूपकादिकतिपयान्यतमत्वं सकलान्यतमत्वं वा तल्लक्षणम्, उपमादयश्च तद्भेदः इत्यैव किं न ब्रूयात् ।' [१]

इन भेदों को पृथक् अलंकार मानने में कोई गौरव भी नहीं समझना चाहिए, क्योंकि अलंकारत्व तो 'प्रधानोत्कर्षकरूपता' ही है। रही अलंकार विभाजक उपाधि की गणना, तो उसके बढ़ जाने में कौन गौरव ?

पण्डितराज ने यह भी स्पष्ट किया कि दो प्रतिपादिकार्थों का अभेद संसर्ग से विशेषणविशेष्यभाव रूपक में तो ठीक है, किन्तु यहां ऐसा नहीं हो सकता, क्योंकि उपमेय ही उपमानतावच्छेदक रूप में प्रतीत होता है, दोनों की पृथक् पृथक् प्रतीति नहीं होती ।

अतिशयोक्ति में उपमानतावच्छेदक कहीं तो उपमेयमात्र वृत्ति और उपमानतावच्छेदक समानाधिकरणधर्म से शून्यरूप से प्रकृत के निगरण को दृढ़ करता है अर्थात् अतिशयोक्ति में वर्णित धर्म उपमानोपमेय दोनों में साधारण रूप में लग सकने योग्य होने चाहिये, कहीं वह कवि द्वारा स्वप्रतिभा से कल्पित होता है ।

अभेदातिशयोक्ति तथा ताद्रूप्यातिशयोक्ति का खंडन:—
निगरण में सभी स्थलों में विषय (उपमेय) की प्रतीति उपमानावच्छेदक धर्मरूप

---

१. रसगंगाधर, पृ० ४१६

में ही होती है, न कि उपमानाभिन्न रूप में। अत: कुवलयानन्द में प्रतिपादित अभेदातिशयोक्ति और ताद्रूप्यातिशयोक्ति भेद नहीं माने जा सकते। अतिशयोक्ति में अभेद की स्वतंत्र प्रतीति होती ही नहीं।

शाब्दबोध:-

अतिशयोक्ति के लक्षण में 'निगरण' पद का अर्थ है, विषयि-वाचक पद 'चन्द्र' आदि के द्वारा शक्यतावच्छेदक 'चन्द्रत्व' आदि के रूप से ही लक्ष्यार्थ 'मुख' आदि का बोध कराना—

'तच्च स्ववाचकपदेन शक्यतावच्छेदकरूपणैव अन्यस्य बोधनम्।'[1]

अतिशयोक्ति के शब्दबोध के सम्बन्ध में तीन मत हैं —

(१) उपमानवाचक पद 'चन्द्र' आदि की लक्षणा द्वारा बोधित लक्ष्य (मुख आदि) अर्थ में केवल शक्यतावच्छेदक (चन्द्रत्व आदि) ही प्रकारतया (विशेषणरूप में) बोधित होता है और लक्ष्यार्थ विशेष्यतया बोधित होता होता है। अत: शक्यासाधारण धर्म (चन्द्रत्व) और लक्ष्या-साधारणधर्म (चन्द्रत्व) की प्रतीति - अप्रतीति का विरोध नहीं रहता—

'अत्र च विषये विषयिवाचक पदस्य लक्षणायाः शक्यतावच्छेदक मात्रप्रकारकलक्ष्य विशेष्यकबोधत्वं कार्यतावच्छेदकम्। अत: शक्यासाधारणधर्मस्य लक्ष्यासाधारण धर्मस्य च भानाभानयोर्न विरोधः।'[2]

(२) दूसरे लोगों के अनुसार 'शक्यतावच्छेदक' के साथ मात्र विशे-

---

१. रसगंगाधर, पृ० ४१०
२. ,, पृ० ४१०

षण नहीं देना चाहिये, अत: ऐसे स्थलों पर लक्ष्यार्थ का असाधारण धर्म (मुखत्व आदि) भी प्रतीत होता है।

(३) तृतीय मत के अनुसार पहले लक्षणा में मुखत्व से अवच्छिन्न मुख की ही प्रतीति होती है, न कि चन्द्रत्व से अविच्छिन्न मुख की। अनन्तर व्यंजना से चन्द्रत्वप्रकारकमुख का बोध होता है। व्यंजनाजन्य ज्ञान के बाधज्ञान प्रतिबन्धक नहीं हो पाता:—

' केचित्तु लक्षणाया लक्ष्यासाधारणधर्मप्रकारणैव बोध:। अनन्तरं चव्यापारान्तरेण शक्यतावच्छेदकप्रकारेण लक्ष्यबोध: इत्याहु:।' [१]

इस तृतीय मत के अनुसार अतिशयोक्ति में अभेदबोध आहार्य है, क्योंकि बाधक बोध के साथ होने वाला बोध आहार्य ही होता है। किन्तु प्राचीनों के अनुसार अतिशयोक्ति का अभेदबोध' आहार्य' नहीं होता।' कमलमनम्भसि' आदि स्थल में' कमल' पद के लक्ष्यतावच्छेदक आह्लादकत्व' के बोध के अनन्तर'आह्लादकत्वावच्छिन्न (मुख) में कमल का अभेदज्ञान व्यंजना से होता है। यह ज्ञानाहार्य है, क्योंकि आह्लादकत्वधर्म से अवच्छिन्नकमल के अभेद की बाधा का ज्ञान नहीं होता, कमल ही आह्लादक होता है ही , अतएव काव्यप्रकाशकार ने कहा —

' गौणसाध्यवसानायांसर्वथैवाभेदावगम:।

किन्तु रूपक का अभेद बोध आहार्य होता है। यही अतिशयोक्ति और रूपक का भेद है। [२]

इस प्रकार पण्डितराज ने अतिशयोक्ति से संबद्ध विभिन्न पदार्थों पर गंभीर विचार कर अपने सुनिश्चित और दृढ़ मतभेद दिये। अतिशयोक्ति में

---

१. रसगंगाधर, पृ० ४११

२. रसगंगाधर, मर्मप्रकाश, पृ० ४११

अतिशय के स्वरूप , अतिशयोक्ति के भेद और शाब्दबोधप्रकार से सम्बद्ध विषयों का स्पष्ट विश्लेषण कर पण्डितराज ने उचित और संगत मत उपस्थित किया ।

तुल्ययोगिता

पण्डितराज ने तुल्ययोगिता को परिभाषित करते हुए लिखा —

' प्रकृतानामेवाप्रकृतानामेव वा गुणक्रियादिरूपैकधर्मान्वयस्तुल्ययोगिता ।' [1]

अर्थात् केवल प्रकृतों का अथवा केवल अप्रकृतों का गुण , क्रिया आदि-रूपी एक धर्म में अन्वय तुल्ययोगिता कहलाता है ।

तुल्ययोगिता को भामह ने परिभाषित किया —' विशिष्ट के साथ न्यून की गुणसाम्यविवक्षा से तुल्यकार्यक्रियायोग' [2] तुल्ययोगिता कहलाती है । यह मम्मट और विद्याधर के दीपक के समकक्ष है ।[3] दण्डी ने भी कहा— ' विवक्षितगुणोत्कृष्टैर्यत् समीकृत्य कस्यचित्, कीर्तनस्तुतिनिन्दार्थं सा मता तुल्ययोगिता ।।' अर्थात् विवक्षित गुणों से युक्त अप्रस्तुत से समता करते हुए प्रस्तुत के निन्दार्थ अथवा प्रशंसार्थ वर्णन को तुल्ययोगिता कहते हैं । उद्भट ने भी स्पष्ट रूप से अपनी परिभाषा प्रस्तुत की ।[5]

वामन ने विशिष्ट गुण वाले उपमान के साथ न्यूनगुण वाले उपमेय के साम्य प्रतिपादन के लिए (दोनों के) एक काल में होने वाली क्रिया के साथ योग को तुल्ययोगिता कहा ।[6]

---

१. रसगंगाधर, पृ० ४२३

२. काव्यालंकार, पृ० ३२७

३. एकावली, पृ० ५०२

४. काव्यादर्श, पृ० २।३३

५. ' उपमानोपमेयोक्तिशून्यैरप्रस्तुतैर्वचः ।
साम्याभिधायि प्रस्तावभाग्भिवत्तुल्ययोगिता ।।'
—उद्भट, काव्यालंकारसारसंग्रह, पृ० ५।११

६. काव्यालंकारसूत्रवृत्ति—४।३।२६

विश्वनाथ ने तुल्ययोगिता में केवल प्रस्तुत, केवल अप्रस्तुत का गुण-रूप अथवा क्रियारूप एकधर्म से सम्बन्ध को तुल्ययोगिता माना ।[१] मम्मट, रुय्यक और विद्याधर ने एक और महत्वपूर्ण पक्ष की ओर संकेत किया कि यहां `औपम्य गम्य` होता है । पण्डितराज ने इस पक्ष को दृढ़ता के साथ स्वीकार किया, क्योंकि उसी के प्रयोजक समानधर्म का उपादान किया ही जाता है और उपमा-वाचक शब्द का उपादान नहीं होता । पण्डितराज ने अत्यन्त शास्त्रीय रूप से इसकी निष्पत्ति दी कि इसीलिए आलंकारिक सादृश्य को `पदार्थान्तर` मानते हैं, साधारणधर्मरूप ही नहीं :—

`अत एवालंकारिकाणामपि सादृश्यं पदार्थान्तरम् न तु साधारण-धर्मरूपम् । अन्यथा औपम्यस्यात्र गम्यत्वोक्तेरनुपपत्ते ।`[२]

पण्डितराज ने तुल्ययोगिता में रुय्यक और अप्पयदीक्षित आदि द्वारा धर्म को गुण और क्रियारूप मात्र परिगणित किये जाने का खण्डन किया, क्योंकि अभावादि रूप धर्म का अन्वय भी होता है । उन्होंने इन आचार्यों के कथन की संगति इस प्रकार की मानी कि `गुण और क्रिया` ये दोनों धर्ममात्र के उपलक्षण हैं :—

` यत्तत्वलंकारसर्वस्वकृता तदनुगामिना कुवलयानन्दकृता च` गुणक्रियाभि: सम्बद्धत्वे गुणक्रियारूपैकधर्मान्वय:` इति प्रोक्तं तदापातत: ।`[३]

इसीलिये अप्पयदीक्षित द्वारा निर्मित तुल्ययोगिता का द्वितीय लक्षण अनावश्यक है तथा ` प्रकृत और अप्रकृत धर्मों की एकता में ` होने वाले एक अन्य प्रकार की अन्तर्भूति इसी में हो जाती है ।[४] नागेश ने बहुत प्रयत्न करके

---

१. साहित्यदर्पण, — १०।४८

२. रसगंगाधर, पृ० ४२३

३. ,, पृ० ४२६

४. ,, पृ० ४२६

भी यह सिद्ध करने में सफलता नहीं पायी कि कि अप्पय के 'हित और अहित के साथ समानव्यवहारप्रतीति' वाली तुल्ययोगिता में एकधर्मान्वयकृत चमत्कार से कुछ पृथक् चमत्कार है । [1]

पण्डितराज ने यह भी स्पष्ट कर दिया कि यहाँ धर्म की वृत्ति-नियामक सम्बन्ध से धर्मी में अवस्थिति विवक्षित नहीं है अर्थात् तुल्ययोगिता के लिये धर्म की समानतामात्र पर्याप्त है, वह जिस संबंध से एक धर्मी में है, उसी से दूसरे में है , यह विचार अनावश्यक है, अन्यथा कारक तुल्ययोगिता आदि लक्षणों में इस लक्षण की अव्याप्ति ही हो जायगी :—

' न चात्र वृत्तिनियामकसम्बन्धेन धर्मिवृत्तित्वं विवक्षितम्, धर्मस्य वक्ष्यमाणाकारकदीपकादावतिव्याप्तेः ।' [2]

तुल्ययोगिता-दीपक तथा उपमामें भेद :—

पण्डितराज ने ' एक धर्म में अन्वयमात्र' को तुल्ययोगिता मानने पर तुल्ययोगिता, दीपक और एकधर्मान्विति उपमा में अन्तर स्पष्ट करते हुए बताया कि यथोक्त धर्मियों का यथोक्त धर्म में अन्वयमात्र चमत्कारी हो और धर्मी केवल प्रकृत अथवा केवल अप्रकृत हो तो तुल्ययोगिता, यदि प्रकृत- अप्रकृत दोनों धर्मी हो , तो दीपक होता है, किन्तु जहां धर्मान्वय हो, पर वह स्वयं चमत्कारी न हो कर उसके कारण होने वाला सादृश्य या अभेद चमत्कारी हो , तो वहां उपमा या रूपक होता है । अलंकार के निर्णय का आधार ही है' सुन्दरत्व होने पर उपस्कारक होना' :—

' यत्रयथोक्तानां धर्मिणां यथोक्तधर्मान्वय एव चमत्कारी तत्र तुल्ययोगिता दीपकं वा । यत्रतादृशधर्मान्वयप्रयुक्तं सादृश्यमभेदो वा, तत्रोपमारूपका-दिमेवालंकारताप्रयोजकम् ।' [3]

---

१. रसगंगाधर— मर्मप्रकाश, पृ० ४२६-२७

२. रसगंगाधर, पृ० ४२७

३. ,, पृ० ४२८

दीपक

पण्डितराज ने दीपक का लक्षण इस प्रकार लिखा —

'प्रकृतानामप्रकृतानां चैकसाधारणान्वयो दीपकम् ।'

अर्थात् प्रकृत और अप्रकृत का एक साधारण धर्म में अन्वय दीपक कहलाता है । यह दीपक इसलिये कहलाता है क्योंकि इसमें प्रकृत (धर्मी) के लिये ग्रहण किया हुआ धर्म प्रसंगवशात् अप्रकृत को भी दीपित अर्थात् प्रकाशित करता है अथवा दीप की भांति प्रकृत और अप्रकृत दोनों को प्रकाशित करने के कारण यह दीपक है ।[1]

दीपक और तुल्ययोगिता का अन्तर यह है कि एक प्रकृत हो और अन्य अप्रकृत हो, तो दीपक होता है और यदि सब या तो केवल प्रकृत हों अथवा केवल अप्रकृत हों तो तुल्ययोगिता होती है ।

तुल्ययोगिता और दीपक के सम्बन्ध में यह सिद्धान्त माना कि जहां क्रिया साधारण धर्म हो, उस एक पद्य में जितने भिन्न-भिन्न कारक हों, वहां उतनी तुल्ययोगिता और दीपक मानने चाहिये, क्योंकि उन कारणों से व्यंग्य उपमा पृथक्-पृथक् प्रतीत होती हैं —

'यत्र क्रिया साधारणो धर्मस्तत्र यावतां कर्मादिकारकाणां सन्निधानं तेषां स्वजातीयेनान्येन सह तुल्ययोगिता दीपकं वा पृथक्-पृथक् भवति, औपम्यास्यापि पृथगेव भासमानत्वात् ।'[2]

---

१. रसगंगाधर, पृ० ४३१ तुलनीय—(क) समुद्रबन्ध, अलंकारसर्वस्व, पृ० २४
(ख) कुवलयानन्द, पृ० ६०

२. रसगंगाधर, पृ० ४३२

विश्वनाथ[3] इस अलंकार में गम्य औपम्य के प्रश्न पर मौन हैं, किन्तु पण्डितराज उद्भट[4] मम्मट[5] रुय्यक[6] और विद्याधर[7] की परम्परा में ही गम्यौपम्य स्वीकार करते हैं। अत: मम्मट, साहित्यदर्पणकार आदि द्वारा उदाहृत एक कर्ता के अनेक क्रिया से सम्बन्ध में होने वाला भेद गम्यौपम्य के अभाव में दीपक है ही नहीं।

मम्मट द्वारा उदाहृत `कारकदीपक` के उदाहरण में उन्होंने समुच्चय` अलंकार की छाया ही स्वीकार की।

इसी प्रकार विमर्शिनीकार द्वारा उदाहृत`आलिङ्गितुं शशिमुखीं च सुधां च पातुम्` इत्यादि श्लोक में भी अनेक क्रियाओं के कर्ता अन्वित होने के कारण क्रियाओं के सादृश्य को चमत्कारी नहीं माना, अपितु शशिमुखी, सुधा, कीर्ति, लक्ष्मी और भक्ति के बिम्बप्रतिबिम्बभाव को ही चमत्कारी माना।[8]

तुल्ययोगिता से दीपक पृथक् नहीं :--

पण्डितराज ने गुणक्रियादिरूप धर्म के आदि, मध्य, अन्त में आने से होने वाले भेदों की चर्चा कर उनको स्वीकृति नहीं प्रदान की, क्योंकि इस प्रकार तो उनके उपादिगत, उपमध्यगत, उपान्तिगत आदि अनन्त भेद किये जा सकते हैं। उन्होंने धर्म की अनुगामिता, बिम्बप्रतिबिम्बभावप्रयुक्त भेद, मालादीपक आदि की चर्चा करके भी एक महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त स्थिर किया है।

---

३. साहित्यदर्पण, १०।४६

४. काव्यालंकारसार संग्रह, पृ०

५. काव्यप्रकाश, पृ० ६३६

६. अलंकारसर्वस्व, पृ० ७२

७. एकावली, पृ० २४२

८. रसगंगाधर, पृ० ४३३

उन्होंने कहा कि तुल्ययोगिता से दीपक भिन्न नहीं है, क्योंकि धर्म के एक बार ग्रहण करने से जो चमत्कार होता है, वह दोनों में ही समान है। धर्मियों के प्रकृतमात्र - अप्रकृतमात्र तथा प्रकृताप्रकृत होने के अन्तर को लेकर भी दोनों में भेद नहीं किया जा सकता, क्योंकि इस प्रकार तो स्वयं तुल्ययोगिता के दो भेद, दो स्वतंत्र अलंकार हो जायेंगे और इसी तरह सभंग और अभंग श्लेष भी दो पृथक् अलंकार हो जायेंगे।

दीपक में उपमा की अवश्यव्यंग्यता और तुल्ययोगिता में केवल प्रकृत तथा केवल अप्रकृत उपमा सिद्ध न हो पाने के कारण वक्ता की इच्छाधीन व्यंग्यतामात्र कर भी भेद नहीं कर सकते, क्योंकि तब उपमेयोपमा और प्रतीप में भी उपमा न हो सकेगी।

अत: तुल्ययोगिता के तीन— केवल प्रकृतों के ही धर्म का एक बार ग्रहण केवल अप्रकृतों के धर्म का सकृद्ग्रहण और प्रकृताप्रकृतों के धर्म का सकृद्ग्रहणगतभेद ही मानने चाहिये। वस्तुत: दीपक तुल्ययोगिता से भिन्न अलंकार नहीं है।

दोष:-

पण्डितराज ने तुल्ययोगिता तथा दीपक के दोष भी बताये —

(१) क्रियादिधर्मों का धर्मियों में अन्वित न होना

(२) जहल्लिंग प्रातिपादिकार्थ के एक बार ग्रहण करने पर लिंगभेद

(३) पुरुष की एकरूपता का अभाव

(४) इसीप्रकार कालभेद।

पण्डितराज ने जहां दीपक में एक 'गम्यौपम्य' के सम्बन्ध में अपनी स्प सम्मति दी, वहीं दीपक के भेद के विषय में भी उचित निर्णय किया। दीप का विवेचन करके भी उन्हें तुल्ययोगिता के सन्दर्भ में दीपक की वास्तविक स्थि को भी स्पष्ट कर दिया।

---

१. रसगंगाधर, पृ० ४३६

प्रतिवस्तूपमा

प्रतिवस्तूपमा शब्द का यौगिक अर्थ है, प्रत्येक वाक्यार्थ में उपमावस्तु का अर्थ वाक्यार्थ वामन, मम्मट, रुय्यक सभी ने स्वीकार किया है। भामह,[१] दण्डी [२] और वामन[३] ने प्रतिवस्तूपमा का विवेचन उपमा के अन्तर्गत ही किया। आचार्य मम्मट ने प्रतिवस्तूपमा को इस प्रकार परिभाषित किया—

"प्रतिवस्तूपमा तु सा। सामान्यस्य द्विरेकस्य यत्र वाक्यद्वये स्थिति

अर्थात् उपमेय वाक्य और उपमानवाक्यों में कथितपद के दोषपूर्ण अभिधान के कारण शब्दभेद से जो साधारणधर्म का उपादान होता है, वस्तु की वाक्यार्थ ही उपमानता के कारण वह प्रतिवस्तूपमा कहलाती है। रुय्यक की परिभाषा भी इसी प्रकार की है।[५]

पण्डितराज ने प्रतिवस्तूपमा और उपमा के पार्थक्य तथा सादृश्यमूलक अलंकारों में साधारणधर्म की स्थिति पर प्रकाश डाला है। प्रतिवस्तूपमा वस्तु-प्रतिवस्तुभावापन्न साधारण धर्म द्वारा उत्थापित एवं वाक्यार्थमात्र में अवस्थित होती है। किन्तु उपमा से प्रतिवस्तूपमा की भिन्नता वाक्यार्थमात्र में अवस्थित तथा समानधर्म के शब्दभेद से ग्रहण में ही नहीं है, वह तो वस्तुप्रतिवस्तुभावापन्न

---

१. काव्यालंकार रू- २।३४

२. काव्यादर्श, २।४६

३. काव्यालंकारसूत्रवृत्ति—४।३।१।७

४. काव्यप्रकाश—पृ० ६३३

५. अलंकारसर्वस्व, पृ० ६४

साधारण धर्म वाले दो वाक्यार्थों की अर्थप्राप्त उपमा है है --

वस्तुप्रस्तुभावापन्नसाधारणधर्मकवाक्यार्थयोरार्थमौपम्यं प्रतिवस्तूपमा ।[1]

केवल वाक्यार्थगत उपमात्व `वाक्यार्थोपमा में भी रहता है, यही `यही ` अर्थप्राप्त होकर दृष्टान्त में रहता है। वस्तुप्रतिवस्तुभावापन्न साधारण धर्मवाली वाक्यार्थ की आर्थउपमा अप्रस्तुतप्रशंसा के `कोकिलतावद्विरसान्` आदि वाक्यों में एक वाक्य से ही प्रतीत है,[2] अत: प्रतिवस्तूपमा का उपर्युक्त लक्षण सर्वथा परिशुद्ध है। `वाक्यार्थगत` कह कर स्मरण में अतिव्याप्ति का वारण हो जाता है। प्रतिवस्तूपमा सामान्यविशेष रूप में न आने वाली अर्थात् केवल विशेष रूप वाक्यार्थों की ही होती है, क्योंकि ऐसे ही स्थलों पर सादृश्यगम्य होता है। सामान्य और विशेष में तो सादृश्य प्रतीति न रहने के कारण समर्थकता रहती है, अत: वहां अर्थान्तरन्यास होता है।[3] यह प्रतिवस्तूपमा साधर्म्य और वैधर्म्य दोनों से होती है।

प्रतिवस्तूपमा में वैधर्म्य (व्यतिरेकी) और अन्वय के दृष्टान्त :- पण्डितराज ने यह बताया कि यद्यपि प्रतिवस्तूपमा के प्रकृत और अप्रकृत दोनों भागों में `विशेष` का उल्लेख रहता है तथापि जहां सामान्य नियम भी उल्लिखित और उसको व्यतिरेकी दृष्टान्त द्वारा स्पष्ट किया गया हो, वहां पहले सामान्य नियम को भी व्यतिरेकी बना लेना चाहिए, तभी नियम और दृष्टान्त संगत होते हैं। तब इस व्यतिरेकी साहचर्य द्वारा सामान्य अन्वय नियमसिद्ध हो जाता है, क्योंकि उसके अभाव में अभाव सिद्ध हो जाने पर उसकी सत्ता होने पर अन्वय भी सिद्ध हो जाता है। फिर `यत्सामान्ययोर्व्याप्तिस्तद्विशेषयो:` अर्थात् जिसके

---

१. रसगंगाधर, पृ० ४४२

२. ,, पृ० ४४१

३. ,, पृ० ४४६

सामान्यों की व्याप्ति होती है, उसके विशेषों की भी व्याप्ति होती है — इस नियम द्वारा सामान्यविच्छिन्न नियम सिद्ध हो जाने पर विशेषविच्छिन्न नियम भी सिद्ध हो जाता है। इस तरह प्रकृत से अप्रकृत की संगति हो जाती है। वैधर्म्य के व्यतिरेकी दृष्टान्तों में संगति की यही सरणि है।

किन्तु जहां अन्वय से प्रतिवस्तूपमा होता है, वहां जब कोई विशेष नियम प्रकृत वाक्य के अर्थ में समाविष्ट हो, तो प्रथमत: अन्वय के विशेष दृष्टान्त द्वारा सामान्यरूप में अन्वयनियम सिद्ध हो जाता है और उसके द्वारा विशेष अन्वय की नियमसिद्धि होती है।

यह प्रकृतिवाक्य में सामान्य या विशेष नियम के उल्लेख में ही स्वीकार्य है। जहां केवल दो विशेष वस्तुओं का वर्णन ही हो वहां अप्रकृत वाक्य से निरूपित उपमा ही की प्रतीति होती है, न कि नियम की।

उन्होंने अप्पयदीक्षित द्वारा दिये गये वैधर्म्य के इस उदाहरण की आलोचना की —

'यदि सन्ति गुणा: पुंसां विकसन्त्येव ते स्वयम्।
न हि कस्तूरिकामोद: शपथेन विभाव्यते ।। [१]

जहां अप्रकृत अर्थ प्रकृत अर्थ के व्यतिरेक का सजातीय हो, वहां ही वैधर्म्य का उदाहरण हो सकता है। यहां ऐसा नहीं है :—

' वैधर्म्योदाहरणां हि प्रस्तुतधर्मिविशेषारूढार्थदार्ढ्याय स्वादि-प्रत्यतिरेकसमानजातीयस्य धर्मान्तरारूढस्याप्रकृतार्थकथनम्। प्रकृते च यदि सन्ति तदा स्वयमेव प्रकाशन्त इत्यर्थस्य प्रस्तुतस्य व्यतिरेकस्तु असन्त उपायान्तरेणापि न प्रकाशन्ति इति। नह्यत्र द्वितीयार्धेन तत्सजातीयोऽर्थो निबद्ध्यते।' [२]

---

१. रसगंगाधर, पृ० ४४७-४८
२. ,, पृ० ४५२

शपथ से नहीं बताया जाता , किन्तु स्वयं प्रकट होता है —यह अर्थ प्रकृत अर्थ की अनुरूपता में ही परिणत होता है, अतः यह उदाहरण तो साधर्म्य में ही उचित है ।

पण्डितराज का निष्कर्ष है कि इस प्रकार के अलंकारों में उत्तरवाक्यों में पूर्ववाक्यार्थ में आये हुए प्रतिपादिकार्थ के अनुकूल प्रातिपादिकार्थ, विभक्तियों के अनुकूल विभक्तियां और अन्वय के अनुकूल अन्वय होना चाहिए --

' तस्मादेवंजातीयकेवलंकारेषु पूर्ववाक्यार्थघटकनामार्थानुरूपैर्नामार्थै-स्तघटकविभक्त्यनुरूपाभिर्विभक्तिभिस्तदन्वयानुरूपेण चान्वयेन भाव्यमिति सहृदयैः प्रष्टव्यम् । [१]

पण्डितराज ने प्रतिवस्तूपमा का स्वरूप विवेचित किया । उन्होंने प्रतिवस्तूपमा में वैधर्म्य के और अन्वयरूप दृष्टान्त प्रयुक्त होने पर प्रकृत और अप्रकृत की संगति प्रकार का सुन्दर और स्पष्ट विवेचन किया । इसी दृष्टि से उन्होंने अप्पयदीक्षित के वैधर्म्य के उदाहरण का विश्लेषण कर उचित मार्ग निर्दिष्ट किया ।

---

१. रसगंगाधर, पृ० ४५२

दृष्टान्त

पण्डितराज ने मम्मट के[1] अनुसार ही दृष्टान्त को परिभाषित किया —

" प्रकृतवाक्यार्थघटकानामुपमादीनां साधारणधर्मस्य च बिम्बप्रतिबिम्बभावे दृष्टान्तः ।"[2]

अर्थात् प्रस्तुत वाक्यार्थ की घटना करने वाले उपमानादिक का और साधारण धर्म का बिम्बप्रतिबिम्बभाव होने पर दो वाक्यों की आर्थ उपमा दृष्टान्त कहलाती है । भामह ने दृष्टान्त का पृथक विवेचन न कर के भी उसमें विद्यमान बिम्बप्रतिबिम्बभाव की ओर संकेत किया ।[3] उद्भट,[4] रुद्रट,[5] रुय्यक,[6] विश्वनाथ,[7] अप्पयदीक्षित[8] ने इसका सुन्दर निरूपण किया है ।

प्रतिवस्तूपमा और दृष्टान्त में अन्तर :- पण्डितराज ने प्रतिवस्तूपमा और दृष्टान्त का अन्तर लिखते हुए कहा कि वहां धर्म प्रतिबिम्बित न होकर शुद्ध सामान्यरूप में ही रहता है और यहां धर्म भी प्रतिबिम्बित होता है —

" अस्य चालंकारस्य प्रतिवस्तूपमया भेदकमेतदेव यत्तस्यां धर्मो न प्रतिबिम्बित किंतु सामान्यात्मनैव स्थितः । इह तु प्रतिबिम्बितः ।"[6]

---

१. काव्यप्रकाश, पृ० ६३६
२. रसगंगाधर, पृ० ४५२
३. काव्यालंकार — ५।५५
४. काव्यलंकारसारसंग्रह, ६।१६
५. काव्यालंकार — ८।६४
६. अलंकारसर्वस्व — ५-२५
७. साहित्यदर्पण १०।५६

(अगलेपृष्ठ पर भी देखें)

पण्डितराज ने विमर्शिनी के मत का आलोचन किया है। उनका कहना है कि प्रतिवस्तूपमा में अप्रकृत अर्थ का ग्रहण प्रकृतार्थ के साथ उसका सादृश्य बताने के लिए होता है, किन्तु दृष्टान्त में अप्रकृत अर्थ का ग्रहण इसलिये होता है कि ऐसा अर्थ अन्यत्र भी है, जिससे प्रकृत अर्थ की प्रतीति का विशदीकरण हो जाय:—

दृष्टान्ते पुनरेतादृशो वृत्तान्तोऽन्यत्रापि स्थित इति प्रकृतस्यार्थ-स्याविस्पष्टा प्रतीतिर्माभूदिति प्रतीतिविशदीकरणार्थमर्थान्तरमुपादीयते।[१]

अत: प्रतिवस्तूपमा और दृष्टान्त में यह अन्तर कि प्रतिवस्तूपमा में सादृश्य की प्रतीति होती है और दृष्टान्त में नहीं होती।

किन्तु विमर्शिनीकार के मत में कई आपत्तियां हैं —

(१) दोनों अलंकारों में प्रकृत वाक्यार्थ और अप्रकृत वाक्यार्थ के ग्रहण में कोई भेद नहीं है। अत: एक स्थल में सादृश्यप्रतीति और अन्यत्र अप्रतीति का कोई कारण नहीं है।

(२) यह कहा जा सकता है कि दृष्टान्त में सादृश्य है, प्रतिवस्तूपमा में नहीं।

(३) ऐसा अर्थ अन्यत्र भी विद्यमान है, जिससे प्रकृतार्थ की प्रतीति का विशदीकरण हो जाय — यह कथन प्रकारान्तर से सादृश्यनिरूपण ही बताता है निषेध नहीं।

अत: विमर्शिनीकार का मत अग्राह्य है। यदि प्रतिवस्तूपमा और दृष्टान्त के पण्डितराज प्रतिपादित अन्तर को स्वीकार करने पर, सादृश्यनामक सामान्य

---

१० पिछले पृष्ठ का शेष—

८. कुवलयानन्द, पृ० ५२

९. रसगंगाधर, पृ० ४५३

---

१. विमर्शिनी — अलंकारसर्वस्व, पृ० ६५

लक्षण से अतिक्रान्त होने के कारण, उपमा में दो की ही भाँति, दृष्टान्त और प्रतिवस्तूपमा के भी एक ही अलंकार के भेद होने की आपत्ति उठायी जाय, तब तो दीपक और तुल्ययोगिता को पहले एक अलंकार मानना पड़ेगा । यह पंडितराज को अभिमत हो सकता है कि दृष्टान्त और प्रतिवस्तूपमा एक अलंकार के दो भेद हैं, किन्तु प्राचीनों और स्वयं रुय्यक के अनभिमत होने के कारण उनके टीकाकार जयरथ यह बात कैसे कह सकते हैं ?[१]

इस प्रकार पण्डितराज ने प्रतिवस्तूपमा और दृष्टान्त के अन्तर को यदि कोई आधार दिया जा सकता है तो वह प्रदान किया और उनका वास्तविक स्वरूप स्पष्ट किया ।

----

१. रसगंगाधर, पृ० ४५३-५५

निदर्शना

पण्डितराज ने निदर्शना का लक्षण इस प्रकार लिखा :--

'उपात्तयोरर्थयोरार्थाभेद औपम्यपर्यवसायी निदर्शना ।'[1]

अर्थात् गृहीत दो अर्थों का उपमा में समाप्त होने वाला आर्थ अभेद-निदर्शना कहलाता है। 'उपात्तयो:' पद का सन्निवेश अतिशयोक्ति आदि और ध्वन्यमान रूपक के वारणार्थ रखा गया है। 'आर्थ' का तात्पर्य है --प्राथमिक अन्वयबोधका विषय न होना, यदि विशिष्टोपमा में विशेषणों का अभेद स्वीकार किया जाता हो, तो विशेषरूप में गृहीत अर्थों का 'बिम्बप्रतिबिम्ब-भाव से रहित' मान कर निदर्शना का निर्दुष्ट लक्षण सम्पन्न हो जाता है। यह लक्षण औती निदर्शना का है। दोनों ही निदर्शनाओं के लक्षण पर पण्डितराज ने 'ललित' अलंकार के प्रकरण में विचार किया है।

पण्डितराज ने पदार्थनिदर्शना और वाक्यार्थनिदर्शना -- ये दो भेद स्वीकार किये हैं। प्रथम में उपमान और उपमेय में रहने वाले दो धर्मों का आर्थ अभेद प्रतीत होता है और द्वितीय में प्रस्तुत एक धर्मी में रहने वाले विशेषण सहित दो अर्थों का आर्थ अभेद होता है। पदार्थनिदर्शना में बिम्बप्रतिबिम्बभाव नहीं होता, किन्तु वाक्यार्थनिदर्शना में निदर्शना घटित रहने वाले पदार्थों का बिम्बप्रतिबिम्बभाव आवश्यक है। पदार्थनिदर्शना में एक धर्म के ग्रहण होने के कारण उपात्त दो अर्थों के आर्थ अभेद की संगति उससे ही दोनों अर्थों की प्रतीति मानकर भी जा सकती है अथवा पदार्थनिदर्शना में उपमान उपमेय में से एक के धर्म का अन्य पर आरोप माना जा सकता है :--

---

१. रसगंगाधर, पृ० ४५६

" अस्यास्तु उपमानोपमेययोरन्यतरधर्मस्यान्यतरत्रारोपो लक्षणमस्तु ।"[१]

पदार्थनिदर्शना की रूपकातिशयोक्ति और वाक्यार्थनिदर्शना की रूपक-ध्वनि से गतार्थता नहीं कही जा सकती, क्योंकि निदर्शना में दो पदार्थों का अभेदमात्र होता है ।[२] इसीलिये आचार्य मम्मट ने ' क्वसूर्यप्रभवो वंशः ' इत्यादि उदाहरण दिया ।[३] इस श्लोक में 'ललित' अलंकार मानने का प्रयत्न भी व्यर्थ है । पण्डितराज ने 'ललित' की अलंकारता का ही खण्डन कर दिया है ।

भामह ने[४] निदर्शना को परिभाषित किया । दण्डी ने (काव्यादर्श — २।३४८) निदर्शना नाम से इसका विवेचन किया और उद्भट[५] ने उसे विदर्शना नाम से कहा । राजानक रुय्यक ने निदर्शना का लक्षण 'संभवत् या असंभवत् वस्तुसम्बन्ध से गम्यमान औपम्य निदर्शना कहलाता है'[६] — इस प्रकार लिखा, किन्तु पंडितराज इसकी अतिव्याप्ति रूपक और अतिशयोक्ति में बता कर इसे अस्वीकार कर देते हैं । इसी आधार पर उन्होंने कुवलयानन्द[७] के लक्षण को भी अस्वीकार किया । नागेश ने अप्पय के समर्थन की चेष्टा की, किन्तु निदर्शनास्थित' क्रियाओं के आर्थ अभेद' के चमत्कार को' कर्ता के आर्थ अभेद के रूपकस्थित चमत्कार से अभिन्न मानना संगत नहीं हो पाया ।[८] पण्डितराज ने अलंकारसर्वस्वकार द्वारा उदाहृत 'त्वत्पादनखरत्नानाम्' इत्यादि श्लोक को वाक्यार्थ-निदर्शना का नहीं, अपितु वाक्यार्थरूपक का ही उदाहरण माना, अन्यथा वाक्यार्थरूपक का उच्छेद ही हो जायगा । वाक्यार्थ रूप का उच्छेद मान लें, यह ठीक नहीं, क्योंकि पण्डितराज ने दोनों के ही पृथक् क्षेत्र दिखा दिये हैं।

---

१. रसगंगाधर, पृ० ४५६ -६०
२. ,, पृ० ४६०
३. काव्यप्रकाश, पृ० ६१४
४. काव्यालंकार, ३।३३-३४
५. उद्भट — ५।१८
६. अलंकारसर्वस्व, पृ० ६७
७. कुवलयानन्द, पृ० ६६
८. हिन्दीरसगंगाधर, भाग २, पृ० ४६७-६६
६. रसगंगाधर, पृ० ६६१-६२

व्यतिरेक

रसगंगाधर में व्यतिरेक का लक्षण इस प्रकार लिखा गया —

'उपमानादुपमेयस्य गुणविशेषवत्त्वेनोत्कर्षो व्यतिरेक: ।'[१]

अर्थात् किसी विशेष गुण से युक्त होने के कारण उपमान से उपमेय का उत्कर्ष व्यतिरेक कहलाता है । इस लक्षण में 'गुणविशेषवत्त्व' पद प्रतीप के वारण के लिये है, क्योंकि वहाँ उपमेय को उपमान बना देने मात्र से उत्कर्ष होता है । व्यतिरेक में 'विशेषगुणवत्त्व' तथा 'उपमान का अपकर्ष' मात्र पर्याप्त नहीं है, अपितु उपमेय के उत्कर्ष का आक्षेप ही इसे सुन्दर बनाता है । अतएव केवल सादृश्य के अभाव को भी व्यतिरेक नहीं कह सकते ।

रुद्रट द्वारा प्रदत्त 'उपमेयन्यूनत्व' के उदाहरण का अनुसरण करते हुए रुय्यक ने 'भेदप्राधान्ये उपमानादुपमेयस्याधिक्ये विपर्यये वा व्यतिरेक:' कहा ।[२] साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ[३] और अप्पय[४] ने भी इस मत को स्वीकार किया, किन्तु मम्मट[५] और पण्डितराज को यह बात स्वीकृत नहीं । पण्डितराज ने स्पष्ट कहा कि जहाँ कहीं उपमेय का अपकर्ष शब्द से वर्णित है, वहाँ भी वह वाक्यार्थ में पर्यवसित होने पर उत्कर्ष रूप में ही परिणत होता है

---

१. रसगंगाधर, पृ० ४६७

२. अलंकारसर्वस्व, पृ० १०१

३. साहित्यदर्पण, १०।५२

४. कुवलयानन्द, पृ० ८०-८१

५. काव्यप्रकाश, पृ० ६४५

किं च यत्र क्वापि शाब्द उपमेयस्यापकर्षस्तत्रापि स तस्य वाच्यार्थपर्यवसायितयौत्कर्षात्मना परिणमति ।"[1]

जहां यह उपमेयापकर्ष शाब्द नहीं होता वहां तो उपमेयोत्कर्षरूप में रसपोषक होता ही है ।

अत: उपमान से उपमेय के उत्कर्ष में ही व्यतिरेक है । किन्तु यदि उपमेय के अपकर्ष में भी व्यतिरेक मानने का आग्रह ही हो, तो पण्डितराज ऐसे स्थल पर वह व्यतिरेक चमत्कारी माना जहां उपमान से आंशिक रूप में न्यूनता कह कर पुन: समानता प्रतिपादित कर दी जाती है :—

" यदि तु न्यूनत्वमपि व्यतिरेक इत्याग्रहस्तदेदमुदाहार्यम्
जगत्त्रयत्राणधृतव्रतस्य कामातलं केवलमेवरचान् ।
कथं समारोहसि हन्त राजन्सहस्रनेत्रस्य तुलां द्विनेत्र: ।।
अत्र धर्मद्वयेनैव न्यूनोऽसि धर्मान्तरेण तु सम:
इति प्रतीतिकृतविच्छित्तिविशेषादलंकारता ।"[2]

पण्डितराज ने अप्पयदीक्षित द्वारा उपमेयन्यूनता के उदाहरण में व्यतिरेक का ही खंडन किया । उन्होंने वहां उपमा का वियोगमात्र माना । अलंकार के वियोग को स्वीकार करने से 'असम' अलंकार भी 'उपमावियोग' से गतार्थ हो जाता है । अलंकार वियोग के प्रतिपादन के समर्थन में आनन्दवर्धनाचार्य का मत इस प्रकार रखा:—

'सुकविस्तु रसानुसारेण क्वचिदलंकारसंयोगं क्वचिदलंकारवियोगं च कुर्यात् ।' (देखिए ध्वन्यालोक २।१८,१६)

" उन्होंने 'रक्तत्वमित्यादि' को श्लेषत्याग के उदाहरण के रूप में

---

१. रसगंगाधर, पृ० ४७५
२. ,, पृ० ४७७

प्रस्तुत किया[1] और अन्तत: यह सादृश्यदूरीकरण में पर्यवसित होता है।[2] अत: अप्पयके उदाहरण में भी उपमावियोग का रूप मानने में कोई बुराई नहीं है।

भामह, उद्भट आदि ने व्यतिरेक को परिभाषित किया। आचार्य मम्मट तक आते-आते व्यतिरेक के चौबीस भेद माने गये।[3] उपमेय का उपमान से आधिक्य, उपमेयगत उत्कर्ष का कारण या उपमानगत अपकर्ष का कारण यदि शब्दत: कथित हो, यदि एक ही कहा गया हो या दोनों ही अनुक्त हो—इस प्रकार चार भेद होते हैं। इन चारों में इसी प्रकार उपमानो-मेयभाव शब्दत: कथित, आर्थ या आक्षिप्त हो सकता है, अत: बारह भेद हुए। ये श्लेष में भी होने हैं और अश्लेष भी, फलत: चौबीस भेद हो जाते हैं। साहित्यदर्पणकार ने उपमान से उपमेय की हीनता में भी इसी प्रकार चौबीस भेद मानकर भेदों की संख्या अड़तालीस कर दी।[4]

पण्डितराज ने इन भेदों पर विचार करते हुए प्रथमत: श्लिष्ट वैधर्म्य व्यतिरेक में उपमेय के उत्कर्ष और उपमान के अपकर्ष—इन दोनों के ग्रहण से रहित आती, आर्थी और आक्षिप्त उपमा वाले भेद की सिद्धि कठिन बतायी, क्योंकि स्वशब्दवेद्य वैधर्म्य के अभाव में श्लेष ही कैसे होगा? अत: चौबीस भेद की संगति कठिन है। पंडितराज ने यह भी कहा कि उपमा के समस्त भेद व्यतिरेक में भी संभव हैं:--

'इत्थं च चतुर्विंशतिभेदा इति प्राचामुक्तिर्विपुलोदाहरणाभिज्ञे—

---

१. ध्वन्यालोक, पृ० २२७-२८

२. रसगंगाधर, पृ० ४७७। नागेश ने यहाँ 'अलंकारवियोग' का खंडन कर स्वयं भूल की। देखिये—हिन्दीरसगंगाधर—भाग दो—पृ० ४६१-६२

३. काव्यप्रकाश, पृ० ६४७

४. साहित्यदर्पण, १०।५२, ५३, ५४

यथाकथंचिदुपपादनीया । किं चोपमाप्रभेदा : सर्वे स एवात्रभवन्तीत्यलं चतुर्विं -
शतिभेदगणानया ।"[१]

यह अलंकार वैधर्म्य के कारण होता है, अत: इसका उपमा से प्रतिकूल होना उचित है , न कि गर्भित होना --यह कथन नहीं माना जा सकता, क्योंकि व्यतिरेक में जिस गुण को सामने रख कर जिसका सादृश्य निषेध--उत्कर्षपर्यवसायी होता है, उसका उस गुण के पुरस्कार से सादृश्य संभव नहीं होता , किन्तु अन्य गुणों से सादृश्य का बोध दुर्निवार्य ही है । अन्यथा गुणविशेष का पुरस्कार ही निरर्थक है ।[२] नागेश व्यतिरेक की सादृश्यगर्भता-को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि वस्तुत: उक्त न्यूनाधिकता के वर्णन न करने पर जिनका सादृश्य हो सकता है, उन्हीं का व्यतिरेक होता है ।[३] यही इसकी सादृश्यगर्भता है ।

पण्डितराज के मत में साहित्यदर्पण द्वारा स्वीकृत उपमेय की न्यूनता में होने वाले चौबीस भेदों की स्थिति का प्रश्न ही नहीं है । पण्डित-राज ने इस अलंकार के भेद इस प्रकार भी बताये --

(१) जिस व्यतिरेक में सादृश्य का निषेध शब्दत: वर्णित हो, और उपमेय का उत्कर्ष तथा उपमान का अपकर्ष आक्षिप्त हो ।

(२) उपमेय का उत्कर्ष शब्दत: वर्णित हो और उपमान का अपकर्ष तथा सादृश्य का अभाव आक्षिप्त हो ।

(३) उपमान का अपकर्ष शब्दत: वर्णित हो और उपमेय का उत्कर्ष तथा सादृश्यभाव आक्षिप्त हो ।

---

१. रसगंगाधर, पृ० ४७१

२. ,, पृ० ४७१-७२

३. मर्मप्रकाश, पृ० ४७१-४७२

प्रथम प्रकार के प्राचीन सम्मत भेद के अनुसार ही अन्य प्रकारों के भेद भी हो सकते हैं। व्यतिरेक की अर्थशक्ति मूल ध्वनि में उपर्युक्त तीनों ही आक्षिप्त होते हैं। पंडितराज ने अलंकारान्तरोत्थापित भेद व्यतिरेक के उत्थापक धर्म तथा अभेदनिषेधालिंगित भेद की भी चर्चा की।

पण्डितराज ने उपमेय के अपकर्ष में व्यतिरेक मानने के विपक्ष में अपना तर्क सम्मत निर्णय दिया। उन्होंने व्यतिरेक की भेद व्यवस्था पर दृष्टिपातकर ठीक चौबीस प्रकार मानने में कठिनाई दिखायी। प्रकारान्तर रूप से भी भेदों की व्यवस्था कर इस दिशा में नवीन दृष्टि प्रदान की।

सहोक्ति

भामह[1] और उद्भटादि द्वारा उल्लिखित इस अलंकार को पंडितराज ने इस प्रकारपरिभाषित किया ---

' गुणप्रधानभावच्छिन्नसहार्थसम्बन्ध: सहोक्ति: ।'[2]

अर्थात् जिनमें एक गौण हो और एक प्रधान ऐसे दो अर्थों का यह शब्दार्थ सम्बन्ध सहोक्ति है । रुय्यक के अनुसार सहोक्ति का सौन्दर्य 'कार्य-कारण पौर्वापर्य की विपरीतता' , 'श्लेषमूलाध्यवसान' या 'केवलाध्यवसान' रूपी अतिशयोक्ति से अनुप्राणित रहने पर होती है । इस प्रकार सहोक्ति के तीन प्रकार भी हो जाते हैं । चौथी मालारूपा सहोक्ति है । 'सह' शब्द के प्रयोग होने पर भी एक अर्थ की गौणता और दूसरे की प्रधानता में ही सहोक्ति होती है, किन्तु दोनों प्रधानतया क्रिया में अन्वित होते पर पर तुल्ययोगिता अथवा दीपक ही होता है । 'सह' आदि शब्द के प्रयोग न होने पर भी सहोक्ति होती है, क्योंकि 'वृद्धो यूना' (१।२।६५) इस पाणिनिसूत्र के निर्देशानुसार केवल तृतीया भी सहार्थप्रतिपादक होती है । किन्तु ऐसी सहोक्ति 'इव' आदि से रहित उत्प्रेक्षा की भाँति गम्य ही होती है । किन्तु वहाँ भी अप्रधानता तो शाब्द ही माननी चाहिये । पण्डितराज ने अत्यन्त पाण्डित्यपूर्ण रूप से यह प्रतिपादित करते का प्रयत्न किया है कि सहशब्द के प्रयोग के अभाव में भी ' अप्रधान' अर्थ की वाचिका तृतीया विभक्ति का प्रयोग होता है , अत: अप्रधानता को शाब्द ही मानना चाहिये । इस प्रसंग में वे भट्टोजिदीक्षित का

---

१. काव्यालंकार, पृ० १०३

२. रसगंगाधर, पृ० ४८१

खण्डन करते हुए सह्युक्ते चाप्रधाने ' में ' अप्रधान ' ग्रहण की सार्थकता प्रमाणित करने का प्रयत्न करते हैं। [१]

सहोक्ति में उपमेयोपमानत्व का निर्णायक प्रकृताप्रकृतत्व नहीं, अपितु प्रधानाप्रधानता है। आ० रुद्रट[२], रुय्यक[३] और विश्वनाथ[४] की भांति पण्डितराज भी मानते हैं कि अतिशयोक्ति के कारण सहोक्ति में सौन्दर्य आ जाता है।

कारणकार्य के पौर्वापर्य वैपरीत्य से अनुप्राणित स्थल में पण्डितराज अतिशयोक्ति ही मानते हैं, सहोक्ति का तो नाममात्र ही रहता है यह मानने पर भी अभेदाध्यवसान रूप अतिशय से सहोक्ति के कवलित होने का प्रश्न नहीं उठता, क्योंकि एक तो अभेदाध्यवसानमूला सहोक्ति में अभेद के अध्यवसान से सहोक्ति उपस्कृत होती है, अत: वह प्रधान होती है। दूसरे केवल परस्पर का अध्यवसान ' अतिशय ' मात्र है, अतिशयोक्ति नहीं। अतिशयोक्ति उपमान से उपमेय के निगरण में ही होती है। उपर्युक्त अतिशय तो बहुत से अलंकारों का उपस्कारक है। अत: रुय्यक का कारणकार्य पौर्वापर्यवैपरीत्य में सहोक्ति मानना आग्रहमात्र है।

दीपक और तुल्ययोगिता में उपमान और उपमेय की प्रधानता होने से उनका क्रियादिरूपधर्म में प्रधानतया अन्वय होता है और सहोक्ति में एक का गौणरूप से और दूसरे का प्रधानतया इस अन्तर को बहुत साधारण मान कर यदि सहोक्ति को दीपक और तुल्ययोगिता में सन्निविष्ट करने के प्रयत्न को पंडितराज ने समर्थित नहीं किया, अपितु प्राचीनों के अभिमत का समर्थन कर इसे स्वतंत्र अलंकार ही माना। [५]

---

१. काव्यालंकार--पृ०१०३
२. रसगंगाधर, पृ० ४८१
३. ,, पृ० ४८३-८५
४. साहित्यदर्पण, १०।७२
५. रसगंगाधर, पृ० ४८६-४८८

विनोक्ति

भामह और उद्भट आदि ने इसका उल्लेख नहीं किया है। पण्डितराज ने विनोक्ति का लक्षण इस प्रकार लिखा —

'विनार्थसम्बन्ध एव विनोक्ति: ।'[1]

अर्थात् 'विना' शब्द के अर्थ के संबंध को ही विनोक्ति कहते हैं। इसके अरमणीयता में विनोक्ति रमणीयता में विनोक्ति, तदुभयमिश्रण में विनोक्ति — इन भेदों की भी चर्चा कर यह अलंकार 'विना' के समानार्थी नञ्, निर्, अन्तरेण, आदि सभी शब्दों के योग में हो सकता है। रुय्यक ने 'विना' शब्द के प्रयोग के बिना भी विनार्थ विवक्षा को यथाकथंचित् निमित्तीभूत माना था, किन्तु पण्डितराज उनके उदाहृत उसे स्थल में विनोक्तिध्वनि ही मानते हैं।

'अलंकारभाष्यकार'[2] ने 'नित्यसम्बन्धवालों के असम्बन्ध कथन में विनोक्ति मानी है। मम्मट,[3] रुय्यक,[4] विश्वनाथ[5] ने भी विनोक्ति का निरूपण किया है। पण्डितराज ने यह मत भी उपस्थित किया है कि इस अलंकार की सुन्दरता किसी अन्य अलंकार के आलिंगन से ही होती है अत: इसे भिन्न अलंकार मानना शिथिल है।

---

१. रसगंगाधर, पृ० ४६०-६३

२. इस 'अलंकारभाष्य' का उल्लेख जयरथ ने भी किया है। विमर्शिनी, पृ० ८३

३. काव्यप्रकाश, पृ० ६७३

४. अलंकारसर्वस्व, पृ० १०५

५. साहित्यदर्पण, १०।४६

समासोक्ति

समासोक्ति की परिभाषा लिखते हुए पण्डितराज ने कहा—

"यत्र प्रस्तुतधर्मिकव्यवहारः साधारणविशेषणमात्रोपस्थापिताप्रस्तुतधर्मिकव्यवहाराभेदेन भासते सा समासोक्तिः।"

अर्थात् जहाँ प्रस्तुत धर्मी से सम्बन्ध रखने वाला व्यवहार, केवल सामान्य विशेषणों द्वारा उपस्थित कराये हुए अप्रस्तुत धर्मी से सम्बद्ध के व्यवहार से अभिन्न प्रतीत होता है, वह समासोक्ति है। न्याय की परिष्कृत शैली में इसे इस प्रकार पण्डितराज ने रखा है —

"साधारणविशेषणमात्रबुद्ध्युपस्थापिताप्रकृतधार्मिकव्यवहाराभिन्नत्वेन भासमानप्रकृतधर्मिकव्यवहारत्वमिति वक्रोक्तिः।"

लक्षण में 'साधारणविशेषण मात्र' — पद का सन्निवेश शब्दशक्तिमूलध्वनि में अतिव्याप्ति के वारण के लिये किया गया, क्योंकि वहाँ विशेष्य भी श्लिष्ट रहता है और प्रकृतेतर धर्मी के उपस्थापन द्वारा उसके व्यवहार की उपस्थिति कराता है। 'अबध्नास्मलकान्' इत्यादि श्लेष स्थलों में, जहाँ प्रकृत धर्मी के प्रकृत और अप्रकृत व्यवहारों का श्लेष रहता है, अतिव्याप्ति वारण के लिये धर्मी को प्रस्तुत और अप्रस्तुत कहा गया है। यहाँ राजवर्णन प्रस्तुत रहने पर दोनों ही व्यवहार प्रस्तुत रहेंगे, तब अतिव्याप्ति स्वयं न होगी, किन्तु जब केवल वर्णन प्रस्तुत हो तब तो अतिव्याप्ति हो ही जायगी। इसी प्रकार 'मलिनेऽपि रागपूर्णां विकसितवदनामनल्पजल्पेऽपि। त्वयि चपलेऽपि च सरसां भ्रमर कथं वा सरोजिनीं त्यजसि।' इत्यादि अप्रस्तुत प्रशंसा में भी अप्रस्तुत का व्यवहार साक्षात् गृहीत होने के कारण, विशेष्य द्वारा उपस्थापित होता

ही है, अतएव यहाँ भी अतिव्याप्ति नहीं होती । किन्तु यहाँ यदि जलक्रीडादि के प्रसंग में भ्रमर वृत्तान्त को ही प्रस्तुत माना जाय और नायक वृत्तान्त अप्रस्तुत हो तो समासोक्ति ही हो सकेगी ।[1] समासोक्ति का यौगिक अर्थ है, संक्षेप में कथन । भामह,[2] दंडी,[3] वामन,[4] प्रतीहारेन्दुराज,[5] मम्मट[6] तथा गोविन्द ठक्कुर[7] ने इस बात की ओर संकेत किया है ।

शाब्दबोध :-

समासोक्ति में वाक्यार्थ अभिधा से ही प्रतीत होता है ।

'विबोधयन् करस्पर्शैः पद्मिनीं मुद्रिताननाम् ।
परिपूर्णानुरागेण प्रातर्जयति भास्करः ।।'

प्रभातकाल में मुद्रितानन पद्मिनी को परिपूर्ण अनुराग से करस्पर्श द्वारा जगाते भास्कर की जय है । इस श्लोक में 'किरणस्पर्शक -मुकुलितपद्मिनीकर्मक-विकासानुकूल व्यापारवदभिन्नो भास्करो जयति' -यह वाक्यार्थ अभिधा से ही प्राप्त होता है । किन्तु 'हस्तस्पर्शकरणकनायिकाविशेषकर्मक- अनुनयानुकूलव्यापारवद भिन्न' -द्वितीय अर्थ के बोध के सम्बन्ध में तीन मत हैं :-

(१) यह दोनों अर्थों से सम्बद्ध अभिधा से ही लभ्य है ।

(२) एक शक्ति से एक अर्थ के बोध का सिद्धान्त मानने वालों

---

१. रसगंगाधर, पृ० ४६३-६५

२. काव्यालंकार, २।७६

३. काव्यादर्श, २।२०५

४. काव्यालंकारसूत्रवृत्ति, ४।३।३

५. लघुवृत्ति, पृ० ३६

६. काव्यप्रकाश, पृ० ६११

७. प्रदीप, पृ० ४११

के मत में शक्त्यन्तर से लभ्य है ।
(३) व्यंजना से प्रतीत होता है ।

पण्डितराज ने भामह [१] , उद्भट,[२] आदि के अभिप्राय को इस प्रकार रखा कि विशेषणों की समानता के प्रभाव से प्रतीत होने वाले अप्रकृत वाक्यार्थ अपने अनुकूल नायिकादिक का आक्षेप कर और तबनायिकादि अर्थों से परिपूर्ण अतएव विशिष्ट रूप में उपस्थित हो, अप्रकृत वाक्य के अवयवों से अपने अवयवों का तादात्म्य बना कर प्रकृत वाक्य के अर्थ में अभेद से स्थित होता है । वह `परिणाम ` की भाँति प्रकृत रूप से कार्य में उपयोगी और स्वात्मना (नायिका रूप से) रसादि में उपयोगी होता है । अत: शक्ति और आक्षेप से ही सब बातों का निर्वाह हो जाता है —

" शक्त्याक्षेपाभ्यां सर्वार्थनिर्वाह: इति भामहोद्भटप्रभृतीनां चिरन्तनानामाशय: ।" [३]

किन्तु कहीं-कहीं श्लेष के तथा विशेषणों की समानता के अभाव में भी प्रकारान्तर से अप्रकृत अर्थ होती है, ऐसे स्थल में अर्थ का आक्षेप नहीं हो सकता, अत: केवल शक्ति और आक्षेप से काम कैसे चलेगा । `निशामुखं चुम्बति चन्द्र एष:` में `निशा` और `चन्द्र` में श्लेष नहीं है, केवल मुखचुम्बन पुत्रादि का भी हो सकता है, तब नियमत: नायक का आक्षेप कैसे हो सकता है ? फिर नायक का चन्द्र और नायिका का `निशा` के साथ अभेदान्वय कैसे होगा ? `चुम्बन` आदि में भेद सम्बन्ध से अन्वय क्यों नहीं होता । यदि `चन्द्र` और `निशा` के स्थान पर स्थान पर भिन्नलिंग के शब्द दिये जायं, तो नायकत्व नायिकात्व की प्रतीति नहीं होती । अत: सिद्ध होता है कि प्रकृत उदाहरण

---

१. काव्यालंकार, २।७६
२. काव्यालंकारसारसंग्रह, पृ० २६
३. `रसगंगाधर, पृ० ४६८-६६

में `निशा` के `टाप्` प्रत्यय से प्रतिपादित स्त्रीत्व से नायिकात्व और `चन्द्र:` की प्रथमा से प्रतिपादित पुल्लिंग से नायकत्व की अभिव्यक्ति होती है। श्लिष्ट विशेषणों से भी व्यंजना द्वारा ही अप्रकृत अर्थ का बोध होता है।[१]

पण्डितराज ने अपना स्पष्ट मत रखा कि समासोक्ति में व्यंजना के प्रभाव से अप्रकृत वाक्यार्थ के अभेद से प्रकृतवाक्यार्थ स्थितरहता है और समासोक्ति गुणीभूत व्यंग्य है।[२]

रुय्यक ने समासोक्ति में विशेषण की समानता के कारण प्रतीयमान अप्रस्तुत की, प्रस्तुत के असाधारणरूप से, प्रतीति कही और अवच्छेदक (असाधारणधर्मरूपता) के कारण व्यवहार का समारोप माना, रूप का नहीं। अर्थात् अप्रस्तुतव्यवहारावच्छिन्न प्रस्तुत (नायक व्यवहारावच्छिन्न भास्कर) की प्रतीति मानी है, किन्तु पण्डितराज ने इसे अस्वीकार किया। अप्रकृत व्यवहार प्रकृतकर्ता में नायकादिरूपस्व (अप्रकृतव्यवहार) के कर्ता से विशेषित रूप में हो नहीं सकता, क्योंकि तब चन्द्र आदि की नायकव्यवहाराश्रयता के कारण नायक का साम्य ही सिद्ध होने लगेगा और यह श्लेषभित्तिक अध्यवसान द्वारा व्यवहारभेद के प्रतिपादन के इच्छुक कवि का अभिप्रेत नहीं है। अभिप्रेत है नायकत्व और बायक (चन्द्र आदि) के व्यवहार का विशेषण होने पर सिद्ध नहीं होता। कर्ता से अविशिष्ट केवल प्रकृत व्यवहार का आरोप भी उचित नहीं क्योंकि नायक के सम्बन्धी रूप में अज्ञात केवल मुखचुम्बन में कोई सौन्दर्य न होगा।

रुय्यक का अनुगमन कर अप्पयदीक्षित ने समासोक्ति में अप्रस्तुत के व्यवहार के आरोप को सुन्दरता का कारण बताया, रूपक की भांति

---

१. तुलनीय, साहित्यदर्पण, १०।७४

२. रसगंगाधर, पृ० ५००

३. अलंकारसर्वस्व, पृ० १०७-१०६.

प्रस्तुत में अप्रस्तुत का समारोप नहीं —

' ततश्च समासोक्तावप्रस्तुतव्यवहारसमारोपश्चारुताहेतुः ।
न तु रूपक इव प्रस्तुते अप्रस्तुतसमारोपोऽस्ति ।'[1]

पण्डितराज ने इस मान्यता का खंडन कर सिद्धान्त स्थापित किया कि अप्रकृत-व्यवहार से अभिन्नरूप में माना हुआ प्रकृत व्यवहार अप्रकृतव्यवहार से अभिन्नरूप में स्थित विशेषय से प्रकृत विशेष्य में भासित होता है । यहां प्रकृत अर्थ में उपस्कारक होने के कारण अप्रकृत अर्थ गौण होता है :—

' तस्मादप्रकृताभिन्नतया व्यवसितः प्रकृतव्यवहारः स्वविशेष्ये तद्विशेष्याभिन्नतयावस्थिते भासते ।'[2]

यह वाक्यार्थ रूपक के विशिष्ट अर्थ में विशिष्ट अर्थ के होने वाले आरोप से भिन्न है, क्योंकि समासोक्ति में प्रकृत-अप्रकृत वाक्यार्थ अलग-अलग शब्दों से ज्ञात नहीं होते । यहां तो प्रकृतवाक्यार्थघटक पदार्थ तादात्म्य सम्बन्ध के द्वारा अप्रकृतवाक्यार्थघटक पदार्थों से आश्लिष्ट होकर ही वैशिष्ट्य का अनुभव करते हुए महावाक्यार्थ रूप में परिणत होते हैं ।[3]

यहां नागेश ने यह विवेचन किया है कि समासोक्ति में प्रस्तुत व्यवहार में अप्रस्तुत व्यवहार मात्र का समारोप होता है या प्रस्तुत धर्मी में अप्रस्तुत धर्मी का भी और अन्ततः यही निष्कर्ष दिया है कि अप्रस्तुतधर्मी सम्बन्धी व्यवहार का ही समारोप होता है —

' समासोक्तावप्रस्तुत वृत्तान्तसमारोप एव चारुताहेतुरिति प्राञ्च : । .... एवं चाप्रस्तुत व्यवहारसमारोपपदेन प्रस्तुतव्यवहारसमारोपपदेन च प्रस्तुतव्यवहारतादात्म्यापन्नसमारोप उच्यते । .... एतेन

---

१. रसगंगाधर, पृ० ५०२
२. ,, पृ० ५०६
३. ,, पृ० ५०६

अयमैन्द्रीत्यादौ शक्तिव्यंजनाभ्यां प्राचीप्रारम्भबन्धाश्रयश्चन्द्रो जारसंबन्धिसानुराग-परनायिकामुखचुम्बनाश्रय इति बोध: । अप्रस्तुतवृत्तान्ताभिन्नत्वेनाध्यवसितस्य प्रस्तुत-वृत्तान्तस्य तादात्म्येनाप्रस्तुतारोपविषये धर्मिण्यन्वय इति मते तु सानुरागपर-नायिकामुखचुम्बनाभिन्न प्राचीप्रारम्भसंयोगजाराभिन्नश्चन्द्र इति बोध इत्यप्रपा-स्तम् ।' [१]

पण्डितराज ने विशेषण की समानता के दो आधार—श्लेष और शुद्ध साधारणता—के अनुसार समासोक्ति के दो भेद किये । ये दो कभी किसी अन्य धर्म को पुरस्कृत करने और कभी कार्य को पुरस्कृत करने से चार प्रकार के हो जाते हैं ।

उन्होंने समासोक्ति के पुन: चार भेद बताये —

(१) लौकिक व्यवहार में लौकिक व्यवहार का आरोप ।

(२) शास्त्रीय व्यवहार में शास्त्रीय व्यवहार का आरोप ।

(३) लौकिक व्यवहार में शास्त्रीय व्यवहार का आरोप ।

(४) शास्त्रीय व्यवहार में लौकिक व्यवहार का आरोप ।

पण्डितराज ने अप्पयदीक्षित द्वारा 'सारूप्य के कारण समासोक्ति' के उदाहरण रूप में प्रस्तुत 'पुरा यत्र स्रोत:' इत्यादि भवभूति के श्लोक में समासोक्ति का खंडन कर अप्रस्तुत प्रशंसा माना है । [२] उन्होंने रुय्यक के समासोक्ति—उदाहरण और उद्भट के समासोक्ति के उदाहरण का खंडन कर वहां अन्य अलंकार बताया । [३]

---

१. मर्मप्रकाश, रसगंगाधर, पृ० ४६५-६७

२. पण्डितराज ने 'अप्रस्तुत द्वारा प्रस्तुत की प्रशंसा' यह पक्ष ग्रहण कर इस श्लोक में अप्रस्तुत प्रशंसा ही मानी । नागेश ने 'मर्मप्रकाश' में पण्डितराज के मत के खण्डन का प्रयास किया है, किन्तु वह निष्फल है ।

—देखिए हिन्दी रसगंगाधर, भाग३, पृ०२८

३. रसगंगाधर, पृ० ५०६—११

समासोक्ति विवेचन में अप्रकृत अर्थ की प्रतीति के सम्बन्ध में आचार्यों के मत के क्रमिक विकास की समझ का अद्भुत परिचय दिया है। उन्होंने इस सम्बन्ध में अपने मत और समासोक्ति के भेदविवेचन में अद्वितीय मौलिकता का परिचय दिया।

परिकर

परिकर अलंकार का सर्वप्रथम विवेचन रुद्रट ने प्रस्तुत किया। मम्मट और विश्वनाथ आदि ने भी इसे स्वीकार किया। पण्डितराज ने उसकी परिभाषा इस प्रकार लिखः—

'विशेषणानां साभिप्रायत्वं परिकरः।'[1]

अर्थात् विशेषणों की साभिप्रायता को परिकर अलंकार कहते हैं। 'साभिप्राय' से तात्पर्य प्रकृत अर्थ के उपपादक चमत्कारपूर्णव्यंग्यसे युक्त होना है। 'हेतु' अलंकार से इसमें यही अन्तर है। 'उपपादक' से तात्पर्य प्रकृत अर्थ के उपस्कारक या निष्पादक होने से है। यहां व्यंग्य गौण होता है, अतएव 'ध्वनि' नहीं कहलाता।

परिकर की पृथगलंकारता:—

प्रयोजनरहित विशेषण ग्रहण करने में अपुष्टार्थ दोष होता है, अतः इसे दोष का अभाव रूप ही मानना चाहिए, पृथक् स्वतंत्र अलंकार क्यों? इसका उत्तर जयरथ ने यह दिया कि दोषाभावरूप तो केवल एक विशेषण होने पर ही माना जा सकता है, अभिप्रायसहित विशेषणों की अधिकता में वैचित्र्याधिक्य होता है, अतः उसे स्वतंत्र अलंकार ही मानना चाहिये :—

'विशेषणानां चात्र बहुत्वमेव विवक्षितम्, अन्यथा ह्यपुष्टार्थस्य दोषत्वाभिधानात्तन्निराकरणेन स्वीकृतस्य पुष्टार्थस्यायं विषयः स्यात्।'[2]

---

१. रसगंगाधर, पृ० ५१७

२. विमर्शिनी—अलंकारसर्वस्व, पृ० १२०

इस मत को आचार्य मम्मट ने रखा था[1] और विश्वनाथ ने भी इसे स्वीकार किया।[2] किन्तु गोविन्दठक्कुर,[3] पण्डितराज और नागेश[4] ने इस मत का विरोध किया। पण्डितराज ने कहा कि विशेषणों का आधिक्य व्यंग्य के आधिक्य से विशेषवैचित्र्य भले ही उत्पन्न करे, किन्तु वही प्रकृत अलंकार का शरीर है यह नहीं कहा जा सकता। परिकर में एक-एक विशेषण से सम्पूर्ण वाक्यार्थ का संजीवन होता है —

"एकस्यैव विशेषणस्य चमत्कारितायाअपह्नवनीयत्वात्।"[5]

अप्पयदीक्षित ने कुवलयानन्द में कहा—

"वस्तुतस्त्वनेकविशेषणोपन्यास एव परिकर इति न नियम:। श्लेषयमकादिष्वपुष्टार्थदोषाभावेन तत्रैकस्यापि विशेषणस्य साभिप्रायस्य विन्यासे विच्छित्तिविशेषसद्भावात् परिकरत्वोपपत्ते:।"[6]

अर्थात् अनेक साभिप्राय विशेषणों में ही परिकर होने का कोई नियम नहीं है। श्लेष, यमक आदि में अपुष्टार्थदोष अभाव के कारण जहां एक भी विशेषण का साभिप्राय प्रयोग हो, वह चमत्कारविशेष के कारण परिकर होता है।

पण्डितराजने यहां अप्पय द्वारा श्लेष, यमक आदि की दुहाई देने का विरोध किया। परिकर को दोषाभाव रूप में परिगणित करने वाला

---

१. काव्यप्रकाश, पृ० ७००

२. साहित्यदर्पण १०।५७

३. "तादृशै-विशेषणोपन्यासेऽपि अलंकारत्वमुचितम्। अपुष्टार्थत्वविरहस्य निर्विशेषणतया प्युपपत्तेरर्थसिद्धत्वाभावाद्वैचित्र्यस्य चानुभवसिद्धत्वात्" — — प्रदीप, काव्यप्रकाश, पृ० ७००

४. काव्यप्रकाश, पृ० ७००

५. रसगंगाधर, पृ० ५१९

६. कुवलयानन्द, पृ० ९५

यदि श्लेष और यमक से रहित स्थलों में साभिप्राय विशेषण को चमत्कारी मानता है, तो फिर यमक-श्लेष हो या न हो, परिकर अलंकार उसे मानना ही होगा और अगर नहीं मानता तो यमकादि को भी चमत्कारहीन कह देगा। साभिप्राय विशेषण को स्वयं में चमत्कारी न मानने पर यमकादि में कोई अपुष्टार्थदोष दूर करता है, तो वह तो रसपरिपोषक मात्र ही होगा और यदि चमत्कारी मानता है, तो यमक आदि तक अनुधावन व्यर्थ है। अत: सीधा उत्तर यही है कि परिकर दोषाभावरूप तो है ही, अलंकार भी है। `सुन्दर होने पर उपस्कारक होना` अलंकारत्व है और `चमत्कार की अपकर्षकता का अभाव` दोषाभाव। यह पृथक्-पृथक् क्षेत्र वाले धर्म एक ही स्थल पर हों तो क्या हानि ? जैसे ब्राह्मण का मूर्ख होना तो दोष है, किन्तु विद्या सम्पन्नता तो दोष का अभाव और गुण दोनों ही है। जैसे समासोक्ति को गुणीभूत-व्यंग्य और अलंकार दोनों ही मानते हैं या जैसे प्रासादवासी यदि भूमिपर ही रहता है, तो भूमिवासी भी गिना ही जाता है, वैसे ही यह भी दोषाभावरूप और अलंकार रूप दोनों ही है, अन्यथा `निर्हेतुत्व` रूप दोष का अभाव `काव्य-लिंग` भी अलंकार न हो सकेगा।[१]

पण्डितराज ने परिकर के चार भेद भी गिनाये :—

(१) वाच्यसिद्ध्यंगत्वाच्यायमान-व्यंग्यगर्भ (२) वाच्यसिद्ध्यंग-वाच्यतास्पर्शशून्य व्यंग्य गर्भ (३) उपस्कारकवाच्याभमान व्यंग्यगर्भ तथा (४) उपस्कारकवाच्यतास्पर्शशून्यव्यंग्यगर्भ।

इस अलंकार के विवेचन में पण्डितराज ने साभिप्राय विशेषण में भी अलंकारता मानी और अनेक साभिप्रायविशेषण होने पर चमत्काराधिक्य की बात बताकर स्थिति स्पष्ट कर दी। यद्यपि अपने प्रतिपादन में उन्हें दीक्षित से प्रेरणा मिली, किन्तु उनका तर्कोपस्थापन दीक्षित से कहीं अधिक प्रौढ़ और विशद है।

----

१. रसगंगाधर, पृ० ५१६-२२

श्लेष

पण्डितराज ने श्लेष का लक्षण इस प्रकार लिखा:—

"श्रुत्यैक्यानेकार्थप्रतिपादनं श्लेष: ।"[1]

अर्थात् एक श्रुति से अनेक अर्थों के प्रतिपादन को श्लेष कहते हैं। इन अनेक अर्थों का प्रतिपादन—एकधर्मपुरस्कार और अनेकधर्मपुरस्कार द्वारा — दो तरह से होता है। अनेक धर्मों के पुरस्कार से प्रतिपादन वाला श्लेष अनेक शब्दों के प्रतिमान से और एक शब्द के प्रतिभान से — इसतरह दो प्रकार होता है। इसमें एक श्रुति से अनेक शब्दों के प्रतिभान वाले श्लेष को सभंग और एक श्रुति से एक शब्द प्रतिभान वाले को अभंग कहते हैं।

यह तीन प्रकार का श्लेष प्रकृतमात्राश्रित, अप्रकृतमात्राश्रित उभयाश्रित भेद से पुन: तीन-तीन प्रकार का होता है। इनमें से प्रकृताश्रित तथा अप्रकृताश्रित भेदों में विशेष्य का श्लिष्ट होना इच्छाधीन है, किन्तु उभयाश्रित में विशेषणवाचक ही श्लिष्ट होता है, विशेष्यवाचक नहीं, क्योंकि यहाँ भी विशेष्यवाचक को श्लिष्ट मानने पर शब्दशक्ति मूलध्वनि का ही उच्छेद हो जायगा। विशेषणमात्र के श्लिष्ट होने पर भी प्रकृत और अप्रकृत-दोनों धर्मियों के ग्रहण में ही श्लेष होता है, प्रकृतधर्मी मात्र के ग्रहण करने पर तो समासोक्ति का ही विषय होता है। इस तरह (१) प्रकृतमात्र विशेष्यक अनेकार्थ विशेषण (२) अप्रकृतमात्रविशेष्यक —अनेकार्थविशेषण (३) पृथगुपात्त—प्रकृताप्रकृतोभय-विशेष्यक—नानार्थविशेषण—इन तीन में से कोई एक होना श्लेष कहलाता है।

श्लेष का क्षेत्र:— श्लेष प्राय: अन्य अलंकारों के विषय में प्रविष्ट रहता है।

---

१. रसगंगाधर, पृ० ५२३

ऐसे स्थलों में इसे उन अलंकारों का बाधक, उनसे संकीर्ण अथवा उनसे बाध्य मानने के विकल्प हो सकते हैं ।

उद्भट का मत है [१] कि `येन नाप्राप्ते य आरम्भते, स तस्य बाधक:` अर्थात् जिसके पूर्णतया प्राप्त न हो पाने पर जो दूसरा आरंभ होता वह उस (प्रथम) का बाधक हो जाता है, क्योंकि वह दूसरे अलंकारों को बाधित कर देता है । इसका कोई पृथक् विषय नहीं है, जहां सावकाश हो कर यह अन्य का बाध न करे । जैसे केवल अप्रकृत और प्रकृत के श्लेष में तुल्ययोगिता ही उल्लसित होती है, प्रकृत-प्रकृत के श्लेष में दीपक और दीपक से अनुमोदित उपमादि हैं ही ।

काव्यप्रकाश ने श्लेष का पृथक् विषय बताते हुए जो उदाहरण दिया, [२] पंडितराज वहां भी रूपक अलंकार को अनिवार्य बताते हैं, अत: मम्मट के उत्तर से काम नहीं चलता ।

उद्भटाचार्य के मत से `नदीनां संपदं बिभ्रद्राराजायं सागरो यथा` में जहां श्लेषस्थल है और उपमा की भी प्रतीति होती है, वहां उपमादि का प्रतिभावमात्र होता है, वास्तविक स्थिति नहीं है । शुक्ति में श्वेतता से प्रतीयमान रजत भी वास्तविक स्थिति नहीं ही होती । अत: उपमादि का प्रतीति हेतु श्लेष ही अलंकार होता है । [३]

किन्तु दूसरों ने उद्भट का खंडन करते हुए कहा, `येन नाप्राप्ते

---

१. काव्यालंकारसारसंग्रह, पृ० ५४-५७

२. काव्यप्रकाश, पृ० ५२२-२३

३. तुलनीय —

`एष च नाप्राप्तेष्वलंकारान्तरेष्वारभ्यमाणास्तद्बाधकत्वेन तत्प्रतिभोत्पत्तिहेतुरिति केचित्` —

अलंकारसर्वस्व — पृ० १२५

`केचिदित्युद्भटाद्य: ।`

विमर्शिनी, पृ० १२५

य आरभ्यते स तस्य बाधकः` न्याय ठीक नहीं । क्योंकि`सर्वदोमाधवः पातु यो गंगा समदीधरत्` इत्यादि स्थल में श्लेष के अतिरिक्त और कौन अलंकार हो सकता है । तुल्ययोगिता हो नहीं सकती, क्योंकि उसमें सादृश्य की प्रतीति नियत रूप से होती है । यहाँ एक श्रुति से दो अर्थों के ग्रहण के अतिरिक्त और कुछ भी चमत्कारजनक नहीं है । इस तरह यहाँ श्लेष ही है । श्लेष के सावकाश होने से अन्य अलंकारों का बाधक कहना ठीक नहीं है -- एकश्रुत्यार्थद्वयोपादानं तु श्लेष एव । एवं ना सावकाशत्वाच्छ्लेषस्यालंकारान्तरापवादकत्वं न न युक्तम् ।` [१]

इसी तरह पूर्वोल्लिखित` नदीनां सम्पदं बिभ्रत्` इत्यादि में उपमादि की प्रतीतिमात्र कहना और वास्तविक स्थिति न मानना भी असंगत है । क्योंकि `शब्द` मात्र के समानधर्म होने पर भी उपमा में बाधा नहीं है । ऐसे स्थलों पर प्रत्युत श्लेष की प्रतीति ही प्रातिभासिक होती है । इसी भाँति `समरार्चितोऽप्यमरार्चितः` में भी` तिमिररोगी को दो चन्द्र` की भाँति श्लेष की प्रतीतिमात्र है, अलंकाररूप नहीं । क्योंकि श्लेष का प्राण है द्वितीय अर्थ और वही यहाँ स्थिर नहीं । विरोधाभास की तरह श्लेषाभास को कोई स्वीकार नहीं करेगा । अब यह यदि --` श्लेष से भिन्न कोई न कोई अलंकार श्लेष के विषय में आ ही जाता है, अतः किसी न किसी की अवश्यप्राप्ति होती है, अतः श्लेष के विषय में जहाँ कहीं, कोई भी अलंकार आ जाय, उसे बाधित करके श्लेष मान लेना चाहिये -- इस प्रकार बाध्यसामान्यचिन्ता की दृष्टि से बात कही जाय, तब तो `श्लिष्ट परम्परितरूपक` और` श्लिष्ट समासोक्ति जैसे अलंकार ही समाप्त हो जायेंगे । अतः श्लेष अलंकारान्तर का बाधक नहीं, अलंकारान्तर से संकीर्ण माना जाना चाहिये । [२]

---

१. रसगंगाधर, पृ० ५२८

२. रसगंगाधर, पृ० ५२८-२९.

तुलनीय--काव्यप्रकाश, पृ० ५२ । २७

अन्य लोगों का मत है कि अलंकार प्रधानरूप से चमत्कारा-धायक होते हैं, वे अपना अपना नाम पाते हैं, किन्तु यदि वे अन्य अलंकारों के उपस्कारक होते हैं, तो उपस्कार्य अलंकार का नाम ही प्रधान होता है :—

"अलंकारा हि प्राधान्येन चमत्काराधायकाः स्वां स्वामाख्यां लभन्ते । त एव परोपकारतया वर्तमानास्तां त्यजन्ति ।...... अतएवोच्यते—'प्राधान्येन व्यपदेशा भवन्ति' इति ।" [१]

अतः ऐसे स्थलों में श्लेष को बाध्य ही समझना चाहिये ।

श्लेष और शब्दशक्ति मूल ध्वनि :— शब्दशक्तिमूलध्वनि के स्थल में अप्रस्तुत का कथन असम्बद्ध न हो, अतः प्रस्तुत और अप्रस्तुत के उपमानोपमेयभाव की कल्पना कर ली जाती है । अप्पयदीक्षित ने ऐसे स्थलों में अलंकार की व्यंग्यता में प्राचीनों का अभिप्राय माना, अप्रकृत अर्थ की व्यंग्यता में नहीं ।

किन्तु पण्डितराज ने इस मान्यता का खंडन करते हुए बताया कि उनका अभिप्राय अप्रकृत अर्थ की व्यंग्यता से भी है । तभी संयोगादि से प्राकरणिक अर्थ के नियंत्रण की चर्चा संगत होती है, अन्यथा अप्राकणिक अर्थ के नियंत्रित न होने पर भी अलंकार तो व्यंग्य रहता ही, उसके विवेचन की आवश्यकता ही क्या थी ?

"जैमिनीयमलं धत्ते रसनायामयं द्विजः" इत्यादि स्थल में बाधित अश्लील अर्थ का बोध तो शक्ति से नहीं, अपितु व्यंजना से ही होता है यह प्राचीनों का आशय है । नागेश ने अप्पय के समर्थन की चेष्टा की है[२], किन्तु जहां तक प्राचीनों के अभिप्राय का प्रश्न है, पण्डितराज की दृष्टि सर्वथा सही है ।

---

१. रसगंगाधर, पृ० ५२६
   तुलनीय—अलंकारसर्वस्व—'दुर्बलत्वाद्बाध्यत्वमित्यन्ये ।' , पृ० १२५
२. रसगंगाधर, पृ० ५३४

पण्डितराज ने अप्पयदीक्षित की इस उक्ति का भी खंडन किया । प्रकृतार्थ स्फुरित हो जाने पर द्वितीयार्थ के बोध में --अमलि- - जरठा:` इत्यादि का समासोक्ति की तरह गूढ़श्लेष होने दीजिये` , क्योंकि श्लिष्ट विशेषणासमासोक्ति में भी व्यंजना से ही अप्रकृतार्थबोध होता है । यही आनन्दवर्धनाचार्य और उद्भट का भी मत है --

` श्लिष्ट विशेषणायां समासोक्ति अपि व्यक्त्यैवाप्रकृतार्थ-प्रतीतिस्वीकारात् । अतएव ध्वनिकृता `गुणीभूतव्यंग्यभेद: समासोक्ति:` इत्युक्तम् । `समासोक्त्या श्लेषोबाध्यते` इत्युद्भटप्रभृतिभिश्च ।`` [१]

इस प्रकार निष्कर्ष यही है कि जहाँ प्रकृत और अप्रकृत दोनों विशेष्यों का भी श्लिष्ट पद से ग्रहण होता है, वह शब्दशक्तिमूल ध्वनि का ही विषय है, श्लेष का नहीं ।

श्लेषमूलक ध्वनित्व और गुणीभूतव्यंग्यता--

` रागावृतो वल्गुकराभिमृष्टं श्यामामुखं चुम्बति चारुचन्द्र: ।`

अर्थात् रागावृचन्द्र सुन्दर करों से अभिमृष्ट श्यामामुख का चुम्बन कर रहा है --इत्यादि स्थल में समासोक्ति है और यदि यहाँ `चन्द्र` की जगह `राजा` पद रख दिया जाय, तो शब्दशक्ति मूलध्वनि हो जायगी । पण्डितराज का अभिमत है कि श्लिष्ट विशेषणों के प्रभाव से अप्रकृत व्यव-हार की प्रतीति होती है । उसमें कोई तारतम्य नहीं है । फिर समासोक्ति में जैसे अप्रकृत अर्थ को गौण माना जाता है, वैसे इस श्लिष्ट विशेष्य के स्थल में भी गौण मानना चाहिये । श्लिष्ट विशेष्य मात्र से व्यंग्य को प्रधान माना जाय और उसके अभाव में गौण यह ठीक नहीं है ।

पण्डितराज वे० का श्लेष विवेचन --कई महत्वपूर्ण प्रश्नों को उठाता है । श्लेष के लोक के निर्धारण के प्रश्न को उन्होंने पुन: उठाया

---

१. रसगंगाधर, पृ० ५३४

उनके इस सारे विवेचन पर रुय्यक और जयरथ के विवेचन[१] का गहरा प्रभाव है। उद्भट के मत और `अपरे`, `अन्ये` के नाम प्रस्तुत मतों के उपस्थापन में रुय्यक और जयरथ का उपस्थापन प्रकार ही नहीं, शब्दावली भी उन्होंने ग्रहण की है। `अपरे` का मत मम्मट का है, अत: उस पर मम्मट का प्रभाव स्वाभाविक ही है। किन्तु पूर्वाचार्यों के विवेचन को ग्रहण कर भी पण्डितराज कितनी स्पष्टता और मौलिक दृष्टि के साथ विषय रखते हैं, यह प्रसंग में इसका प्रमाण है। श्लेष और शब्दशक्ति मूलध्वनि सम्बन्धी विवेचन में अप्पयदीक्षित की मान्यता का खण्डन कर सही दृष्टि प्रदान की। समासोक्ति में नायकता की प्रतीति अर्थशक्ति मूलव्यंजना से होती है और यहाँ अलंकृत शब्दशक्ति का मूल व्यंजना से यह अन्तर है। इसी आधार पर पण्डितराज ने प्राचीनों के शब्दशक्ति मूल ध्वनि के उदाहरण में श्लिष्टविशेष्य समासोक्ति ही मानी है। अत: वह गुणीभूत व्यंग्य का भेदमात्र है।[२]

श्लेष की शब्दालंकारता और अर्थालंकारता:---

भामह ने[३] शब्दश्लेष और अर्थ श्लेष की चर्चा की। दण्डी,[४] उद्भट,[५] और उनके अनुयायी सभंग और अभंग श्लेष दोनों को ही अर्थालंकार मानते हैं। मम्मट ने दोनों को ही अन्वयव्यतिरेक से शब्दाश्रित मानकर शब्दालंकार माना।[६] किन्तु रुय्यक ने अन्वय व्यतिरेक की कारणता का

---

१. अलंकारसर्वस्व, पृ० १२५- २६

२. रसगंगाधर, पृ० ५३६

३. काव्यालंकार—३।१७

४. काव्यादर्श, २।३१०

५. काव्यालंकार सार संग्रह- ४।२३,२४

६. काव्यप्रकाश, पृ० ५२०

ज्ञापक माना , आश्रयता का नहीं । अत: आश्रयाश्रयिभाव के आधार पर उन्होंने सभंग श्लेष को शब्दालंकार और अभंग श्लेष को अर्थालंकार माना ।[१]

---

१. अलंकारसर्वस्व, पृ० १२३

अप्रस्तुतप्रशंसा

अप्रस्तुत व्यंग्य के द्वारा प्रस्तुत वाच्य का उपस्कार होने पर समासोक्ति होती है। उसके विपरीत अप्रस्तुत वाच्य द्वारा प्रस्तुत व्यंग्य का उपस्कार होने पर अप्रस्तुत प्रशंसा होती है। पण्डितराज ने इसका लक्षण इस प्रकार दिया :---

" अप्रस्तुतेन व्यवहारेण सादृश्यादिवक्ष्यमाणप्रकारान्यतमप्रकारेण प्रस्तुतव्यवहारे यत्र प्रशस्यते साप्रस्तुतप्रशंसा।" [1]

अर्थात् जहां आगे बतलाये जाने वाले सादृश्य आदि प्रकारों में से किसी एक प्रकार से (वाच्य) अप्रस्तुत व्यवहार द्वारा (व्यंग्य) प्रस्तुत व्यवहार की प्रशंसा की जाय, वह अप्रस्तुत प्रशंसा है।

यहां 'प्रशंसा' से अर्थ वर्णनमात्र से है, स्तुति से नहीं। अप्रस्तुत प्रशंसा के पांच प्रकार हैं -- (१) जिसमें अप्रस्तुत द्वारा अपने सदृश प्रस्तुत की अभिव्यक्ति हो। (२) जिसमें कारण से कार्य की अभिव्यक्ति हो (३) जिसमें कार्य से कारण की अभिव्यक्ति हो (४) जिसमें सामान्य से विशेष की अभिव्यक्ति हो। (५) जिसमें विशेष से सामान्य की अभिव्यक्ति हो।

अप्रस्तुत का उपर्युक्त प्रथम भेद अर्थात् सादृश्यमूला 'अप्रस्तुतप्रशंसा श्लिष्ट विशेषणों वाली भी होती है। पण्डितराज ने यह स्पष्ट किया है कि यहां अप्रकृत का वर्णन देख कर यह कहना ठीक नहीं कि इस अलंकार को समासोक्ति अनुगृहीत करती है, क्योंकि उसका स्वरूप अप्रस्तुतप्रशंसा से सर्वथा

---

१. रसगंगाधर, पृ० ५३७

विरुद्ध होता है अत: वत्र अनुग्राहिका हो नहीं सकती । आचार्य मम्मट ने 'श्लेष:, समासोक्ति:, सादृश्यमात्रं वा तुल्यात् तुल्यस्य ह्याक्षेपे हेतु:'[1] अर्थात् श्लेष, समासोक्ति अथवा सादृश्यमात्र तुल्य से तुल्य के आक्षेप में कारण होता है । उन्होंने समासोक्तिहेतुका अप्रस्तुतप्रशंसा का उदाहरण भी दिया है । पण्डितराज ने यहाँ 'श्लिष्ट विशेषणों से उपस्थाप्त सभी द्वितीय अर्थों से 'समासोक्ति 'का तात्पर्य मानकर यथाकथंचित् संगति का प्रयत्न किया है, क्योंकि उस उदाहरण में यदि विशेषणों की समानता के प्रभाव से प्रतीत होने वाला' कापुरुष' वृत्त प्रस्तुत माना जाय, तो वहाँ समासोक्ति नहीं होगी, कारण समासोक्ति अश्लिष्ट विशेषणों से अप्रस्तुत अर्थ की उक्ति में होती है और यदि अप्रस्तुत माना जाय तो अप्रस्तुत प्रशंसा न हो पायेगी, क्योंकि जिसमें आश्रय अर्थात् प्रधान प्रस्तुत हो, उस उस अप्रस्तुत की प्रशंसा में अप्रस्तुतप्रशंसालंकार होता है ।[2]

सादृश्यमूला अप्रस्तुतप्रशंसा में कहीं वाक्यार्थ व्यंग्य अर्थ से तटस्थ रहता है और कहीं वाक्यार्थ के अन्तर्गत विशेषणों के अन्वय की योग्यता प्रा करने के लिए व्यंग्य के साथ अभेद की अपेक्षा करता है :—

> 'अस्यांच वाक्यार्थः क्वचित्प्रतीयमानार्थताटस्थ्येनैवावतिष्ठते ।
> .... क्वचिच्च स्वगतविशेषणान्वययोग्यतामासादयितुं प्रतीय-
> मानाभेदमपेक्षते ।'[3]

कहीं कहीं व्यंग्य अर्थ किसी भी किसी अंश में वाच्य के तादूप्य की और वाच्य व्यंग्य के तादूप्य की अपेक्षा रखता है ।

---

१. काव्यप्रकाश, पृ० ६२२

२. रसगंगाधर, पृ० ५३८-३९

३. ,, पृ० ५३९

पण्डितराज ने प्राचीनों के अनुरोधवश पांच प्रकार की अप्रस्तुतप्रशंसा का वर्णन किया फिर भी प्रथम सादृश्यमूलक प्रकार के और भेद की चर्चा की । वह है, जहां दोनों वृत्तान्त प्रस्तुत हों ।

पण्डितराज ने दोनों वृत्तान्त के प्रस्तुत होने पर कुवलयानन्द में, अप्पयदीक्षित द्वारा माने गये `प्रस्तुतांकुर` [१] नामक अलंकार को नहीं स्वीकार किया और इसे अप्रस्तुतप्रशंसा के पूर्वोक्त भेद में ही अन्तर्भुत किया । अत्यन्त अप्रस्तुत के वाच्य होने पर अभिधा उसमें समाप्त नहीं होत? अत: बलादाकृष्ट प्रतीयमान अर्थ ध्वनिरूप नहीं होता, किन्तु दोनों के प्रस्तुत होने पर तो ध्वनि ही होती है । इस प्रकार सादृश्यमूल अप्रस्तुत प्रशंसा के दो भेदों में एक गुणीभूत है, दूसरा ध्वनिरूप, शेष चारों भेद गुणीभूत` व्यंग्यरूप ही है ।

पण्डितराज ने यह भी स्पष्ट किया कि `अप्रस्तुतप्रशंसा` का अर्थ `अप्रस्तुत की प्रशंसा नहीं` अपितु `अप्रस्तुत द्वारा (प्रस्तुत की) प्रशंसा है । इस तरह अप्रस्तुत चाहे वाच्य हो या व्यंग्य, जहां उसके द्वारा वाच्य अथवा व्यंग्य प्रस्तुत की पूर्वोक्त सादृश्य आदि (पांचों) में से किसी एक प्रकार से प्रशंसा की जाती है, वहां अप्रस्तुतप्रशंसा होती है, न कि वाच्य से ही व्यंग्य की प्रशंसा की जाय, तभी ।

यदि प्रस्तुत से प्रस्तुत की प्रतीति को ध्वनिकाव्य माना जाय और ध्वनि के अलंकार्य होने के कारण इस भेद में अलंकारता की अनुपपत्ति समझी जाय, तो अन्य भेद ही अप्रस्तुतप्रशंसा के विषय होंगे ।

भामह ने अप्रस्तुत प्रशंसा का लक्षण किया — `अधिकारादपेतस्य वस्तुनोऽन्यस्य या स्तुति: ।` [२]

अर्थात् प्रकरण से व्यतिरिक्त अन्य वस्तु की स्तुति अप्रस्तुतप्रशंसा है । दण्डी ने अप्रकान्त अर्थात् जो प्रस्तुत विषय नहीं है, उनकी स्तुति को

---

१. कुवलयानन्द, पृ० ११५

२. काव्यालंकार, प० ~~३।२४~~ ३।२९

अप्रस्तुत प्रशंसा कहा [१] । वामन तथा उद्भट ने भी इसका वर्णन किया । [२] आनन्दवर्धनाचार्य ने ध्वनि के सन्दर्भ में अप्रस्तुत प्रशंसा का वर्णन की अप्रस्तुत.. प्रशंसा का संकेत किया । यह प्रस्तुत आक्षेप (१) सामान्यविशेष भाव, (२) निमित निमित्तिभाव (३) स्वरूपसादृश्याकृत—यह तीन प्रकार से माना । इनमें से जब सादृश्य के कारण ही प्रकृत--अप्रकृत का संबंध होता है, तब यदि समानरूप वाले वाच्य की प्रधानरूप विवक्षा न हो, तो उसका ध्वनि में अन्तर्भाव हो जाता है, नहीं तो यह अलंकारविशेष ही रहता है--

"यदा तु सारूप्यमात्रवशेनाप्रस्तुतप्रशंसायामप्रकृतप्रकृतयोः सम्बन्धस्तदाप्यप्रस्तुतस्य सरूपस्याभिधीयमानस्य प्राधान्येनाविवक्षायां ध्वनावेवान्तःपातः । इतरथात्वलंकारान्तरमेव ।" [३] अभिनव ने कहा कि यदि अत्यन्त असंभाव्यमान अप्रस्तुतार्थविशेषणों वाले वर्णित-अप्रस्तुत द्वारा आक्षिप्त प्रस्तुत चमत्कारकारी हो, तो वह वस्तुध्वनि होती है —

"यदि पुनरचेतनादिनात्यन्तासंभाव्यमानतदर्थविशेषणेनाप्रस्तुतेन वर्णितेन प्रस्तुताक्षिप्यमाणं चमत्कारकारि तदा वस्तुध्वनिरसौ ।" [४]

मम्मट,[५] रुय्यक[६] और विश्वनाथ,[७] ने अप्रस्तुत से प्रस्तुत की प्रशंसारूप पंचविध अप्रस्तुतप्रशंसा को माना । भामह, दण्डी आदि ने अप्रस्तुतके

---

१. काव्यादर्श— २।३४०

२. काव्यालंकार सूत्रवृत्ति— ४।३।४ तथा
काव्यालंकार सार संग्रह — "अधिकारादपेतस्य वस्तुनो न्यस्य या स्तुति अप्रस्तुतप्रशंसेयं प्रस्तुतार्थनिबन्धिनी ।। — ५।१४

३. ध्वन्यालोक, पृ० १२८-२९

४. लोचन, ध्वन्यालोक, पृ० १२७

५. काव्यप्रकाश, पृ० ६१८

६. अलंकारसर्वस्व, पृ० १३२-३३

७. साहित्यदर्पण— १०।५८,५९

अप्रस्तुत प्रशंसा कहा [१]। वामन तथा उद्भट ने भी इसका वर्णन किया। [२] आनन्दवर्धनाचार्य ने ध्वनि के सन्दर्भ में अप्रस्तुत प्रशंसा का वर्णन की अप्रस्तुत.. प्रशंसा का संकेत किया। यह प्रस्तुत आक्षेप (१) सामान्यविशेष भाव, (२) निमित्त निमित्तिभाव (३) स्वरूपसादृश्याधृत—यह तीन प्रकार से माना। इनमें से जब सादृश्य के कारण ही प्रकृत--अप्रकृत का संबंध होता है, तब यदि समानरूप वाले वाच्य की प्रधानरूप विवक्षा न हो, तो उसका ध्वनि में अन्तर्भाव हो जाता है, नहीं तो यह आलंकारविशेष ही रहता है—

" यदा तु सारूप्यमात्रवशेनाप्रस्तुतप्रशंसायामप्रकृतप्रकृतयोः सम्बन्धस्तदाप्यप्रस्तुतस्य सरूपस्याभिधीयमानस्य प्राधान्येनाविवक्षायां ध्वनावेवान्तःपातः। इतरथात्वलंकारान्तरमेव।" [३] अभिनव ने कहा कि यदि अत्यन्त असंभाव्यमान अप्रस्तुतार्थविशेषणों वाले वर्णित-अप्रस्तुत द्वारा आक्षिप्त प्रस्तुत चमत्कारकारी हो, तो वह वस्तुध्वनि होती है —

" यदि पुनरचेतनादिनात्यन्तासंभाव्यमानतदर्थविशेषणेनाप्रस्तुतेन वर्णितेन प्रस्तुताक्षिप्यमाणं चमत्कारकारि तदा वस्तुध्वनिरसौ।" [४]

मम्मट,[५] रुय्यक[६] और विश्वनाथ,[७] ने अप्रस्तुत से प्रस्तुत की प्रशंसारूप पंचविध अप्रस्तुतप्रशंसा को माना। भामह, दण्डी आदि ने अप्रस्तुतके

---

१. काव्यादर्श—२।३४०

२. काव्यालंकार सूत्रवृत्ति—४।३।४ तथा
काव्यालंकार सार संग्रह — " अधिकारादपेतस्य वस्तुनो न्यस्य या स्तुति अप्रस्तुतप्रशंसेयं प्रस्तुतार्थनिबन्धिनी ।। — ५।१४

३. ध्वन्यालोक, पृ० १२६-२६

४. लोचन, ध्वन्यालोक, पृ० १२७

५. काव्यप्रकाश, पृ० ६१८

६. अलंकारसर्वस्व, पृ० १३२-३३

७. साहित्यदर्पण—१०।५८,५९

वर्णन को अप्रस्तुतप्रशंसा माना था। आनन्दवर्द्धन और लोचनकार आदि द्वारा अप्रस्तुतप्रशंसा का जो विवेचन किया गया, उससे इसका दूसरा रूप सामने आया और इसके एक रूप की ध्वनिता और शेष भेद की गुणीभूतव्यंग्यता स्पष्ट हुई। पण्डितराज ने इस सारे विवेचन का उपयोग कर अप्रस्तुतप्रशंसा के भेद-विवेचन और उसमें व्यंग्य की अवस्थिति पर अपने स्पष्ट और नवीन विचार रखे।

पर्यायोक्त

पण्डितराज ने पर्यायोक्त को इस प्रकार परिभाषित किया:—

"विवक्षितार्थस्य भंग्यन्तरेण प्रतिपादनं पर्यायोक्तम् ।"[1]

अर्थात् विवक्षित अर्थ का भंग्यन्तर से प्रतिपादन पर्यायोक्त कहलाता है। 'भंग्यन्तर' से यहाँ तात्पर्य जिस रूप में कहना चाहते हैं, उस भिन्न प्रकार अथवा 'आक्षेप' है।

पर्यायोक्त का लक्षण भामह और उद्भट ने एक प्रकार से किया

"पर्यायोक्तं यदन्येन प्रकारेणाभिधीयते ।
वाच्यवाचकवृत्तिभ्यां शून्येनावगमात्मना ।।"[3]

अर्थात् जहाँ प्रस्तुत अर्थ वाच्य-वाचकवृत्ति से भिन्न, अन्य प्रकार से कहा जाता है, वहाँ पर्यायोक्त होता है। दण्डी ने भी 'इष्ट अर्थ को स्पष्ट न कह कर अर्थसिद्धि के लिये उसे प्रकारान्तर से कहने' को पर्यायोक्त कहा।[4] आचार्य आनन्दवर्धन ने भामहोक्त पर्याय की चर्चा की और कहा कि भामहोदाहृत-सदृश पर्यायोक्त में व्यंग्य प्राधान्य नहीं है और उसके भी प्राधान्यत: व्यंग्य हो, तो उसका भी ध्वनि में अन्तर्भाव होगा, न कि ध्वनि उसमें।[5] अभिनवगुप्तपादाचा

---

१. रसगंगाधर, पृ० ५४७

२. काव्यालंकार—३।८

३. काव्यालंकारसारसंग्रह—४।११

४. काव्यादर्श, २।२९५

५. ध्वन्यालोक, पृ० १९८-२०

ने भी उद्भट के लक्षण की व्याख्या की और ध्वनि के सन्दर्भ में उसका विवेचन किया।[१] मम्मट ने पर्यायोक्त को परिभाषित करते हुए वाच्यवाचक-व्यतिरेक अवगमव्यापार से प्रतिपादन को भी पर्यायोक्त कहा।[२] रुय्यक ने 'गम्य के भंग्यन्तर से प्रतिपादन को' पर्यायोक्त कहा।[३]

इस विवरण से यह स्पष्ट है कि उद्भट के बाद से पर्यायोक्त के सम्बन्ध में जागरूक विचार किया गया। पण्डितराज ने इस विवेचन में विद्यमान मतभेदों को परखा और उसमें अपना स्वाभिमत पक्ष भी बताया।

विभिन्न मत:— आचार्य अभिनवगुप्त ने उद्भट कृत लक्षण की व्याख्या करते हुए कहा —

"पर्यायेण प्रकारान्तरेणावगमात्मना व्यंग्येन उपलक्षितं सद् यदभिधीयते, तदभिधानमुक्तमेव सत्पर्यायोक्तमित्यभिधीयते।"[४]

अर्थात् वाच्य से अतिरिक्त प्रकार से— व्यंग्य से — उपलक्षित जो अभिधा से प्रतिपाद्य हो उसे पर्यायोक्त कहते हैं।

उनका अभिप्राय यह है कि यदि 'पर्याय' पद का अर्थ 'प्रकारान्तर' या 'धर्मान्तर' किया जाता है, तो पर्यायोक्त का यौगिक अर्थ होगा- 'विवक्षित अर्थ के अतिरिक्त धर्म को पुरस्कृत कर अभिधा से प्रतिपादन।' ऐसी स्थिति में ~~पुरस्कृत-कर-अभिधा-से-प्रतिपादन।~~

"दशवदननिधनकारी दाशरथि: पुण्डरीकाक्ष:।"

इत्यादि स्थल में रामत्व से अतिरिक्त पुण्डरीकाक्षत्व धर्म के

---

१. १ लोचन — ध्वन्यालोक, पृ० १९८-२०
२. काव्यप्रकाश, पृ० ६८०
३. अलंकारसर्वस्व, पृ० १४१
४. लोचन — ध्वन्यालोक, पृ० १९८

पुरस्कार द्वारा राम का वर्णन होने के कारण यहाँ पर्यायोक्त की अति-व्याप्ति होने लगेगी ।

यदि `पर्यायोक्त` का अर्थ व्यंग्यतावच्छेदक धर्म से अतिरिक्त धर्म का पुरस्कार करके व्यंग्य का निरूपण किया जाय, तो भी ठीक नहीं । क्योंकि `व्यंग्य`, `धर्मान्तर` --इस यौगिक अर्थ में आता है । यदि फिर भी `व्यंग्य को लक्षण में सन्निविष्ट करना स्वीकृत हो, तो पर्याय शब्द से `व्यंग्य` अर्थ का ग्रहण ही उचित है `प्रकारान्तर` या `धर्मान्तर` अर्थ का नहीं, क्योंकि यदि व्यंग्य से उपलक्षित को अभिधा से वर्णित किया जायगा, तो वह प्रकारान्तर से ही होगा । इसी रहस्य से पंडितराज ने लक्षण में आये `भंग्यन्तर` का `आक्षेप` अर्थ भी किया अर्थात् विवक्षित अर्थ का आक्षेप से प्रतिपादन --व्यंग्य को आक्षेप कर अपने अभीष्ट अर्थ का परिष्करण ही पर्यायोक्त है ।

आचार्य मम्मट के अनुसार इस अलंकार में व्यंग्य की व्यंग्यता जिस आकार से होती है, उससे अतिरिक्त आकार से वाच्यता होती है अर्थात् जो बात व्यंग्य होती है, वही वाच्य भी होती है --केवल कहने का ढंग अलग होता है । अत: पर्यायोक्त का अर्थ है कि जिसमें व्यंग्य दूसरे प्रकार से कहा गया हो । यह आशंका नहीं होती कि व्यंग्य और वाच्य का परस्पर विरोध होने से यह असंगत है, क्योंकि जैसे यावक (आलता) तथा महार[illegible] रजन (कुसुम्भी), अनार, गुड़हल के फूलों के रूप `रक्तत्व` आदि से वाच्य होते हैं, किन्तु उनकी विजातीयता प्रत्यक्ष ही होती है, वह वाच्य नहीं, होती, वैसे ही एक रूप में वाच्य होने पर भी अन्य रूप के व्यंग्यता ही होती है ।

रुय्यक ने `व्यंग्य के भी दूसरे प्रकार से कथन को, पर्यायोक्त कहा । व्यंग्य होने पर भी उसका अभिधा से प्रतिपादन कार्य आदि के द्वारा होता है --

यं प्रेक्ष्य चिररूढापि निवासप्रीतिरुज्झिता ।
मदेनैरावणमुखे मानेनहृदये हरे: ।।`

अर्थात् जिसे देख कर मद ने ऐरावत के मुख में और मान ने इन्द्र के हृदय में चिरकाल से रूढ निवास की प्रीति को छोड़ दिया ।

यहाँ `इन्द्र और ऐरावत मान और मद से मुक्त हो गये` यह व्यंग्य का पर्यवसान भी मद मान के छूटने मात्र से है, क्योंकि धर्मी (ऐरावत-इन्द्र) का अंश अभिहित है ।

अत: स्पष्ट है कि व्यंग्यांश के रूपान्तर पुरस्कार से कभी अभिहित नहीं होता और जो अभिधा प्रतिपादित है, वह धर्मी, अभिधाश्रय होने से व्यंजनाव्यापाराश्रय नहीं हो सकता, अत: व्यंग्य का दूसरे प्रकार से अभिधान कहना असंगत ही है । इसी लिए `कार्य आदि के द्वारा जो व्यंग्य उक्त सा हो उसे पर्यायोक्त कहते हैं ।` इसका अर्थ ही है कि कार्यादि के वर्णन से आक्षिप्तकारणादि पर्यायोक्त हैं ।

प्राचीनों द्वारा इस अलंकार में धर्मी को भी व्यंग्य कहने का आशय यही है कि व्यंजना के बोध का विषय वाक्यार्थ सम्पूर्णत: व्यंग्य ही समझा जाता है, किन्तु यदि उसका विवेचन किया जाय तो वाक्यार्थ के कुछ पदार्थ केवल अभिधागोचर हों — व्यंजनामात्रगोचर ।

इन मतों में अन्तर :— इस समस्त विवेचन का आशय यह है कि `वापीं—स्नातुमितोगतासि न पुनस्तस्याधमस्यान्तिकम्` — इस स्थल में अभिनव और मम्मट के पर्यायोक्त की अतिव्याप्ति हो जाती है । क्योंकि `नायकगमन-विशिष्ट दूती का उसके निकट गमन के निषेध रूप भंग्यन्तर से अभिधान` किया गया है अथवा `दूतीसंभोग करने वाले नायक का अधमत्वरूप भंग्यन्तर से अभिधान है इस तरह मम्मट के मत में अति प्रसंग है । अभिनव के मत में` उस अधम के पास नहीं गयी थी` — इस प्रकार निषिद्धनिकटगमना भी दूती का `उसी के पास रमण के लिये गयी थी` — इस व्यंग्य से उपलक्षित होकर अभिधान है, अत: अति प्रसंग साफ है । इस अतिप्रसंग के वारण के लिये यह कल्पना करनी पड़ेगी कि पर्यायोक्त में जैसा व्यंग्य विवक्षित है, उसकी अपेक्षा ध्वनिस्थल में व्यंग्य का वक्तृवैशिष्ट्य आदि का अपेक्षा अतएव

विलक्षण रूप है ।

किन्तु रुय्यक के मत में कार्य आदि द्वारा व्यंग्य का अभिधान होता है, अतः इस प्रकार की कल्पना की भी आवश्यकता नहीं पड़ती ।

इस विवेचन के साथ साथ ` नमस्तस्मै कृतौयेन मुधा राहुवधूस्तनौ` अर्थात् उसे नमस्कार है, जिसने राहु की पत्नियों के स्तन व्यर्थ कर दिये — इस स्थल में अप्पयदीक्षित द्वारा भगवान् वासुदेव की असाधारण रूप में व्यंग्यता और रुय्यक तथा लोचनकार पर कटाक्ष का पंडितराज ने समुचित उत्तर भी दिया ।

गुणीभूत व्यंग्यता :— पण्डितराज ने ध्वनिवादि सम्मत सिद्धान्त माना कि इस अलंकार में व्यंग्य से वाच्यप्रतीति और अप्रस्तुतप्रशंसा में वाच्य द्वारा व्यंग्य की । अतः ये अलंकार ` वाच्यसिद्ध्यंग गुणीभूतव्यंग्य` का भेद है । जयरथ ने पर्यायोक्त में उपादान लक्षणा और अप्रस्तुतप्रशंसा में लक्षणलक्षणा कहा ।[१] किन्तु पण्डितराज ने रुय्यक के अभिप्राय को ही स्पष्ट कर इसका खंडन कर दिया । पर्यायोक्त में मुख्यार्थ में की बाधा नहीं है, कि लक्षणा करनी पड़े । ऐसी अप्रस्तुतप्रशंसा में भी प्रस्तुत में अप्रस्तुत की लक्षणा नहीं किन्तु व्यंजना ही होती है ।

पर्यायोक्त के भेद :— पण्डितराज ने इसके तीन भेद कहे —

(१) कारण के वाच्य और कार्य के गम्य होने पर

(२) कार्य के वाच्य और कारण के गम्य होने पर

(३) कार्यकारणभाव से रहित केवल एक सम्बन्धी द्वारा अन्य के गम्य होने पर पर्यायोक्त होता है ।

---

१ " इत्थंच —

` स्वसिद्ध्यै पराक्षेपः परार्थं स्वसमर्पणम् ।
उपादानं लक्षणं च`

इत्युक्तत्वा लक्षणाद्याश्रितत्वादनयोरवान्तरोऽपि विषयभेदोऽस्तीत्यत्र तात्पर्यम् ।" विमर्शिनी, अलंकारसर्वस्व, पृ० — १३६

व्याजस्तुति

व्याजस्तुति का अर्थ व्याज से स्तुति' अथवा 'व्याजरूपा स्तुति' दोनों ही हो सकता है। पण्डितराज ने लक्षण बनाया :—

'आमुखप्रतीताभ्यां निन्दास्तुतिभ्यां, स्तुतिनिन्दयोः
क्रमेण पर्यवसानं व्याजस्तुतिः।'[1]

अर्थात् प्रथमतः प्रतीत होने वाली निन्दा का स्तुति और स्तुति का निन्दा में पर्यवसान व्याजस्तुति है। 'आमुखप्रतीत' विशेषण से इनका बाधित होना स्पष्ट है, अतः यह ध्वनि नहीं कही जा सकती। स्तुति का निन्दा और निन्दा का स्तुति में पर्यवसान होने से इसके दो भेद हैं। साथ ही अन्य अलंकारों से मिश्रित भी व्याजीसतुति होती है।

व्याजस्तुति में वाच्य स्तुति निन्दा से ही स्तुति निन्दा गम्य हो—यह नहीं माना जाता। आमुखप्रतीत' से तात्पर्य' प्रतीति में पर्यवसित न होना' मात्र है, न कि वाच्य होना भी। अतः' किं वृत्तान्तैः परगृहगतैः किन्तु नाहं समर्थः'[2] इत्यादि पद्य को व्याजस्तुति का उदाहरणनमानकर रुय्यक[3] और जयरथ द्वारा अभिनवगुप्त पर किये गये कटाक्ष को पंडितराज ने निर्मूल कर दिया, क्योंकि यहां 'वृत्तान्तैः' —' दूसरों की बातों से मुझे क्या' —इस निन्दा के अनुसार समासोक्ति उल्लिखित होती है, जिसकी वाच्यता यहां अपेक्षित नहीं है। इस पद्य में पहले 'भवतो वल्लभा उन्मत्ता इव भ्रमति' यह निन्दासूचक अव्यय' वल्लभा' शब्द के प्रथमोपस्थित होने के कारण होता है, बाद में प्रकरणादिज्ञान होने पर 'वल्लभा' से

---

1. रसगंगाधर, पृ० ५५७
2. लोचन, ध्वन्यालोक, पृ० १२६
3. अलंकारसर्वस्व, पृ० १४५

अभिन्न` आपकी कीर्ति भ्रमती है — यह व्युत्क्रम से अन्वय प्रतीत होता है। अत: लोचनकार का उदाहरण सर्वथा उचित है।

अप्पयकृत भेदों का निराकरण:—

यह व्याजस्तुति जिसकी स्तुति और निन्दा पहले प्रारंभ की जाय यदि उसी की निन्दा और स्तुति में पर्यवसान हो, तभी होती है, यदि निन्दा और स्तुति के आधार पृथक रहे, तो नहीं होती। यही प्राचीनों का भी आशय प्रतीत होता है, क्योंकि वे कहते हैं, जहां शब्दों से अभिधीयमान स्तुती या निन्दा वाधित होकर निन्दा या स्तुति में परिणत हो वहीं व्याजस्तुति होती है। अत: अप्पयदीक्षित द्वारा वैयधिकरण्य में निन्दा और स्तुति की तथा स्तुति और निन्दा की प्रतीति होने पर जो चार भेद अधिक माने गये,[1] वे उचित नहीं हैं।

पण्डितराज की दृष्टि :—

पण्डितराज का यह दृष्टिकोण है कि यदि प्राचीनों के कथन यथासंभव अधिकाधिक अनुमोदन किया जाय, अन्यथा सारी व्यवस्था ही बदल जायगी। यहां पर ही यदि प्राचीनों के अभिमत का आदर न करें, तो सभी गुणीभूत व्यंग्य भेदों को अलंकारों के भीतर समाविष्ट कर दें, या व्याजस्तुति को अप्रस्तुतप्रशंसा के यौगिक अर्थ से व्याप्त होने के कारण, उसी में सन्निविष्ट कर दें। या फिर अप्रस्तुतप्रशंसा के पांच भेद ही क्यों माने ? पण्डितराज ने अपनी इस सन्तुलित दृष्टि का स्थल- स्थल पर परिचय दिया है न तो प्राचीनों ` मुकलितलोचन` अनुवन्ता है और न ही उत्साह के अतिरेक से भरे खंडनकर्ता। उनकी यही दृष्टि सर्वथा प्रतिबिम्बित होती है।

---

१. कुवलयानन्द, पृ० १३०-३२

आक्षेप

आक्षेप के स्वरूप के सम्बन्ध में आलंकारिकों का बहुत मतभेद रहा है। भामह ने इष्ट के विशेषाभिधान की इच्छा से प्रतिषेध को आक्षेप कहा और इसके दो भेद माने।[१] लगभग इनके समान ही परिभाषाएं उद्भट,[२] रुद्रट,[३] मम्मट[४] और विश्वेश्वर[५] पंडित की है। दण्डी ने आक्षेप की परिभाषा अत्यन्त विस्तृत है और वे इसके आनन्त्य को बताते हैं। रुय्यक,[६] विश्वनाथ,[७] विद्याधर भी इसको पारिभाषित करते हैं, किन्तु वे अनभीप्सित के निषेध में भी आक्षेप मानते हैं। वामन ने उपमान के आक्षेप होने पर आक्षेप स्वीकार किया।[९] यह अन्य आचार्यों के आक्षेप से सर्वथा भिन्न और केवल नाम से उनके आक्षेप के समान है, अन्यथा यह प्रतीप या समासोक्ति से भिन्न नहीं हो सकता। आचार्य आनन्दवर्द्धन और अभिनवगुप्त ने ध्वनिप्रतिष्ठापन के प्रसंग में आक्षेप की भी चर्चा की।[१०] पण्डितराज ने आक्षेप सम्बन्धी विभिन्न मतों के अनुसार लक्षण उपस्थित किये :

---

१. काव्यालंकार, २।६८-७०

२. काव्यालंकारसारसंग्रह, पृ० २६

३. काव्यालंकार—८।८९

४. काव्यप्रकाश, पृ० ६५४-५५

५. अलंकारकौस्तुभ, पृ०

६. अलंकारसर्वस्व--१४४—५१२

७. साहित्यदर्पण, पृ० १०।८५

८. एकावली, पृ० २७१-७५

९. काव्यालंकारसूत्रवृत्ति ४।३।२७

१०. ध्वन्यालोक लोचन, पृ० १११-१४

(१) उपमानसम्बन्धी सकल प्रयोजनों के संपादन करने में उपमेय के संपादन-करने-में समर्थ होने के कारण जो उपमान की निरर्थकता उपमेय के तिरस्काररूप में होती है, उसे आक्षेप कहते हैं।[१]

(२) पूर्वोपन्यस्त अर्थ का अन्य पक्ष के आलम्बन के कारण निषेध आक्षेप कहलाता है।[२]

(३) विवक्षित की विशेषता बताने की इच्छा से किया गया निषेध आक्षेप कहलाता है, वह वक्ष्यमाण तथा उक्तविषय-दो प्रकार का होता है।[३]

(४) रुय्यक के अनुसार निषेधाभास रूप आक्षेप दो प्रकार का है — उक्त विषय, वक्ष्यमाणविषया अर्थात् एक वह जिसमें प्राकरणिक अर्थ का निषेध प्रतिष्ठित न होने के कारण — केवल आभासरूप रहता है और इस तरह किसी विशेष अर्थ के अभिधान को व्यक्त करता है, और दूसरा वह जिसमें अप्राकरणिक अर्थ की विधि केवल आभासरूप होकर निषेध में पर्यवसित हो जाती है। प्रथम आक्षेप — उक्तविषय और वक्ष्यमाणविषय — दो प्रकार का है। उक्त विषय भी केवलवस्तुनिषेध तथा वस्तु के कथन निषेध से — दो प्रकार का है। वक्ष्यमाणविषय तो वस्तुकथन का निषेध रूप ही होता है। वह शब्दत: सामान्य-धर्म से अवच्छिन्न रूप में उपस्थित किये जाने पर भी वस्तुत: विशेष रूप इष्ट वस्तु के निषेधरूप में उपस्थित होने के कारण निषिध्यमान वस्तुस्थित किसी अन्य विशेष को उत्पन्न कर देता है। यह भी दो प्रकार का है — (१) जिसमें सामान्याश्रित किसी विशेष का निरूपण किया जाता है। (२) जिसमें किसी सामान्य का वर्णन होता है, तदाश्रित विशेष का निरूपण नहीं। उनमें से कुछ विशेषों के निरूपण किये जाने पर प्रयोजनाभाव के कारण निषेध की प्रवृत्ति नहीं होती।

---

१. रसगंगाधर, पृ० ५६३

२. ,, पृ० ५६४

३. रसगंगाधर, पृ० ५६४,

तुलनीय — काव्यप्रकाश, पृ० ६५४

अत: वह निषेध वक्ष्यमाण अभीप्सितवस्तु विषय रूप में ही सम्पन्न होता है और जहां विशेषों का निरूपण ही नहीं होते , वहां तो सुतराम उसे वक्ष्यमाण अभीप्सित वस्तु के विषय में संपन्न होनी होती है ।

इन चतुर्विध आक्षेप में चार बातों का उपयोग होता है -- (१) अभीष्ट वस्तु अर्थात् किसी पदार्थ के सम्बन्ध में कुछ कहने की इच्छा (२) उसका निषेध (३) निषेध की भी असत्यता और (४) अभीष्ट वस्तुस्थित विशेषता का प्रतिपादन । इसलिये यहां निषेध की निधि या विहित का निषेध नहीं किया जा सकता, किन्तु असत्यनिषेध द्वारा विधि का आक्षेप होने के कारण, इसका योगार्थ से आक्षेप नाम है । वह पूर्वोक्त रूप से चार प्रकार का है । दूसरा आक्षेप असत्य निधि द्वारा निषेध का आक्षेप होने पर होता है । इसमें भी अनभीष्ट अर्थ, उसकी विधि, उस विधि की आभासरूपता और अर्थगत विशेषता का प्रतिपादन --इन बातों का उपयोग होता है ।"[१]

(५) अन्य लोगों के मत में निषेध मात्र आक्षेप होता है और यह निषेध चमत्कारी तो होना ही चाहिये तथा चमत्कारित्व व्यंग्य होने पर ही आयेगा अत: लक्षण होगा :-- "व्यंग्यसहित सभी निषेध आक्षेप अलंकार हैं ।"[२]

विवेचित लक्षणों में प्रथम तीन "किमर्थकता" रूप हैं :--- (क) उपमेयकृत उपमान किमर्थकता (ग) विशेषप्रतिपादन प्रयोजक उक्तविषया और वक्ष्यमाणविषया किमर्थकता । चतुर्थ लक्षण में निषेधरूप और विधिरूप आभासात्मक आक्षेप है । पांचवें लक्षण के निषेध रूप आभास में सभी का संग्रह हो जाता है ।

पण्डितराज ने आक्षेप की व्यापक व्याप्ति को स्वीकार किया और पांचवां लक्षण उनका अभिमत है । इस विमल दृष्टि के कारण उन्होंने विभिन्न आचार्यों की आक्षेपध्वनि के भिन्न रूप को भी समझा और ध्वनिकार

---

१. रसगंगाधर, पृ० ५६५-६६ तुलनीय-- अलंकारसर्वस्व, पृ० १४४-५२
२. रसगंगाधर, पृ० ५६७

के आक्षेप ध्वनि के उदाहरण खंडन के रुय्यक के प्रयत्न को अवांछित सिद्ध करते हैं। वे कहते हैं कि 'आभास रूप निषेध' को ही आक्षेप मानना वेद वाक्य नहीं है, प्रत्युत आलंकारिकसरणि के व्यवस्थापक ध्वनिकार ही अधिक श्रद्धेय हैं।[१]

पंडितराज कुवलयानन्द में रुय्यकाभिमत उदाहरण की अप्पयकृत व्याख्या की आलोचनाकर अपना विवेचन समाप्त करते हैं।[२]

---

१. रसगंगाधर, पृ० ५६६

२. ,, पृ० ५६६-७०

विरोध

पण्डितराज ने विरोध का लक्षण इस प्रकार प्रस्तुत किया —

"एकाधिकरणासम्बद्धेन प्रतिपादितयोरर्थयोर्भासमानैकाधिकरणा-संबद्धत्वम् , एकाधिकरणासम्बद्धभानं वा विरोधः।"

यद्वा--

"एकाधिकरणासम्बद्धत्वेन प्रसिद्धयोरेकाधिकरणासम्बद्धत्वेन प्रातिपादनं सा" [१]

अर्थात् ऐसी दो वस्तुओं का, जिनतका एकाधिकरण रूप से संबद्धत्व प्रतिपादित किया गया हो, प्रतीत होने वाला एक आधार से असंबद्धत्व अथवा एक आधार से असंबद्धत्व का भान विरोध कहलाता है।

अथवा

एक अधिकरण में असंबद्धत्व से प्रसिद्ध दो वस्तुओं का एकाधिकरण संबद्धत्व के रूप में प्रतिपादन 'विरोध' कहलाता है।

यह विरोध रुढ़ और अप्ररूढ़ भेद से दो प्रकार का होता है। प्ररूढ़ से तात्पर्य है, जो बाधबुद्धि से अभिभूत न हो और अप्ररूढ़ता इससे विपरीत होती है इसमें उत्तरकालिकबाध बुद्धि से अभिभूत न होने वाला दोष का विषय है और दूसरा अलंकार का। इसीलिये इस अलंकार को विरोधाभास भी कहते हैं। आभास का अर्थ है 'कुछ-कुछ भासित होने वाला।' अतः यह निष्कर्ष निकलता है कि जो विरोध आरंभ में ही प्रतीत हो और तत्काल ही अविरोध बुद्धि उत्पन्न हो जाने के कारण तिरस्कृत हो जाय, उसे विरोधाभास कहते हैं। इसमें कार्यकारण आदि के ज्ञान से असंवलित विरोधाभास विरोधालंकार कहते हैं और यदि कार्यकारणादि के ज्ञान से युक्त हो तो वह विभावना आदि रूप होता है।

---

१. रसगंगाधर, पृ० ५७१

इस अलंकार के दस भेद होते हैं। जातिका जाति, गुण, द्रव्य और क्रिया के साथ विरोध होने पर चार भेद, गुण का गुण, क्रिया तथा द्रव्य से विरोध होने पर तीन भेद, क्रिया का क्रिया और द्रव्य से विरोध होने पर दो भेद--द्रव्य का द्रव्य से विरोध होने पर एक भेद मिल कर दस भेद होते हैं। यहां जाति आदि उपलक्षणमात्र हैं। अत: धर्ममात्र कहना अभीष्ट है। क्रिया भी न तो वैयाकरणों के अनुसार शुद्ध भावना रूप ग्रहण की जाती है और न ही नैयायिकों के अनुसार स्पन्द रूप, अपितु तत्तद्धातुओं से वाच्य विशिष्ट व्यापार रूप ही ग्रहण की जाती है :--

"क्रिया चात्र न वैयाकरणानामिव शुद्धा भावना। नापिनैयायिकों के-अनुसार नामिव स्पन्दरूपा। किंतु तत्तद्धातुवाच्या विशिष्टव्यापाररूपा[1]।"

मम्मट,[2] रुय्यक[3] आदि ने उपर्युक्त दस भेद माने तथा रुद्रट ने इसके तेरह प्रकार बताये, किन्तु पण्डितराज वस्तुत: जाति आदि भेदों के चमत्कारी न होने के कारण विरोधालंकार को शुद्ध और श्लेषमूल--दो ही प्रकार मानते हैं :--

"वस्तुतो जात्यादिभेदानामहृद्यत्वाच्छुद्धत्वश्लेषमूलत्वाभ्यां द्विविधो ज्ञेय:।"[4]

भामह,[5] दण्डी,[6] वामन,[7] उद्भट,[8] रुद्रट,[9] मम्मट,[10]

---

१. रसगंगाधर, पृ० ५७१
२. काव्यप्रकाश, पृ० ६६४
३. अलंकारसर्वस्व, पृ० १५४-१५५
४. रसगंगाधर, पृ० ५७३
५. काव्यालंकार-३।२५
६. काव्यादर्श, २।३३३
७. काव्यालंकारसूत्रवृत्ति -४।३।१२
८. काव्यालंकारसारसंग्रह, पृ० ५६०
९. काव्यालंकार, ९।३०
१०. काव्यप्रकाश, पृ० ६६३-६४

विश्वनाथ पंचानन,[१] इसका नाम विरोध ही देते हैं यद्यपि `विरोध के आभास में ही अलंकार मानते हैं। रूद्रट और जयदेव[२] विरोधऔर विरोधाभास नाम के दो भिन्न अलंकार वर्णित करते हैं। केवल अप्पय दीक्षित इसका उल्लेख विरोधाभास नाम से करते हैं।[३] पण्डितराज ने इस अलंकार का नाम `विरोध` ही रखा और उन्होंने उस विरोध की विरोधाभासता को स्पष्ट कर दिया।

`हितकृतप्यहितकृत्` `अगोद्धारकोऽस्मि नागोद्धारक:। इत्यादि में विरोध ही है क्योंकि अपने विषय में वह सारे अलंकारों का अपवाद रूप है और इस आशंका पर पंडितराज ने चुटकी ली कि कवि (सब) सुनता है, श्लेष अन्य अलंकारों का अनुग्राहक होता है, अपवाद नहीं।

यहां प्राचीनों का मत है कि जहां अपि आदि विरोध का द्योतक हो, वहां शाब्द विरोध होता है और अन्यत्र आर्थ विरोध होता है `शाब्द` का अर्थ यदि `शब्द द्वारा प्रतीत` लिया जाय, तो विरोध के विषय में यह बात संगत नहीं होती, क्योंकि` त्रयो प्यत्रय:` प्रतीत विरोध नियत विशेषण, विशेष्य और संसर्ग --किसी में समाविष्ट नहीं होता।` त्रित्व` `अत्रित्व` का प्रतियोगी मात्र है। `प्रतियोगी` को भी विरूद्ध मान कर प्रस्तुत उदाहरण में `नञ्` के अर्थ और उत्तरपदार्थ का प्रतियोगिता संससर्ग होने से संसर्ग में समावेश हो जाता है --यह नहीं कहा जासकता क्योंकि `सुप्तो भी` प्रबुद्ध` में जो विरोध है उसका समावेश तब भी न हो सकेगा, क्योंकि `सुप्त सुप्तत्वविरूद्ध प्रबुद्ध धर्मवाद् से अभिन्न है --ऐसा शाब्द बोध नहीं होता, जिसके कि लक्षणा आदि की कुसृष्टि का यत्न करें।

इसका वे उत्तर देते हैं कि`सुप्तोऽपि प्रबुद्ध` `त्रयोऽप्यत्रय:` इत्यादि विरोध के उदाहरणों में दो शब्दों द्वारा पहले `शयितत्व` और `जागरितत्व` रूप

---

१. साहित्यदर्पण, १०।८६

२. चन्द्रालोक ५।७४

३. कुवलयानन्द, पृ० १४१

दोनों धर्मों में स्थित विरोध भी याद हो आता है। तदनन्तर प्रतिबन्धक ज्ञान-सामग्री के बलवती होने से `ये दोनों धर्म विरुद्ध हैं` यह मानस अथवा वैयंजनिक बोध हो जाने पर उस विरोध द्वारा प्रतिरोध के कारण `शपित` `जागरित` में अभेद बुद्धि नहीं हो पाती, अत: द्वितीय शक्ति से प्रकाशित द्वितीय अर्थ को लेकर अन्वयबोध होता है, न कि विरुद्ध अर्थ को लेकर। इस तरह विरोधबोध के मूल के शिथिल हो जाने के कारण निवर्तमान भी विरोधबुद्धि कविसंरम्भगोचर होने से चमत्कारकारण हो जाती है। प्राचीनों के मत का यही सार है।[१]

किन्तु नवीनों के नाम से पण्डितराज ने अपना मत रखा कि दो अर्थों के प्रादुर्भाव के विना विरोधाभास असंभव है। उनमें एक अर्थ विरोध उल्लिखित करता है और दूसरा अन्वयबोध का विषय होता है, किन्तु अन्वयबोध का विषय द्वितीय अर्थ में विरोधोल्लासक अर्थ भेद में भी श्लेषाद्भूत अभेदाध्यवसाय` की रीति से अभिन्न रूप में भासित होता है। इस तरह अन्वयबोध हो जाने पर भी अपने आधारभूत द्वितीय अर्थ के पूर्णतया निवृत्त न होने के कारण अर्धमृत-श्वास लेता-सा त विरोध भी दूसरे मानसबोध में आ जाता है। इसलिये चमत्कारी कहलाता है। सम्पूर्णतया निवृत्तवस्तु चमत्कार उत्पन्न ही नहीं कर सकती, अत: यह सिद्धान्त मानना चाहिये कि न तो विरोधबोध का मूल अत्यन्त शिथिल होता हो और न उसकी सर्वथा निवृत्ति होती है :--

> `तस्माद्विरोधधियो नातीवशिथिलमूलत्वम् नापि चात्यन्तिकी निवृत्ति:।`[१]

अपि आदि की विरोधवाचकता निरूढ़लक्षणा की भांति निरूढ़-द्योतन को भी शक्ति समकक्ष मानकर की जा सकती है। रूपक और जाति-जाति

---

१. रसगंगाधर, पृ० ५७४

यहां नागेश ने अपना भिन्न मत उपस्थित किया है `सुप्तो दि प्रबुद्ध` स्थल में दोनों समानाधिकरण विभक्तियों (प्रथमाओं) के अर्थ

(अगेल पृष्ठ पर देखें)

रूपक और जाति-जाति, द्रव्य-द्रव्य का विरोध :-- जाति के जाति तथा द्रव्य के साथ द्रव्य के विरोध और रूपक का क्या विरोध है ? जैसे रूपक में आरोप होता है, वैसे ही इन भेदों में भी । इसका उत्तर पण्डितराज ने दिया कि `मुखचन्द्र` आदि रूपक में भी विरोध होता है, किन्तु उसका प्रतिपादन वहां अभीष्ट नहीं, अपितु चन्द्रगत गुणों के मुख में प्रतीत होने के लिए अभेद ही अभीष्ट है इसलिये अभेद ही चमत्कारी है, विरोध नहीं । विरोधके उपर्युक्त भेदों में विरोध ही कविसंभरगोचर होता है अतएव चमत्कारी होता है ।. अतएव `गंगाया घोष:` इत्यादि स्थल में भी एक अर्थ द्वारा विरोध उल्लिखित होने और दूसरे के द्वारा निवृत्त होने पर भी वहां विरोध का प्रसंग नहीं है --

" विरोधस्यात्र प्रतिभानेऽपि कविसंरम्भवागोचरत्वेन अचमत्कारित्वात्[१]।

पण्डितराज ने इस अलंकार के विवेचन में विरोध स्वरूप, विरोधालंकार के भेद, विरोध में की प्राचीन और नवीनाभिमत बोधसरणि तथा द्रव्य के साथ द्रव्य एवं जाति के साथ जाति के विरोधालंकार और रूपक के अन्तर को स्पष्ट कर इस अलंकार के सम्बन्ध में नवीन सिद्धान्त प्रदान किये ।

---

१ पिछले पृष्ठ का शेष --

(नामार्थ) का अभेद सम्बन्ध है और `अपि` शब्द द्वारा द्वितीय पदार्थतावच्छेदक (प्रबुद्धत्व) में प्रथमपदार्थतावच्छेदक (सुप्तत्व) की निरुद्धता द्योतित की जाती है । अत: दो गमक (अभेद और विरोध) के होने से और प्रकरणादि नियामक के अभाव से `प्रबुद्ध` पद के दोनों अर्थ एक साथ प्रतीत होते हैं । उनमें से अभेद वाला वाक्य मुख्य है, अत: श्लेष के साथ होने वाले विरुद्ध अर्थ के साथ अभेदाध्यवसाय द्वारा अभेद मुख्य है और विरुद्ध अर्थ विशेषण अथवा गौण है ।

-- मर्मप्रकाश, रसगंगाधर, पृ० ५७४-७५

---

१. रसगंगाधर, पृ० ५७७

विभावना

विभावनाविरोध मूलक अलंकार है। कारण के अभाव में कार्य की उत्पत्ति स्वाभाविक नहीं है, अत: कवि अपनी प्रतिभा से उसे प्रस्तुत करता है। कारण की स्थिति तो रहती है, किन्तु वह प्रसिद्ध कारण से भिन्न होता है। कभी-कभी कार्य का कारण रूप में या कारण का कार्यरूप में भी वर्णन होता है। पण्डितराज ने इसे इस प्रकार परिभाषित किया :—

> "कारणव्यतिरेकसामानाधिकरण्येन प्रतिपाद्यमाना कार्योत्पत्ति-विभावना।"[१]

अर्थात् कारण के व्यतिरेक (निषेध) के साथ प्रतिपादित कार्योत्पत्ति विभावना कहलाती है।

भामह,[२] उद्भट,[३] वामन[४] और मम्मट[५] क्रिया का निषेध कर देने पर फलप्राप्ति को विभावना मानते हैं, किन्तु पण्डितराज ने यह माना कि यहाँ 'क्रिया' का अर्थ कारण है और 'फल' का कार्य। रुय्यक ने स्पष्ट किया था कि वैयाकरणों के निकाय में 'क्रिया' का कारण और 'फल' का कार्य अर्थ में व्यवहार होता है, सर्वत्र नहीं, अत: साहित्यप्रस्थान में उनका प्रयोग समुचित नहीं है। अतएव रुय्यक ने लक्षण में 'कारण' और 'कार्य' पद का भी प्रयोग

---

१. रसगंगाधर, पृ० ५७८

२. काव्यालंकार — २।७७

३. काव्यालंकार सारसंग्रह, पृ० ३८

४. काव्यालंकारसूत्रवृत्ति—४।३।१३

५. काव्यप्रकाश, — १०।१०७

किया[६]। गोविन्द ठक्कुर,[७] विश्वनाथ,[८] अप्पय[९] और पण्डितराज इसी मार्ग का अनुसरण किया है।

विभावना आहार्य अभेदबुद्धि मात्र अनुप्राणित :— रुद्रट ने विभावना को अतिशयवर्ग में रखा। फलत: उनसे प्रभावित रुय्यक इसे सर्वत्र अतिशयोक्ति से अनुप्राणितमाना।[१०] पण्डितराज ने इसका खंडन किया किन्तु यह स्पष्ट कियाकि विभावना सर्वत्र आहार्य अभेदबुद्धि कहीं अतिशयोक्ति से होती और कहीं रूपक से :—

> मा भूत्सर्वत्र विभावनायामतिशयोक्तिरनुप्राणिका। आहार्याभेदबुद्धिमात्रमेवानुप्राणनम्। तच्चक्वचिदतिशयोक्त्या, क्वचिच्च रूपकेणेतिन दोषा।"[११]

भेद :— विभावना के, दण्डी ने दो भेद,[१२] रुद्रक ने,[१३] तीन भेद, विश्वनाथ ने[१४] भेद और अप्पयदीक्षित ने कारण के बिना कार्योत्पत्ति कारणों के समग्र न होने पर कार्योत्पत्ति, विरुद्ध वस्तु से कार्योत्पत्ति और कार्य से कारण की उत्पत्ति में — छ: प्रकार की विभावना मानी।[१५]

---

६. अलंकारसर्वस्व, पृ० १५७-५८

७. प्रदीप, काव्यप्रका— पृ० ६५६

८. साहित्यदर्पण— १०।८७

९. कुवलयानन्द, पृ० १४२

१०. "सा चास्यामव्यभिचारिणीतिन तदनुबोधेनास्याउत्थानम्" — अलंकारसर्वस्व, पृ० १५६

११. रसगंगाधर, पृ० ५८१

१२. काव्यादर्श, २।२००-२०४

१३. काव्यालंकार— ९।१६-२०

१४. साहित्यदर्पण—१०।८७

१५. कुवलयानन्द, पृ० १४२-४७

पण्डितराज ने इस भेदप्रपंच का खण्डन किया, क्योंकि उपमा, रूपक और अन्य सामान्य लक्षण की भांति विभावना का सामान्य लक्षण दीक्षित के मत में क्या है ? यदि `उक्त छह भेदों में से एक होना` -इस प्रकार का लक्षण बनाना चाहें, तो ऐसा करने पर भी प्रथम प्रकार से द्वितीय भेद की भिन्नता कठिन हो जायगी । क्योंकि `कारण के अभाव में कार्योत्पत्ति` द्वारा `कारणतावच्छेदक से सम्बन्ध से कारणतावच्छेदक से अवच्छिन्न कारण का अभाव कहना ही अभीष्ट है, अत: असमग्र कारण को पृथक स्वीकार करने की अपेक्षा इस विवक्षा में लाघव है । इसी प्रकार प्रथम प्रकार ही अन्य प्रकारों में व्याप्त है । अत: प्रथम प्रकार से अन्य सब प्रकारों के व्याप्त होने के कारण, छ: प्रकार की विभावना कहना असंगत ही है --

> " तस्मादाद्येन प्रकारेण प्रकारान्तराणामालीढत्वात्षट्-प्रकारा इत्यनुपपन्नमेव ।" [1]

यह विभावना वस्तुत: उक्तनिमित्ता और अनुक्तनिमित्ता-- दो प्रकार की होती है ।

पण्डितराज ने रुय्यक द्वारा दिये गये उदाहरण [2] में विभावना का अभाव दिखाया । उन्होंने यह भी स्पष्ट किया कि केवल `कारण` शब्द लिख कर उसका अभाव वर्णन कर देने मात्र से (`निष्कारण कह देने मात्र से` विभावना नहीं हो सकती और न कार्यांश के अतिशयोक्ति से अथवा अभेद-निश्चय से व्याप्त होने पर ही हो सकती है, किन्तु जिससे अभिन्न रूप से कार्यांश का वर्णन किया जाय, तभी विभावना होती है, जैसे `खला विनैव द दहन्ति जगतीतलम्` में होगी किन्तु `खला विनैवापराधं दहन्ति खलु सज्जनान्` में न होगी, क्योंकि यहां `अपराध` पीड़ा का कारण है, पर पीडा जिससे

---

१. रसगंगाधर, पृ० ५८३

२. अलंकारणसर्वस्व, पृ० १५८

अभिन्न मानी गयी है, उस दाह का उदाहरण नहीं है । [१]

पण्डितराज ने एक ओर इस अलंकार के लक्षण में रुय्यक निर्दिष्ट कारण, कार्य पद के सन्निवेश को स्वीकृति और प्रबल समर्थन दिया, दूसरी ओर विभावना में सर्वत्र 'अतिशयोक्तिमूलता' उनके सिद्धान्त की त्रुटि दिखा कर उचित मार्ग प्रदर्शित किया । उन्होंने अप्पय द्वारा प्रदर्शित भेद की अति-वादिनी प्रवृत्ति का युक्तियुक्त खण्डन किया और विभावना में 'कारणाव्यतिरेक' के वास्तविक स्वरूप को विशद रूप में उपस्थित किया ।

---

१. हिन्दी रसगंगाधर, पृ १५० (तृतीय भाग)

विशेषोक्ति

विशेषोक्ति का अर्थ रुय्यक ने 'किसी विशेष अर्थ की अभिव्यक्ति के लिये प्रयुक्त होने वाली उक्ति' लिखा ।[1] पण्डितराज ने विशेषोक्ति की परिभाषा इस प्रकार लिखी —

'प्रसिद्धकारणाकलापसामानाधिकरण्येन वर्ण्यमाना कार्यानुत्पत्ति-विशेषोक्तिः ।'[2]

अर्थात् प्रसिद्ध कारणाकलाप के साथ रहने पर वर्णन की जाने वाली कार्य की अनुत्पत्ति को विशेषोक्ति कहते हैं । इस अलंकार में कारण के रहने पर भी कार्य नहीं होता, अतः विरोध दीखता है, किन्तु प्रसिद्धेतकारण की वैकल्य (न्यूनता) के ज्ञान होने से विरोध का परिहार्य हो जाता है ।[3]

भेद:— भामह,[4] दण्डी आदि ने इसका निरूपण किया है । दण्डी के अनुसार इसके पांच भेद हैं ।[5] उद्भट इसके उक्त निमित्तक और अनुक्त निमित्तक दो भेद ही मानते हैं ।[6] कार्य का अभाव बताने के लिये कारण हो, तो उक्त निमित्ता और जहां कारण की प्रतीति अर्थ सामर्थ्य से हो वह अनुक्तनिमित्ता कहलाती है ।[7] अभिनवगुप्तपादाचार्य और आचार्य मम्मट ने 'अचिन्त्यनिमित्ता'

---

१. अलंकारसर्वस्व— पृ० १६०-६१ । तुलनीय— (क) समुद्रबन्ध— अलंकारसर्वस्व पृ० १४१ । (ख) परमानन्द चक्रवर्ती, आशाधार भट्ट, नागेश— काव्यप्रकाश बालबोधिनी में उद्धृत, पृ० ६५८

२. रसगंगाधर, पृ० ५८६

३. ,, पृ० ५८७, तुलनीय— प्रदीप, पृ० ५१२

४. काव्यालंकार- ३।२३

५. काव्यादर्श— २।३२३-२६

६. काव्यालंकारसार संग्रह, पृ० ५८

(अगले पृष्ठ पर देखें)

नामक एक तृतीयभेद की कल्पना की,[१] किन्तु `अनुक्त` को चिन्त्य और अचिन्त्य-दो प्रकार का मानकर अनुक्तनिमित्ता में ही उसका अन्तर्भाव हो जायगा ।[२]

कार्यानुपपत्ति की बाध्यता:- इस अलंकार में कार्यानुपपत्ति से कारण की विद्यमानता बाधित होती है यह कुछ लोगों का मत है, किन्तु पण्डितराजने कार्यानुपपत्ति को ही बाधित माना है । शाब्दी- आर्थी विभावना-विशेषोक्ति विवेक :-- कारणाभाव के प्रतिपादन के साथ, उनका अभाव है, उन कारण और कार्य का शब्दतः प्रतिपादन होने पर शाब्दी विभावना और विशेषोक्ति होती है अन्यथा आर्थी ।

वामन ने विशेषोक्ति को रूपक से अनुप्राणित माना था, किन्तु पण्डितराज ने इसका खंडन किया । उनके ही द्वारा उदाहृत मृच्छकटिक के अंश `द्यूतं हि नाम असिंहासन राज्यम्` -में दृढारोपरूप ही स्वीकार किया ।[३] इस अलंकार के विवेचन में पण्डितराज ने रुय्यक प्रदर्शित सरणि का पूर्ण समर्थन किया ।

पिछले पृष्ठ का शेष —

७. प्रतिहारेन्दुराज--लघुविवृत्ति --काव्यालंकार सार संग्रह, पृ० ५८

१. लोचन, ध्वन्यालोक, पृ० ११६, काव्यप्रकाश, पृ० ६५८

२. रसगंगाधर, पृ० ५८७-८८, तुलनीय-- अलंकारसर्वस्व, पृ० १६१

३. (क) काव्यालंकारसूत्रवृत्ति- ४।३।२३

(ख) रसगंगाधर, पृ० ५८९-९० ।

तुलनीय--अलंकारसर्वस्व, पृ० १६२

असंगति

पण्डितराज ने असंगति अलंकार की परिभाषा इस प्रकार लिखी :—

' विरुद्धत्वेन आपाततो भासमानं हेतुकार्ययोर्वैयधिकरण्यमसंगति: । '[1]

अर्थात् आपातत: विरुद्धरूपमें प्रतीति होने वाली हेतु और कार्य की व्यधिकरणता असंगति अलंकार कहलाती है ।

इस लक्षण में पण्डितराज ने विरुद्धात्वेन आपाततो भासमानम्' - यह लक्षणादल बड़े विचारपूर्वक सन्निविष्ट किया :—

' स्पृशति सतित्वयि यदिचापं स्वापं प्रापन्नके पि नरपाला: ।
शोणि तु नयनकोणे को नेपालेन्द्र, सुखमनुभवतु ।। '

हे नेपाल नरेश, यदि आपके धनुष पर हाथ डालते ही कोई राजा निद्रा न पा सके, तो अपांग के लाल होने पर तो कौन सुख से सोयेगा ।

इस श्लोक में धनुषपर हाथ डालना और 'अपांग का लाल होना' दोनों कारण और उनका कार्य निद्रानाश भिन्न भिन्न आधारों में वर्णित हैं। अत: उपर्युक्त सन्निवेश न करने पर यहां अतिव्याप्ति होती, किन्तुजब वैयधिकरण्य को आपातत: विरुद्धरूप में प्रतीत होना भी आवश्यक मान लेते हैं, तो अतिव्याप्ति नहीं होत? क्योंकि चापस्पर्श और अपांग की लाली जब भिन्न आधार में रहें, तभी वे अन्यत्र नींद उड़ा सकते हैं, फलत: यहा विरोध का अवकाश ही नहीं है ।

यदि यह कहें कि 'अपांग की लाली' से व्यक्तरोष' और 'निद्रा के नाश' का नाश का आधार अलग अलग हो सकता है, 'किन्तु चापस्पर्श' का

---

१. रसगंगाधर, पृ० ५६०

ज्ञान जिन्हें होता है, उनकी ही नींद भागती है, अत: यहां तो कारण-कार्य का आधार एक होगा, अत: लक्षण यों ही व्याप्त न होगा, अलग से उपर्युक्त सन्निवेश की आवश्यकता ही क्या ? इसका उत्तर यह है कि लक्षण में 'लै हेतु' का तात्पर्य 'प्रयोजक' है, इस प्रकार 'निद्रानाश' का प्रयोजक चापस्पर्श 'रोष' की प्रमात्मक अनुमिति का हेतु (लिंग) बनता है। अत: हेतु-कार्य के वैयाधिकरण्य सिद्ध होने से प्राप्त अतिव्याप्ति के वारणार्थ उपर्युक्त सन्निवेश आवश्यक है।[१] यद्यपि अप्पयदीक्षित ने 'विरुद्ध' भिन्नदेशत्वयुक्त' कार्य और हेतु को असंगति कह कर उधर पहले ही संकेत किया था,[२] किन्तु पण्डितराज ने उसे अपने सूक्ष्म विवेचन से अत्यन्त स्पष्टता प्रदान की।

असंगति में सर्वत्र अतिशयोक्ति की अनुप्राणकता नहीं :- अभेदाध्यवसान असंगति का अनुप्राणक है और विरोधाभास उत्कर्षक :-

'अभेदाध्यवसानमनुप्राणकम् , विरोधाभासश्चोत्कर्षक: ।'[३]

कदाचित् विरोधाभास की इसी भूमिका के कारण दण्डी ने असंगति के कारण होने वाले विरोध के एक भेद को उदाहृत किया है।[४] पूर्ववर्ती आचार्यों ने असंगति' का पृथक् उल्लेख नहीं किया। सर्वप्रथम रुद्रट ने इसे अलंकार माना और अतिशयमूलक अलंकारों में रखा।[५] रुद्रट से प्रभावित रुय्यक और जयरथ ने विभावना की ही भांति इसे भी सर्वत्र अतिशयोक्ति से अनुप्राणित माना,[६] किन्तु पण्डितराज ने इसे विमल दृष्टि से विचार कर कहा कि 'कार्यांश

---

१. रसगंगाधर, पृ० ५६०-६१
२. कुवलयानन्द, पृ० १४६
३. रसगंगाधर, पृ० ५६१
४. काव्यादर्श, पृ० २।३३८
५. काव्यालंकार-६।४८
६. अलंकारसर्वस्व, पृ० १६४

में किसी भी प्रकार का अभेदाध्यवसान आवश्यक मानना चाहिये, न कि अतिशयोक्ति :—

"तस्माद्येन केनापिप्रकारेण कार्यांशे अभेदाध्यवसानमावश्यकम् यदि तु संगतम् ।"[1]

यद्यपि कारणांश भी अभेदाध्यवसान संभव है, किन्तु यहाँ वह अनिवार्य नहीं होता ।

विरोध और असंगति में भेद:— विरोध और असंगति में भेद यह है कि विरोध में उत्पत्ति के विमर्श के बिना ही विरोध की प्रतीति होती है और असंगति में उत्पत्ति के विमर्शपूर्वक विरोध के प्रतिभान की उत्पत्ति होती है । किन्तु जयरथ ने कहा कि विरोधालंकार में एक आधार में दोनों का सम्बन्ध होने से विरोध प्रतीत होता है और असंगति में दो भिन्न आधारों में विरोध की प्रतीति होती है ।[2] पण्डितराज ने बताया कि विरोधालंकार वहां होता है जहां दो व्यधिकरणात्वेन प्रसिद्ध अर्थात् भिन्न आधारों में रहने वाले पदार्थ सामानाधिकरणात्वेन निबद्ध हों और दो सामानाधिकरणात्वेन प्रसिद्ध अर्थात् एक आधार में रहने वाले पदार्थ यदि व्यधिकरणात्वेन निबद्ध हों, तो असंगति अलंकार होता है :—

"वस्तुतस्तु व्याधिकरणात्वेन प्रसिद्धयो: समानाधिकरण्येनोपनिबन्धने विरोधालंकार: । समानाधिकरणात्वेन प्रसिद्धयोर्द्वयोर्वैयधिकरण्येनोपनिबन्धने - संगति: ।"[3]

विरोधालंकार में अतिरिक्त शुद्ध विरोध का का अंश, जो उपमा-मूलक अलंकारों में सादृश्य की भांति सभी विरोधमूलक अलंकारों में अनुस्यूत रहता है, वह कतिपय अलंकारों का निर्वर्तक है न कि स्वयंपृथक अलंकारता का पात्र, क्योंकि अलंकार भणिति विशेषमात्र होते हैं । अत: उनमें अनुस्यूत

---

१. विमर्शिनी -- अलंकारसर्वस्व, पृ० १६४

२. रसगंगाधर, पृ० ५६३

३. कुवलयानन्द, पृ० १५१

सादृश्य या विरोध की अलंकाररूपता आवश्यक नहीं ।

अप्पय कृत दो भेदों पर विचार :- अप्पयदीक्षित ने प्रथम भेद के अतिरिक्त ये दो अन्य भेद माने -(क) जहां किसी विशेष स्थान पर करणीय कार्य को वहं न कर किसी दूसरे स्थान पर किया जाय । (ख) जहां किसी विशेष कार्य को करने में प्रवृत्त व्यक्ति उस विशेष कार्य को न कर उसके विरुद्ध कार्य को ।[१]

पण्डितराज ने अप्पय की प्रथम असंगति अर्थात् कार्य और कार्य का दो भिन्न स्थलों में विरुद्ध वर्णन --से प्रस्तुत भेदों में से पहले वाले को किसी प्रकार भिन्न नहीं माना । इसी तरह `नेत्रेषु कंकणम्` इत्यादि उदाहरण में विरोधी श्रृंगारों का सामनाधिकरण्य वर्णित होने से `विरोध अलंकार है । गोत्रोद्धारप्रवृत्तो` इत्यादि उदाहरण में विभावना है और `मोहं जगत्त्रयभुवाम्` इत्यादि स्थल में` मोहजनकत्व` और `मोहनिवर्तकत्व` --इन परस्परविरुद्ध बातों का सामानाधिकरण्य होने से विरोधाभास है । अत: उपर्युक्त दोनों अतिरिक्त भेद मानना व्यर्थ है ।[२]

किन्तु वैद्यनाथ ने पण्डितराज का खंडन किया और कहा कि दीक्षितोक्त प्रथम भेद के उदाहरण `विषंजलधरैः` इत्यादि में केवल कार्यकारण का वैयाधिकरण्यप्रयुक्त चमत्कार है किन्तु `अपारिजातम्` इत्यादि द्वितीय भेद के उदाहरण में अन्यत्र करणीय कार्य का अन्यत्र करने का चमत्कार है । इसी तरह `नेत्रेषु कंकणम्` आदि में विरोधाभास होते हुए भी अन्यत्र करणीय श्रृंगार का अन्यत्र वर्णन किया जाता, अत: दूसरी असंगति का निराकरण भी नहीं हो सकता । `गोत्रोद्धारप्रवृत्तोऽपि गोत्रोद्भेदं पुराकरोः` में भी विभावना नहीं है, अत: तृतीय भेद भी मानना चाहिये । इसी `मोहं जगत्त्रय` इत्यादि स्थल में भी विभावना नहीं है । अत: अप्पय के तीनों भेद माने जाने चाहिये ।[३]

---

१. कुवलयानन्द, पृ० १५१

२. रसगंगाधर, पृ० ५६३-६५

३. अलंकार चन्द्रिका, पृ० ११

नागेश ने भी अप्पय दीक्षित के इन भेदों का समर्थन किया है।[१]

---

१. मर्मप्रकाश- रसगंगाधर, पृ० ५६५

विषम

सर्वप्रथम रुद्रट ने `विषम` अलंकार का निरूपण किया । उन्होंने इसे वास्तवमूलक और अतिशयमूलक अलंकार माना । वास्तवमूलक विषम का प्रथम भेद वह है, जहाँ वक्ता दूसरे के अभिप्राय की स्थिति की अशंका से दो पदार्थों के सम्बन्ध को तोड़ता है, द्वितीय भेद में दो पदार्थों का अनुचित सम्बन्ध वर्णित होता है । अतिशयमूलक विषम भी दो प्रकार का होता है -कारणकार्यसम्बन्ध में गुणगत विरोध अथवा क्रियागत विरोध ।[1] आचार्य मम्मट[2] तथा विश्वनाथ पंचानन[3] भी इसी दृष्टि से भेद किये । रुय्यक ने वक्ष्यमाण भेदों के आधार पर अलंकार को परिभाषित किया और `अननुरूपसंसर्गो हि विषमम्` -अननुरूप-संसर्ग ही विषम है -इस प्रकार विषम के स्वरूप को बताया । तीन भेद किये - (१) कारण से विरूप कार्य की उत्पत्ति में , (२) किसी अर्थ की उपलब्धि के प्रयत्न होने पर, उसकी प्राप्ति तो हो ही नहीं, बल्कि अनर्थप्राप्ति हो (३) अनुचित तथा विसदृश सम्बन्ध की स्थापना करने पर[4] । अप्पयदीक्षित ने रुय्यक के आधार पर ही विवेचन किया ।[5] मम्मट, विश्वनाथ, रुय्यक और अप्पय ने विषम को परिभाषित नहीं किया, उसके भेदों को परिभाषित किया । रुय्यक ने अलग से `विषम` को स्पष्ट किया और उसी को शब्दश: स्वीकार पदकृत्यपुर:

काव्य-

१. अलंकार ७।४७, ४६, ६।४५

२. काव्यप्रका, पृ० ७२६

३. साहित्यदर्पण, पृ० १०।६१

४. अलंकारसर्वस्व, पृ० १६५

५. कुवलयानन्द, पृ० १४५-५५

सर पण्डितराज ने विषम का सुन्दर लक्षण प्रस्तुत किया —

'अननुरूपसंसर्गो विषमम् ।'

'अनुरूपम्' में योग्यता अर्थ में अव्ययीभाव है, 'अनुरूपंयत्र न विद्यते' इस विग्रह में बहुव्रीहि कर 'अननुरूपम्' की निष्पत्ति होती है, अत: 'अननुरूप' का अर्थ है योग्यतारहित । योग्यता है --यह उचित है' ऐसा लोकव्यवहार —

'योग्यता च युक्तमिदमिति लोकव्यवहार: ।'

संससर्ग उत्पत्ति रूप और संयोगादि रूप होता है । उत्पत्तिरूप संसर्ग की अयोग्यता कारणगुणों से भिन्न गुणों वाले कार्य की उत्पत्ति से होती है और संयोगादिरूप संसर्ग की अयोग्यता इष्ट साधनरूप में निश्चित कारण से अनिष्ट कार्यापात में होती है । इस तरह अननुरूप संसर्ग के रूप में सामान्यत: कथित और वक्ष्यमाण सभी भेदों का संग्रह हो जाता है :—

'एवं चाननुरूपसंसर्गत्वेन सामान्येनोक्ता: वक्ष्यमाणाश्च सर्वे भेदा: संगृह्यन्ते ।'[१]

पण्डितराज ने संयोगादि रूप संसर्ग के लक्षण में आये 'अनिष्ट-कार्योत्पत्तिनि:' पद में एकशेष माना ।[२] इस प्रकार (१) इष्ट कार्य की अनुत्पत्ति और अनिष्ट रूप कार्योत्पत्ति (२) केवल इष्टकार्य की अनुत्पत्ति (३) केवल अनिष्ट कार्योत्पत्ति—ये तीन भेद 'अनिष्टकार्योत्पत्ति' से संगृहीत हो जाते हैं । इष्ट के चार अर्थ हैं --अपनी किसी सुखसाधक वस्तु की प्राप्ति, किसी दु:खसाधनवस्तु की निवृत्ति, विरोधी की दु:खसाधनवस्तु की प्राप्ति, उसकी सुखसाधनवस्तु की निवृत्ति । अत: इष्ट की अप्राप्ति वाले भेदों में प्रत्येक के चार-चार भेद हो जाते हैं । अनिष्ट

---

१. रसगंगाधर, पृ० ५६६

२. 'न इष्टमनिष्टम् अनर्थ:, तादृशकार्योत्पत्तिश्च, न इष्टकार्योत्पत्तिरनिष्ट कार्योत्पत्ति:, सा चेत्यनिष्टकार्योत्पत्ती, ते च अनिष्टकार्योत्पत्तय: ताभिरित ।'
—रसगंगाधर, पृ० ५६७

भी तीन प्रकार का होता है – अपने दु:ख की साधनरूपवस्तु की प्राप्ति, विरोधी के सुख की साधनरूप वस्तु की प्राप्ति, उसके दु:ख की साधन रूप वस्तु की निवृत्ति। अत: अनिष्ट प्राप्ति वाले भेदों में से प्रत्येक भेदों के प्रत्येक के तीन-तीन भेद हो जाते हैं। इस प्रकार पण्डितराज ने विषम के भेदप्रपंच का निरूपण किया।

पण्डितराज ने यह भी स्पष्ट कर दिया कि विषम में भी अभेदाध्यवसान अनुप्राणक और विरोधाभास परिपोषक होता है। यही अंश कवि-प्रतिभानिर्मित होने के कारण अलंकारता का बीज होता है।[1]

पण्डितराज ने कुवलयानन्द में प्रदत्त लक्षण में 'अपि' शब्द द्वारा 'इष्टाप्राप्ति' के संग्रह बताने का खंडन कर, उसके संग्रह का अन्य प्रकार बताया और उसके उदाहरणों में दोष दिखाये।[2]

अनुरूप संसर्ग मानने पर वस्तुकथन मात्र में अलंकारत्व होने की आशंका का निवारण किया, क्योंकि वस्तुकथन तो लोकसिद्ध है, अत: उसमें अलंकारता का कोई प्रश्न नहीं।

पण्डितराज ने अपने विवेचन द्वारा विषम' अलंकार का अत्यन्त स्पष्ट स्वरूप और निर्दुष्ट लक्षण प्रस्तुत किया। उन्होंने विषम के भेदप्रपंच के प्रति भी सर्वथा नवीन विश्लेषणात्मक बुद्धि का परिचय दिया।

----

१. रसगंगाधर, पृ० ५९६-९७

२. रसगंगाधर, पृ० ६०१-६०३

सम

पण्डितराज ने समालंकार का लक्षण इस प्रकार लिखा:— अनुरूपसंसर्ग: समम् । अर्थात् अनुरूपसंसर्ग को सम कहते हैं । इस तरह दो पदार्थों के उचित संबन्ध को सम कहते हैं । संसर्ग पूर्वोक्त रूप से दो प्रकार का ही होता है । उसमें से उत्पत्तिरूप संसर्ग की अनुरूपता तीन प्रकार की है —(१) कारण से अपने समानगुण कार्य की उत्पत्ति द्वारा (२) यादृश गुण वाली वस्तु का संसर्ग हो, तादृश गुण की उत्पत्ति द्वारा (३) जिस इष्ट प्राप्ति के लिये कारण का प्रयोग किया गया हो, उससे उस इष्ट की प्राप्ति द्वारा ।[१] और संयोग रूप संसर्गता स्तुतिपर्यवसायिनी और निन्दापर्यवसायिनी दो प्रकार की होती है ।

यहां यह स्मरणीय है कि उत्कट दृष्टान्त की प्राप्ति में तो वक्ष्यमाण 'प्रहर्षण' अलंकार ही होगा ।

'सम' अलंकार का उद्भावन आचार्य मम्मट ने किया । उन्होंने 'सद्योग' और 'असद्योग' — दो प्रकार का माना । सादृश्य के कारण दो वस्तुओं के बीच स्थापित सम्बन्ध अच्छी या बुरी वस्तुओं के बीच हो सकता । इसी दृष्टि से मम्मट का विभाजन है ।[२] रुय्यक ने इसी को अभिरूप विषयक और 'अनभिरूपविषयक' कहा ।[३] अप्पयदीक्षित ने द्वितीय तथा तृतीय विषम के समानान्तर द्वितीय तृतीय सम की भी कल्पना की ।[४] पण्डितराज दीक्षित की इस भेद-

---

१. रसगंगाधर, पृ० ६०४

२. काव्यप्रकाश— १०।१२५

३. अलंकारसर्वस्व, पृ० १६७

४. कुवलयानन्द, पृ० १६१-६२

व्यवस्था से सहमत हैं, किन्तु वे अनुरूपसर्गता का उपर्युक्त प्रकार विवेचन करके उसमें ही समके तीनों प्रकारों को अन्तर्भूत कर लेते हैं और दीक्षित की भांति तीनों के अलग-अलग लक्षण बनाने की आवश्यकता नहीं समझते —

'एवं चानुरूपसंसर्गत्वेन सामान्यलक्षणेन सर्वे भेदा:
— संगृहीता भवन्ति ।' [१]

पण्डितराज अप्पय द्वारा तृतीय प्रकार के उदाहरण का कुछ प्रयोग में व्याकरण की दृष्टि से और अलंकारस्थिर करने की दृष्टि से आलोचन किया ।[२]

पण्डितराज ने रुय्यक और जयरथ के इस मत का भी खंडन किया कि 'कारण में अनुरूप कार्य की उत्पत्ति' तथा 'वांछित अर्थ की प्राप्ति' रूप भेद चमत्कारी न होने के कारण सम का एक ही भेद होता है, क्योंकि वस्तुत: अननुरूप कार्यकारणों का श्लेषादि से धर्मैक्य संपादन द्वारा आनुरूप्य वर्णन में तथा वस्तुत: अनिष्ट का भी उसी उपाय द्वारा इष्ट से एकता संपादन हो जाने पर इष्टप्राप्ति के वर्णन में सौन्दर्य होता है, अत: सम भी विषम की भांति तीन प्रकार का होता है ।[३]

---

१. रसगंगाधर, पृ० ६०४

२. ,, पृ०६०६-६०७

३ ,, पृ०६०८

विचित्र

विचित्र अलंकार को पण्डितराज ने इस प्रकार उपस्थित किया :--

" इष्टसिद्ध्यर्थं मिष्टैषिणा क्रियमाणा मिष्टविपरीताचरणं विचित्रम् ।"[1]

अर्थात् इष्टसिद्धि के लिये इष्टाभिलाषी द्वारा किया गया इष्ट के विपरीत (प्रतिकूल) आचरण को विचित्र कहते हैं । पण्डितराजन इष्ट के स्वत: सिद्ध होने पर इष्टषी द्वारा किया जाने इष्ट के अनुकूलाभास का प्रयोग को भी ' विचित्र ' मानने का विकल्प बताते हैं ।

इस अलंकार को रुय्यक ने[2] सर्वप्रथम प्रस्तुत किया । विश्वनाथ[3] और अप्पय[4] भी इसका वर्णन करते हैं ।

विषम से भेद:-- कारण के अनुरूप कार्य होने पर भी विचित्र विषम से इस अंश में भिन्न है कि विषम में पुरुष प्रयत्न की अपेक्षा नहीं रहती और उसके भेद कारण और कार्य के गुणों की भिन्नता के आधार पर ही निरूपित होते हैं ।

----

१. रसगंगाधर, पृ० ६०८

२. अलंकारसर्वस्व, पृ० १६८

३. साहित्यदर्पण, पृ० ३५

४. कुवलयानन्द, पृ० १६४

अधिक

आधार और आधेय में से किसी एक को अतिविस्तृत सिद्ध करने के लिये दूसरे की अतिन्यूनता की कल्पना अधिकालंकार है —

"आधाराधेययोरन्यतरस्यातिविस्तृतत्वसिद्धिफलकमितरस्यातिन्यून-
त्वकल्पनमधिकम् ।"[1]

पण्डितराज के इस लक्षण पर रुद्रक के लक्षण का प्रभाव है,[2] किन्तु रुद्रट ने एक कारण से परस्परविरुद्ध दो पदार्थों की उत्पत्ति में भी इसका एक भेद माना है।[3] मम्मट आधार और आधेय की न्यूनता में भी इसे स्वीकार करते हैं।[4] रुय्यक,[5] अप्पय[6] और पण्डितराज का मत समान है। यह उल्लेखनीय है कि रुद्रट इस अलंकार को विरोधमूलक मानते हैं, किन्तु रुय्यक और पण्डितराज अतिशयमूलक। पण्डितराज ने यह भी स्पष्ट किया है कि आधार और आधेय में से किसी एक को अतिविस्तृत सिद्ध करने के लिये इसकी न्यूनता की 'कल्पना' में ही यह अलंकार होता है, वास्तविक न्यूनता होने पर नहीं। अतः रुय्यक का उदाहरण[7] इस दृष्टि से उचित नहीं है।

---

१. रसगंगाधर, पृ० ६१०
२. काव्यालंकार — ६।२८
३. ,, ६।२६
४. काव्यप्रकाश, पृ० ७२३
५. अलंकारसर्वस्व, पृ० १६६
६. कुवलयानन्द, पृ० १६५-६६
७. अलंकारसर्वस्व, पृ० १६६

अन्योन्य

दो में से एक दूसरे द्वारा परस्पर विशेषता उत्पन्न करने को अन्योन्यालंकार कहते हैं :—

'द्वयोरन्योन्येन अन्योन्यस्य विशेषाधानम् अन्योन्यम् ।'[1]

हि विशेषाधान क्रियादि रूप में होता है ।[2]

इस अलंकार का भी सर्वप्रथम निरूपण रुद्रट ने किया । उन्होंने दो पदार्थों के परस्पर प्रभावित होने की हेतुभूति क्रिया की एकता में यह अलंकार माना था, अत: नमिसाधु ने क्रियैक्य के अभाव और गुणैक्य होने पर भी अन्योन्य नहीं माना,[3] किन्तु पंडितराज और नागेश ने[4] गुणरूप विशेषाधान भी स्वीकार किया । मम्मट ने 'दो अर्थों के एकक्रियामुखेन परस्पर कारण बनने पर' ही अन्योन्य माना।[5] रुय्यक ने भी यही माना था ।[6] अप्पय ने 'दो वर्ण्यों के परस्पर उपकारक' होने पर अन्योन्य माना ।[7] यह भोज के लक्षण का अनुवाद था ।[8]

---

१. रसगंगाधर, पृ० ६१२

२. 'विशेषश्च क्रियादिरूप' —रसगंगाधर, पृ० ६१२

३. काव्यालंकार, नमिसाधु कृत टीका, ७।६१

४. बालबोधिनी में उद्धृत, काव्यप्रकाश, पृ० ७०८

५. काव्यप्रकाश, पृ० ७०७

६. अलंकारसर्वस्व, पृ० १७०

७. कुवलयानन्द, पृ० १६८

८. सरस्वती कंठाभरण—तृतीय परिच्छेद

९. 'यथोर्ध्वाक्ष: पिबत्याम्बुपथिको विरलांगुलि: ।
तथा प्रपापालिकापि धारां वितनुते तनुम् ।।

अत्र प्रपापालिकाया: पथिकेन स्वासक्तया पानीयदानव्याजेन बहुकालं

(अगले पृष्ठ पर देखें)

पण्डितराज ने अप्पयदीक्षित द्वारा दिये गये 'अन्योन्य' के उदाहरण की मीमांसा में दोष दिखाया। यहां प्रथमदोष तो पदरचना सम्बन्धी बताया। प्रथम वाक्य में प्रपालिका के साथ प्रयुक्त 'स्वमुखावलोकन मभिलषन्त्या:' तथा द्वितीय मेंपथिक के साथ 'प्रयुक्त स्वमुखावलोकनमभिलषत:' में आये 'स्व' शब्द का बोधकत्व ठीक संभवएवं संगत नहीं होता। शिथिल पद रचना के कारण प्रथम 'स्व' शब्द पान्थ के साथ और द्वितीय 'प्रपापालिका' के साथ अन्वित जान पड़ता है। जबकि कवि का भाव सर्वथा भिन्न है। किन्तु नागेश ने कहा कि 'स्व' आदि शब्द यद्वि-शेषणाघटक होते हैं, उसे विशेष्य से अन्वित तद्विशेष्येतर के बोधक नहीं होते हैं' - इन नियम से इस वाक्य में प्रथम स्व' शब्द 'अभिलषन्त्या :' विशेषण से संबद्ध है, वह अपने विशेष्य 'प्रपापालिकाकि भिन्न का बोधक नहीं होगा। [१] यहां नागेश की युक्ति मान्य होनी चाहिये।

किन्तु पंडितराज ने यहां एक अलंकार सम्बन्धी आपत्ति उठायी है कि इस श्लोक में पथिक ने अंगुलियां इसलिये फैला रखी हैं कि वह स्वयं प्रपापालिका को देखना चाहता और वह पानी की धार इसलिये पतली कर रही कि स्वयं पाथ को देखना चाहती है, अत:' स्व-स्वकर्तृक चिरकालदर्शन' ही अभीष्ट और चमत्कारी है,' परकर्तृकचिरकालनिजदर्शन' नहीं, अत: यहां परोपकार के अभाव में इसे अन्योन्य अलंकार का उदाहरण नहीं बनना चाहिये।

पिछले पृष्ठ का शेष— स्वमुखावलोकनमभिलषन्त्या विरलांगुलिकरणातश्चिरं पानीयदानानुवृत्तिसंपादनेनोपकार:कृत: तथा प्रपालिकयापि, पानीयव्याजेन चिरं स्वमुखावलोकनमभिलषत: पथिकस्य धारातनूकरणाश्चिरं पानीयपानानुवृत्ति संपाद-नेन उपकार: कृत: ।"

—कुवलयानन्द, पृ० १६८-६६

१. मर्मप्रकाश, रसगंगाधर, पृ० ६१३-६४

विशेष

विशेष का भी निरूपण सर्वप्रथम रुद्रट ने ही प्रस्तुत किया। उन्होंने कहा कि सारे आधेय पदार्थों का कोई न कोई आधार होता है, अत: यदि कवि आधेय के बिना आधार का वर्णन करे, तो विशेष होता है।[१] जहां एक ही आधेय की, अनेक आधारों में विद्यमानता वर्णित की जाय, वह दूसरा विशेष होता है।[२] जहां कर्ता किसी कार्य को करता हुआ, किसी दूसरे अशक्य कार्य को कर ले और इसे काव्य का वर्ण्य विषय बनाया जाय, तो वहां अन्य विशेष जानना चाहिए।[३] मम्मट, रुय्यक, विश्वनाथ और अप्पय ने इस भेदव्यवस्था को स्वीकार किया।[४]

पण्डितराज प्राचीनों के अभिमत के रूप में रुद्रट के लक्षण को ही उपस्थित किया है :-

" प्रसिद्धमाश्रयं विना आधेयं वर्ण्यमानमेको विशेषप्रकार: । यच्चैक-माधेयं परिमितयत्किंचिदाधारगतमपि युगपदनेकाधारगततया वर्ण्यते, सोऽपर: प्रकार: । यच्च किंचित्कार्यमारभमाणस्यासंभाविताशक्यवस्त्वन्तरनिर्वर्तनं स तृतीयो विशेषप्रकार: । एवं चैतदन्यतमत्वं विशेषालंकारसामान्य लक्षणम् ।[५]

---

१. " किंचिदवश्यामाधेयं यस्मिन्नभिधीयते विनाधारम् ।
तादृगुपलभ्यमानं विज्ञेयोऽसौ विशेष इति ।। "

२-" यत्रैकस्मिन्नाधारे वस्तु विद्यमानतया ।
युगपदभिधीयते ऽसावत्रान्य: स्याद्विशेष इति ।। "

— काव्यालंकार—६।५

३. " यत्रान्यत् कुर्वाणो युगपत्कार्यान्तरं च कुर्वीत ।
कर्तुमशक्यं कर्ता विज्ञेयोऽसौ विशेषोऽन्य: ।। "

— काव्यालंकार —६।६ (अगले पृष्ठपर)

पण्डितराज ने रुद्रट के द्वितीय लक्षण में आये `युगपद` पद का प्रयोजन स्पष्ट कर दिया कि इससे `पर्याय` अलंकार में अतिव्याप्ति का कारण होता है, क्योंकि वहां एक आधेय अनेक आधार में वर्णित होता है, पर एक साथ नहीं, अपितु क्रम से । इसके अतिरिक्त `तीनों में अन्यतम होना --यह एक सामान्य लक्षण भी कह दिया । इन प्रकारों में प्रथम पुन: दो प्रकार का है` (१) आधारान्तर में विद्यमानरूप में आधेय का वर्णन (२) निराधार रूप में आधेय का वर्णन ।

प्रहर्षण-विषम संकर में अतिव्याप्ति :-- इस विशेष अलंकार का तीसरा भेद अर्थात् किसी कार्य के आरंभ का अशक्य, असंभावित अन्य वस्तु में निर्वर्तन` प्रहर्षण और विषम के संकर में [१] अतिव्याप्त होता है । इसका उत्तर प्राचीन आचार्यों के अनुसार यह है कि` असंभावित , अशक्य वस्तु के निवर्तन के साथ, ` अशक्य वस्तु का अभेदाध्यवसान जिसका मूल हो` --यह विशेषण भी लगाना चाहिये । इस संकर में अभेदाध्यवसान होता नहीं, अत: अतिव्याप्ति न होगी ।[२]

अतिशयोक्ति आदि के गतार्थ नहीं :-- विशेषालंकार के यह तृतीय भेद का अतिशयोक्ति सेभी गतार्थ नहीं होता क्योंकि यहां विषय का विषयी द्वारा निगरण नहीं होता । न तो रूपक से गतार्थ होता है, क्योंकि विषय और विषयी की समानाधिकरणता न होने से आरोप नहीं संपन्न होता । न तो` स्मरण` के द्वारा गतार्थ है, क्योंकि` अशक्य अन्य वस्तु` स्मरण` का कर्म नहीं होता, अत:

पिछले पृष्ठ का शेष -- ४. (क) काव्यप्रकाश, १०।१३५-३६

(ख) अलंकारसर्वस्व, पृ० १७१

(ग) साहित्यदर्पण-१०।६६

(घ) कुवलयानन्द, पृ० १६६-१७१

५. रसगंगाधर, पृ० ६१४

---

१. `लाभादराटिकानां विक्रेतुं तक्रमानिशमटन्त्या ।
लब्धो गोपकिशोर्या मध्येरथ्यं महेन्द्रनीलमणि: ।।` --रसगंगाधर, पृ० ६१५

२. रसगंगाधर, पृ० ६१५-१६

विशेषालंकार का तृतीय भेद उदाहरण है । यह प्राचीनों का आशय है ।

नवीनाभिप्राय :— इसे पण्डितराज ने कहा कि विशेषालंकार का कोई सामान्यलक्षण है नहीं, जिससे उसके अन्तर्गत मान कर हम 'अशक्य अन्य वस्तु के निवर्तन' को उसका एक भेद मानें, 'उन तीन में से अन्यतमत्वं' सामान्यलक्षण नहीं कहा जा सकता, क्योंकि ऐसे तो इसे किसी अन्य अलंकार का भेद भी आसानी से कहा जा सकता है । अत: अनुगत लक्षण के अभाव के इस पृथक् अलंकार की कहना चाहिये :—

' विशेषणालंकारस्यायं प्रभेद इति कथं विज्ञायते । न हि रूपकादिवदलंकारस्यास्य किंचित्सामन्यिलक्षणाप्यस्ति, येन तदाक्रान्तत्वेनाशक्यवस्त्वन्तरकरणत्वस्य तत्प्रकारतामभ्युपगच्छेम ।नचान्यतमत्वमेव तथाविधमस्तीति वाच्यम्, अनेनैव प्रकारेणेतरालंकारभेदत्वस्यापि सुवचत्वात् । अनुगलक्षणं विना प्राचीनोक्तिराज्ञामात्रमेवेराज्ञामिति तदेपक्षया पृथगलंकारतोक्तिरेव रमणीया ।'[1]

पंडितराज के इस विवेचन का इतना गहरा प्रभाव पड़ा कि 'विशेष' अलंकार में उन सारे अलंकारों को समाविष्ट कर के एक सामूहिक नाम दिया गया । जिनकी पृथक् अवस्थिति वांछित नहीं थी । नागेश ने अनुज्ञा और लेश को इसी में अन्तर्भूत कर दिया ।[2] प्रकारान्तर से यह विशेषालंकार के सामान्य लक्षण की अननुगतता का स्वीकार ही था ।

---

१. रसगंगाधर, पृ० ६१६

२. बालबोधिनी में उद्धृत, काव्यप्रकाश, पृ० - ७४१

व्याघात

रुद्रट ने व्याघात नामसे एक अलंकार का सर्वप्रथम उल्लेख किया,[1] किन्तु वह विवेच्य अलंकार से सर्वथा भिन्न है। सर्वप्रथम मम्मट ने कहा — " जिस उपाय से जो एक के द्वारा बनाया गया, अन्य जिगीषु द्वारा उसी कारण से वह अन्यथा कर दिया जाय, तो साधितवस्तु में व्याघात के कारण व्याघात अलंकार कहलाता है।"[2] रुय्यक ने अन्य व्याघात का भी निरूपण किया कि किसी कार्य को निष्पन्न करने के लिये संभावित कारण विशेष, जहां विरुद्ध कार्य का संपादन करता है, वहां व्याघात अलंकार होता है।[3] विश्वनाथ[4] और अप्पय ने[5] रुय्यक का अनुसरण किया। पण्डितराज ने भी अपने लक्षण में रुय्यक का ही अनुगमन किया है :—

" यत्र एकेन कर्त्रा येन कारणेन कार्यं किंचिन्निष्पादितं निष्पिपादयिषितं वा तदन्येन कर्त्रा तेनैव कारणेन तद्विरुद्धकार्यस्य निष्पादनेन निष्पिपादयिषया वा व्याहन्यते स व्याघात: ।।"[6]

अर्थात् एक कर्ता ने जिस कारण से कोई कार्य बनाया हो अथवा बनाना चाहा हो, वह कार्य दूसरे कर्ता द्वारा उसके कारण से उसके विरुद्ध कार्य के निष्पादन या निष्पादनेच्छा से व्याहत किया जाय तो व्याघात अलंकार होता है।

---

१. काव्यालंकार — ६।५२

२. काव्यप्रकाश, पृ० ७५८

३. अलंकारसर्वस्व, पृ० १७१-७३

४. साहित्यदर्पण, १०।६७-६८

५. कुवलयानन्द, पृ० १७२-७३

६. रसगंगाधर, पृ० ६१७

इस व्याघात में पूर्वकर्ता की अपेक्षा अन्य कर्ता में वैलक्षण्य प्रतीत होती है, यह वैलक्षण्य उसकी श्रेष्ठता का रूप होता है। श्रेष्ठता की प्रतीति से व्यतिरेकसिद्धि इसका फल है। 'कर्ता' से तात्पर्य यहां कार्य के उद्देश्य से प्रवर्तमान ही है।

पण्डितराज ने 'दृशादग्धम्' इत्यादि मम्मट और रुय्यक द्वारा प्रदत्त उदाहरण में व्यतिरेक ही माना। इसी प्रकार अप्पय के उदाहरण को भी ठीक नहीं माना।[1]

विरोधमूलक अलंकारों का उपसंहार --

व्याघात के निरूपण के साथ पण्डितराज ने विरोधमूलक अलंकारों का विवेचन समाप्त किया। श्लेष, अतिशयोक्ति आदि उपायों द्वारा उन्मीलित और किसी अंश में अभेदाध्यवसान सेआरम्भ मात्र में प्रादुर्भावित विद्युत् की चमक सा अनुवृत्तिरहित और विच्छित्तिमात्र विरोध 'विरोधाभास' से लेकर 'व्याघात' तक निरूपित किया गया है।

इनका भेद -- कुछ विद्वानों के अनुसार इनमें भिन्न-भिन्न वैचित्र्य रहने पर भी ये विरोधमूलक अलंकार विरोधाभास के ही भेद हैं। इनमें वही अन्तर है, जो सोने और उससे बने कंकण में।

किन्तु यह सिद्धान्त मानने पर सादृश्यमूलक रूपक, दीपक आदि अलंकार उपमा के ही भेद हो जायेंगे, अत: यह मानना चाहिये कि इनमें परस्पर छायामात्र का अनुसरण है, किन्तु चमत्कार भिन्न भिन्न है, अत: ये सब पृथक् पृथक् ही अलंकार हैं :-

" ते नानारूपं वैचित्र्यं भजन्तो विरोधाभासस्यैव प्रभेदा: , न तु ततोतिरिक्त: कांचनस्यैव कंकणादय: इत्येके। रूपक-दीपकादीनामपि प्यगभणिामुपमाभेदत्वापत्तेबहुर्णायकुलीस्यादिति परस्परच्छायामात्रनुसारिणो भिन्न विच्छित्त्यो भिन्न एवेत्यपरे।"[2]

---

1. रसगंगाधर, पृ० ६१९
2. ,, पृ० ६२०

शृंखला

शृंखला :– शृंखलामूलक अलंकारों के विवेचन के पूर्व पण्डितराज शृंखला को इस प्रकार परिभाषित करते हैं :–

पंक्तिरूपेण निबद्धानामर्थानां पूर्वपूर्वस्योत्तरोत्तरस्मिन् उत्तरोत्तरस्य वा पूर्वपूर्वस्मिन् संसृष्टत्वं शृंखला ।[1]

अर्थात् पंक्तिरूप से निबद्ध अर्थों का पूर्व-पूर्व का उत्तरोत्तर में अथवा उत्तरोत्तर का पूर्व पूर्व में संसृष्टत्व शृंखला कहलाता है । कुछ विद्वानों के अनुसार यह संसृष्टता कार्य-कारण, विशेषण-विशेष्यआदि नानारूप में होती है । जैसे रूपक आदि में अभेदांश या समानधर्मांश अनुप्राणक रूप से रहने पर भी पृथक् अलंकार नहीं होता है, उसी तरह शृंखला भी पृथक् अलंकार नहीं है । अन्य लोगों के मत से तब तो सावयवादि भेदों से रूपक और पूर्णा, लुप्ता आदि भेदों से उपमा आदि अलंकार भी गतार्थ हो जायेंगे, अत: वे स्वतंत्र अलंकार न माने जा सकेंगे, क्योंकि विशेष से सर्वथा युक्त सामान्य होता ही नहीं, अत: कारण-मालादि शृंखला के भेद हैं ।[2]

किन्तु वास्तविक बात यही है कि शृंखला विषयक अलंकारों की विच्छित्ति की विलक्षणता अनुभवसिद्ध होने से वे पृथक अलंकार हैं और शृंखला विरोध, अभेद और साधर्म्य की ही भांति अनुप्राणक है । तब तो, पूर्णा,लुप्ता भेद आदि से उपमा आदि की गतार्थता की आपत्ति नहीं उठायी जा सकती, क्योंकि उपमा की विच्छित्ति ही उन भेदों में होती है, उन भेदों की विलक्षण विच्छित्ति नहीं है :–

---

१. रसगंगाधर, पृ० ६२०

२. ,, पृ० ६२०

'एवं शृंखलाविषयाणामलंकाराणां विच्छित्तिवैलक्षण्यस्यानुभवसिद्धत्वात्पृथगलंकारत्वेसिद्धे शृंखलाया विरोधाभेदसाधर्म्यादिवदनुप्राणकत्वेवौचिता, पृथगलंकारता । तथात्वे भेदादीनामपि पृथगलंकारितापत्तेः । पूर्णालुप्तादौ तु न विच्छित्तिवैलक्षण्यम्, अपि तूपमाविच्छित्तेव संप्रदायः ।' [१]

'विच्छित्ति' का अर्थ है — अलंकारों के परस्पर विच्छेद अर्थात् विलक्षणता की कारणभूत, जन्यतासंसर्ग से काव्यनिष्ठ, कविप्रतिभा अथवा तज्जन्यत्वप्रयुक्ता चमत्कारिता ~~विच्छित्तिः~~ ।:—

'अलंकाराणां परस्परविच्छेदस्य वैलक्षण्यस्य हेतुभूता जन्यतासंसर्गेण काव्यनिष्ठा कविप्रतिभा, तज्जन्यत्वप्रयुक्ता चमत्कारिता वा विच्छित्तिः'।

---

१. रसगंगाधर, पृ० ६२७, तुलनीय — 'न पुनः शृंखलैवैकोऽलंकारः । एवं हि साधर्म्यमविप्येक अलंकारः स्यात् । न ह्यु प्रमादिषु साधर्म्यपरिहारेण प्रत्येकं कश्चिद्विच्छित्तिविशेषसंभवः येनालंकारभेदः स्यात् ।'

विमर्शिनी, पृ० १७६

कारणमाला

शृंखलामूलक अलंकारों में प्रथम कारणमाला को प्रस्तुत करते हुए पण्डितराज ने लक्षण लिखा :—

सैव शृंखला आनुगुण्यस्य कार्यकारणभावरूपत्वे कारणमाला ।[1]

अर्थात् वही शृंखला अनुगुणता अर्थात् संपृष्टता के कार्यकारणभावरूप होने पर कारणमाला कहलाती है । इसके दो भेद हैं —(१) जहां पूर्व पूर्व कारण तथा पर-पर कार्य हो (२) पूर्व-पूर्व कार्य, पर-पर कारण हों ।

इसका सर्वप्रथम निरूपण रुद्रट ने किया । मम्मट और रुय्यक कारणमाला वहां मानते हैं, जहां पूर्ववर्णित पदार्थ उत्तरवर्णित पदार्थ का कारण हो, किन्तु जयरथ[2] जयदेव,[3] अप्पय [4] वहां भी मानते हैं, जहां उत्तर-वर्णित पदार्थ पूर्ववर्णित पदार्थ के हेतुरूप में उपनिबद्ध हों ।

पण्डितराज का मत है कि जिन शब्दों के पूर्व में प्रयोग हों, उन्हें ही उत्तर में प्रयुक्त करना चाहिये, अन्यथा भग्नप्रक्रमदोष हो जायगा :—

"सर्वथैव य: शब्द: कार्यकारणतोपस्थापक आदौ प्रयुक्त: स एव निर्वाह्य: । एवंक्रमेण निबन्धनमाकांक्षानुरूपत्वाद् रमणीयम् । अन्यथा तु भग्नप्रक्रमेस्यात् ।।" [5]

---

१. रसगंगाधर, पृ० ६२१

२. "क्वचिद्विपर्ययेणापि भवति । यथा माणो गुणोहि.... । इति अत्रहि पूर्वस्योत्तरोत्तर कारणतयोपनिबद्धम् ।" — विमर्शिनी, पृ०- १७७

३. चन्द्रालोक, ५।८७

४. कुवलयानन्द, पृ० १७५

५. रसगंगाधर, पृ० ६२१

आशय यह है कि जिस रूप में और जिस पद द्वारा आकांक्षा का उत्थान हो उसी रूप में और उसी पद द्वारा आकांक्षा की पूर्ति अपेक्षित है।

एकावली

पण्डितराज ने इसका लक्षण लिखा:—

"सैव शृंखला संसर्गस्य विशेष्यविशेषणभावरूपत्वे एकावली ।"[1]

अर्थात् पूर्वोक्त शृंखला ही संसर्ग के विशेषणविशेष्यभावरूप होने पर एकावली कहलाती है । एकावली दो प्रकार की होती है (१) पूर्व-पूर्व के उत्तरोत्तर के प्रति विशेष्य होने पर (२) पूर्व पूर्व के उत्तरोत्तर के प्रति विशेषण होने पर. । इनमें से प्रथम भेद में विशेषण स्थापक और अपोहक — दो प्रकार का होता है । स्थापक अर्थ का अर्थ है, अपने संबन्ध द्वारा विशेष्य तावच्छेदक का नियामक होना और अपोहक का अर्थ है, अपने व्यतिरेक द्वारा विशेष्यतावच्छेदक के व्यतिरेक का बोध उत्पन्न करने वाला ।[2] एकावली का भी सर्वप्रथम निरूपण रुद्रट[3] ने किया । मम्मट,[4] रुय्यक,[5] अप्पय[6] ने भी इसे विवेचित किया ।

एकावली और मालादीपक :— एकावली के द्वितीय भेद में पूर्व पूर्व के द्वारा उत्तरोत्तर का जो उपकार किया जाता है, वह यदि भिन्न रूप न हो कर एक रूप हो, तो एकावली के इसी भेद को प्राचीनों ने मालादीपक कहा है । दण्डी,[7] मम्मट,[8] रुय्यक,[9] और विश्वनाथ[10] आदि ने इसका विवेचन किया है ।

---

१. रसगंगाधर, पृ० ६२४

२. "स्वसम्बन्धेन विशेष्यतावच्छेदकनियामकत्वंस्थापकत्वं, स्वव्यतिरेकेण विशेष्यतावच्छेदव्यतिरेकबुद्धिजनकत्वमपोहकत्वम् ।" —रसगंगाधर, पृ० ६२४

३. काव्यालंकार— ७।१०६

४. काव्यप्रकाश, १०।१३१

५. अलंकारसर्वस्व , पृ० १७७

६. कुवलयानन्द, पृ० १७५-७६

७. काव्यादर्श— २।१०८

८. काव्यप्रकाश—१०।१०४

९. अलंकारसर्वस्व, पृ० १७८

१० साहित्यदर्पण, — १०।६६

माला` का अर्थ शृंखला और दीप इव` व्युत्पत्ति के अनुसार `दीपक` का अर्थ` दीप के समान एक स्थान पर रहते हुए सब का उपकार करने वाला ।` इसका आशय है कि एकदेशस्थसर्वोपकारक क्रियादि से युक्त शृंखला मालादीपक कहलाती है । अत: जिस शृंखला को एक ही धर्म शोभित करे वह मालादीपक है ।

किन्तु पण्डितराज का मत है कि `मालादीपक` का वस्तुत: `दीपक` से कोई सम्बन्ध नहीं है, क्योंकि दीपक के गर्भ में सादृश्य रहता है, किन्तु यहां शृंखला के अवयवभूत पदार्थों में परस्पर सादृश्य ही नहीं है । शृंखला में आये पद प्रकृताप्रकृत रूप भी नहीं होते । अत: दीपक और एकावली के योग में `मालादीपक` कहने वाले अप्पय का कथन भी भ्रान्ति ही है ।[१]

---

१. रसगंगाधर, पृ० ६२५

सार

वही शृंखला संसर्ग के उत्कृष्टापकृष्टत्वरूप होने पर 'सार' कहलाती है- 'सैव संसर्गस्योत्कृष्टापकृष्टभावरूपत्वे सार:।'[1]

सार दो प्रकार का होता है — (१) पूर्व-पूर्व की अपेक्षा उत्तरोत्तर के उत्कृष्ट होने पर (२) पूर्व पूर्व की अपेक्षा उत्तरोत्तर के अपकृष्ट होने पर। इसके पुन: दो भेद हैं --(१) एक विषयक (२) अनेकविषयक।

सार की उद्भावना रुद्रट[2] ने ही की। उन्हीं के आधार पर मम्मट,[3] रुय्यक[4] आदि ने भी इसका विवेचन किया।

सार की शृंखलारूपता:— एक विषय में शृंखला सुन्दर नहीं होती, क्योंकि शृंखला स्वाभाविक भेद की अपेक्षा रखती है, अत: ऐसी शृंखला से अनुप्राणित सार सुन्दर नहीं होता। अत: सार को शृंखला का एकमात्र विषय न मानकर इसके एक भेद को शृंखला से अनुप्राणित मानना चाहिये। अतएव अलंकारिकों ने एक ही वस्तु के रूप और धर्म के द्वारा आधिक्य में 'वर्धमानक' अलंकार माना है। इसीलिये पण्डितराज 'सार' का लक्षण यह उचित माना है :—गुणस्वरूपाभ्यां पूर्वपूर्व वैशिष्ट्ये सार:' अर्थात् गुण या स्वरूप द्वारा पूर्व-पूर्व की अपेक्षा उत्तरोत्तर के विशिष्ट रहने पर सार अलंकार होता है।' यह सार कहीं शृंखला से अनुप्राणित और कहीं स्वतंत्र होता है।[5]

इस प्रकार शृंखलामूलक अलंकारों के विवेचन में पंडितराज ने जयरथ से प्रभावित रूप में प्रथमत: दो शृंखला का ही विवेचन किया। कारणमाला, एकावली और मालादीपक तथा सार की शृंखलारूपता के सम्बन्ध में विवेचन कर नवीन मान्यताएं प्रदान कीं।

---

१. रसगंगाधर, पृ० ६२६
२. काव्यालंकार—७।९६
३. काव्यप्रकाश, पृ० ७१३
४. साहित्यदर्पण, पृ० ३५६
५. रसगंगाधर, पृ० ६२७

काव्यलिङ्ग

पण्डितराज ने काव्यलिंग को परिभाषित करते हुए कहा :-

`अनुमितिकरणत्वेन सामान्यविशेषाभ्यां चानालिङ्गित: प्रकृतार्थोपपादकत्वेन विवक्षितो र्थ: काव्यलिङ्गम् ।` [१]

अर्थात् जो अर्थ प्रकृत अर्थ के उपपादक के रूप में विवक्षित हो, किन्तु अनुमिति की कारणता से और सामान्यविशेषभाव से अस्पृष्ट हो, वह काव्यलिंग कहलाता है। यहां `उपपादकता` का अर्थ प्रकृतनिश्चय के उत्पादक ज्ञान का विषय होता है। इस लक्षण में `अनुमितिकरणत्वेन अनालिङ्गित:` -यह सन्निवेश अनुमान अलंकार में अतिव्याप्ति वारण के लिये है, क्योंकि वहां अर्थ अनुमिति का सबसे बड़ा साधक होता है, और `सामान्यविशेषभावापन्न अर्थान्तरन्यास मे अति-व्याप्ति-वारण के लिये है। उपमादि में अतिव्याप्ति वारण के लिए `उपपादक` शब्द है। `हेतु` अलंकार में हेतु व्याकरण द्वारा निश्चित पंचम्यन्त आदि पदों से ही प्रतिपादित होता है, अत: उसके निवारणार्थ उपपादक के रूप में विवक्षित`- यह सन्निवेश किया गया।

काव्यलिंग का भेदप्रकार निम्नलिखित है —

१. रसगंगाधर, पृ० ५२८
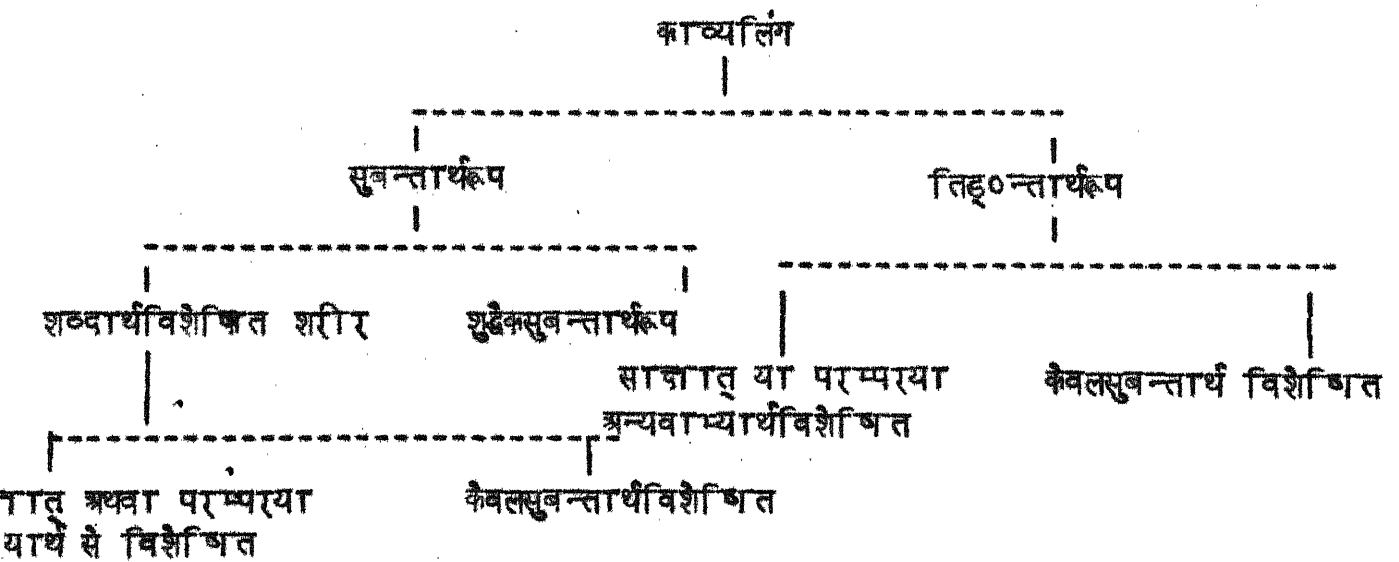
इसमें तिङन्तार्थरूप काव्यलिंग का शुद्ध भेद तो असंभव है, क्योंकि कोई भी क्रिया कारक से अवश्य ही विशेषित होती है।[१] काव्यलिंग का सर्वप्रथम निरूपण, उद्भट ने किया।[२] मम्मट,[३] रुय्यक,[४] विश्वनाथ,[५] अप्पय्य[६] आदि ने भी इसका विवेचन किया।

काव्यलिंग और अनुमान में भेद :- काव्यलिंग और अनुमान का अन्तर स्पष्ट करने के लिये पण्डितराज ने पूर्वपक्ष उद्भावित कर अपना उत्तर दिया कि काव्यलिंग प्रस्तुत वस्तु का उपपादक होता है और उपपत्ति भी अनुमिति ही है, क्योंकि काव्यलिंग का हेतु व्यभिचारी हो, तथापि उस समय व्यभिचार की स्फूर्ति नहीं होती। फिर भी यह अनुमान अलंकार से भिन्न है। अनुमान अलंकार वहां होता है जहां कवि, श्रोता को यल्लिंगक-अनुमितिबोध कराने की इच्छा से, काव्य रचता है, वहीं लिंग वाला काव्य हो। आशय यह है कि जिस काव्य में अनुमान की प्रणाली से हेतु का ज्ञान श्रोता को प्रतीत हो, उसी के द्वारा अनुमिति का वर्णन हो, वहां अनुमानालंकार होता है, और काव्यलिंग ज्ञानजन्य अनुमिति का बोध श्रोता को कराना कवि का इष्ट नहीं होता। अतएव यहां अनुमिति काव्यव्यापार का विषय नहीं होती :-

" श्रोतुर्यल्लिङ्गकानुमितिबुबोधयिषया कविःकाव्यं निर्मिमीते तल्लिङ्गकानुमानालंकृतेर्विषयः, काव्यव्यापारगोचरीभूतानुकरणामिति निष्कर्षः काव्यलिङ्गज्ञानजानुमितिस्तु न कविना श्रोतुर्बुबोधयिषिता। अतएवासौ न काव्य-व्यापारगोचरः।"[७]

---

१. रसगंगाधर, पृ० ५२८

२. काव्यालंकार सार संग्रह, ६।१६

३. मम्मट, पृ० ६७७

४. अलंकारसर्वस्व, पृ० १८१

५. साहित्यदर्पण, पृ० ३४७

६. कुवलयानन्द, पृ० १६५

७. रसगंगाधर, पृ० ६३१

अनुमिति और काव्यलिंग का सबसे बड़ा अन्तर तो यह है कि कविनिबद्ध किसी अन्य प्रमाता (ज्ञाता) में रहने वाली अनुमिति अनुमानालंकार बनाती है और महावाक्यार्थनिश्चय के अनुकूल श्रोतृनिष्ठ अनुमिति काव्यलिंग का विषय है --

' अपिच कविनिबद्धप्रमात्रान्तरनिष्ठा ह्यनुमितिरनुमानालङ्कृतिं प्रयोजयति । श्रोतृनिष्ठामहावाक्यार्थनिश्चयानुकूला तु काव्यलिङ्गमिति महान्-विशेष: ।' [1]

अप्पय और रुय्यक का खंडन:-- अप्पय ने 'समनीय अर्थ के समर्थक को काव्यलिंग बताया । उन्होंने रुय्यक के उदाहरणों में [2] काव्यलिंग का समर्थन भी किया, किन्तु पण्डितराज इन दोनों बातों से सहमत नहीं हैं । अनुमान और अर्थान्तरन्यास के विषय में काव्यलिंग प्रवृत्त नहीं होता, अन्यथा उनका उच्छेद ही हो जायगा । रुय्यक के उदाहरणों को पण्डितराज ने अनुमान अलंकार का उदाहरण ही माना । [3]

काव्यलिंग की अलंकारता :- पण्डितराज ने इस मत को भी रखा है कि काव्यलिंग अलंकार ही नहीं है, क्योंकि इसमें वैचित्र्यरूप 'विच्छित्तिविशेष' का अभाव है । जन्यता संसर्ग से कवि का प्रतिभाविशेष' अथवा ' कविप्रतिभा से निर्मितता के कारण होने वाला चमत्कारविशेष' -- विच्छित्ति के दो रूपों में से कोई भी यहां संभव नहीं है क्योंकि हेतुहेतुमद्भाव काव्यलिंग है और वह वस्तुसिद्ध अर्थात् स्वभावसिद्ध धर्म है, उसमें कविप्रतिभानिर्मितता' सम्बन्ध है ही नहीं, तो चमत्कृति कहां से होगी --

' हेतुहेमद्भावस्य वस्तुसिद्धत्वेन कवि प्रतिभानिर्वर्त्यायोगात् । अतएव चमत्कृतिरपि दुर्लभा ।' [3]

श्लेषादि के संमिश्रण से 'विच्छित्ति विशेष' मान कर काव्यलिंग नहीं कह सकते, क्योंकि उस विच्छित्ति का कारण श्लेषादि होंगे । जहां उप-

---

1. रसगंगाधर, पृ० ६३१-३२
2. अलंकारसर्वस्व, पृ० १८२
3. रसगंगाधर, पृ० ६३३

स्कारक की अपेक्षा उपस्कार्य की विच्छित्ति हो, वहां तो उपस्कारक की अपेक्षा उपस्कार्य की पृथगलंकारता ठीक है, यहां कैसे ठीक हो सकती है ?

अत: प्राचीनों के माने गये बहुत अलंकारों के बारे में अनलंकारता माननी पड़ सकती है, किन्तु ये विद्वान् तब भी यही सिद्धान्त स्वीकार करते हैं और काव्यलिंग निर्हेतु को दोषाभाव रूप ही मानते हैं —

एवं तर्हि बहूनामलंकारत्वेन प्राचीनैरङ्गीकृतानामलंकारतापत्तिरिति-चेत्, अस्तु किन्नश्छिन्नम्। तस्मात् निर्हेतुरूपदोषाभाव: काव्यलिंगम् इत्यपि वदन्ति।" [१]

---

१. रसगंगाधर, पृ० ६३४

अर्थान्तरन्यास

अप्रस्तुत को प्रस्तुत के समर्थक रूप में उपस्थित करना ही अर्थान्तर-न्यास है। इसमें संभाव्यमान अर्थ की उपपत्ति के लिये अर्थान्तर उपन्यस्त होता है।[1] इस अलंकार में सामान्य के द्वारा विशेष और विशेष के द्वारा सामान्य का समर्थन होता है। प्राय: जब सामान्य प्रस्तुत होता है, तो विशेष अप्रस्तुत और विशेष प्रस्तुत होता है तो सामान्य अप्रस्तुत। इसमें हमेशा प्रकृत समर्थ्य और अप्रकृत समर्थक होता है। इस सारी दृष्टि के साथ पण्डितराज ने इसका लक्षण लिखा ——

'सामान्येन विशेषस्य विशेषणेनसामान्यस्य वायत्समर्थनं तदर्थान्तरन्यास:।'[2]

यहां समर्थन का अर्थ है —' यह ऐसा होगा या ऐसा न होगा '— इस सन्देह की प्रतिबन्धिका —' यह ऐसा ही है' — यह दृढ़प्रतीति।

समर्थ्यसमर्थकभाव का द्योतन हि, यत् यत: आदि शब्दों द्वारा होता है, कभी-कभी इन शब्दों का अभाव भी रहता है। भामह ने इस आधार पर विभाजन किया है।[3] उन्हीं के अनुसार उद्भट ने भी विभाजन किया।[4] किन्तु इस प्रकार अनेक भेद होते और इन भेदों में विच्छित्ति के अभाव के कारण

---

१. नागेश, काव्यप्रकाश—बालबोधिनी में उद्धृत है, पृ० ६६१

२. रसगंगाधर, पृ० ६३४

३. काव्यालंकार—२।७१-७४

४. उद्भट

इस वर्गीकरण का खण्डन किया ।[1] पण्डितराज ने शब्द और अर्थ दोनों प्रकार के `समर्थ्यसमर्थकभाव` को अलंकार का निमित्त माना, न कि काव्यलिंग की तरह केवल शब्द को इस प्रकार उन्होंने एक ऋजुमार्ग दिखा दिया ।

मम्मट और पण्डितराज ने सामान्य का विशेष और विशेष का सामान्य के समर्थन साधर्म्य और वैधर्म्यमूलक मानकर अर्थान्तरन्यास के चार भेद माने रुय्यक और विश्वनाथ ने कारणों से कार्य और कार्य से कारण के समर्थन का साधर्म्य और वैधर्म्य में मान कर चार और भी भेद स्वीकार किये, किन्तु इस मत का खण्डन जयरथ,[2] पण्डितराज और नागेश ने [3] किया । पण्डितराज ने कहा —

`यत्तु कारणेन कार्यस्य कार्येण वा कारणस्य समर्थनम्` इत्यपि भेदद्वयम् अर्थान्तरन्यासस्यालंकारसर्वस्वकारो न्यरूपयत्, तन्नुनस्य काव्यलिंग-विषयत्वात् । अन्यथा `वपु: प्रादुर्भावात्` इति सकलालंकारिकसिद्धं काव्यलिङ्गोदाहरणमसङ्गतं स्यात् ।`[4]

अलंकारान्तर से भेद— पण्डितराज ने अर्थान्तरन्यास के अनुमान से विभेद को स्पष्ट करते हुए काव्यलिंग अलंकार के प्रकरण में दिये स्पष्टीकरण का ही आधार लिया । अर्थात् अर्थान्तरन्यास में भी `कविनिबद्ध ज्ञाता में रहने वाली अनुमिति नहीं रहती, क्योंकि यहां कविनिबद्ध ज्ञाता का वर्णन ही नहीं रहता, अत: यहां अनुमानालंकार का प्रसंग नहीं है ।

उदाहरणालंकार से भी अर्थान्तरन्यास भिन्न है, क्योंकि वहां इवादि का प्रयोग होता है, यहां नहीं । इसे आर्थ उदाहरणालंकार भी नहीं

---

१. अलंकारसर्वस्व, पृ० १३६

२. विमर्शिनी, पृ० १३६

३. काव्यप्रकाश—बालबोधिनी द्रष्टव्य—पृ० ६६३-६५

४. रसगंगाधर, पृ० ६३८

कह सकते, क्योंकि उदाहरण में सामान्यार्थ के समर्थक विशेष्य वाक्य में केवल अनुवाद्य अंश से विशेषता होती है और विधेयांश सामान्यगत ही रहता है और अर्थान्तरन्यास के भेद में अनुवाद्य और विधेय -- दोनों अंशों में विशेषता होती है :--

"सामान्यार्थसमर्थकस्य विशेषवाक्यार्थस्य द्वयी गतिः । अनुवाद्यांशमात्रे विशेषत्वम् , विधेयांशस्तु सामान्यगत एवेत्येका ।^लंकारस्य विषयः नित्तीया तु अर्थान्तरन्यास भेदस्य ।"[1]

समर्थ्यसमर्थकक्रम :-- अर्थान्तरन्यास में समर्थनीय और समर्थक वाक्यों के क्रम में वैपरीत्य होने पर भी कोई दोष नहीं होता । प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय और निगमन - अनुमान के इस पंचावयव वाक्य में आकांक्षावश जैसे क्रम आवश्यक है, वैसा अर्थान्तरन्यास में आवश्यक नहीं है क्योंकि यहां यह नियम नहीं है कि 'समर्थनीय' की अनुपपत्ति से उत्थापित आकांक्षा हो, तभी 'समर्थक' का कथन हो

"हि प्रतिज्ञाहेत्ववयवोरिवाकांक्षामात्र प्राप्तं समर्थ्यसमर्थक वाक्ययोः पावपिर्य न मन्तव्यम् । न ह्यत्रसमर्थ्यानुपपत्युत्थापिताकांक्षायां सत्यमिववाभिधीयत इति नियमः ।"[2]

पण्डितराज ने जयदेव और अप्पय द्वारा प्रतिपादित 'विकस्वरालंकार' की गतार्थता भी बतायी । यह वहीं होता है, जहां दो अर्थान्तरन्यासों या उपमा एवम् अर्थान्तरन्यास की संसृष्टि होती है, अतः इसे नवीन अलंकार मानना उचित नहीं, अन्यथा उपमा आदि में जहां अनेक स्थलों पर, परस्पर अनुग्राह्यानुग्राहकभाव रहता है, वहां भी नये अलंकार मानने पड़ेंगे ।[3]

पण्डितराज ने इस विवेचन में रुय्यक और विश्वनाथ द्वारा चलायी गयी एक गलत मान्यता का खंडन ही नहीं किया, अपितु अनुमान और उदाहरण से इसके अन्तर को स्पष्ट कर न्याय के 'पंचावयव' वाक्य से बोध की प्रक्रिया से अर्थान्तरन्यास प्रक्रिया को स्पष्ट कर दिया ।

----

1. रसगंगाधर, पृ० ६३६
2. ,, पृ० ६३७
3. ,, पृ० ६३८-४०

अनुमान

पण्डितराज ने अनुमान का लक्षण करते हुए पहले `अनुमिति` का ही लक्षण बताया --अनुमितिरूपी ज्ञान के कारण को अनुमान कहते हैं। `अनुमिति का अर्थ `अनुमितित्व धर्म से युक्त` है। इस प्रकार अनुमितित्व जाति है, उसका साक्षी है ` मैं अनुमान करता हूं` --यह साक्षात्कार अथवा व्याप्तिकारक पक्षधर्मनिश्चय जन्य ज्ञान को अनुमिति कहते हैं। इसका करण किन्हीं के अनुसार व्याप्तिप्रकारकलिंग (हेतु) निश्चय है और दूसरों के अनुसार व्याप्यत्वेन निश्चीयमान लिंग ।

यही अनुमान जब कवि की प्रतिभा से उल्लिखित होने के कारण चमत्कारी होता है, तो अनुमिति अलंकार कहलाता है --

` अस्य कविप्रतिभोल्लिखितत्वेन चमत्कारित्वेलंकारता ।` [1]

नैयायिकों के अनुमान से आलंकारिकों के अनुमान का स्वरूप दूसरा है। नैयायिक `अनुमान` की व्युत्पत्ति है` अनुमीयते अनेन` --जिससे अनुमान किया किया जाय। यहां`करण` अर्थ में` ल्युट्` प्रत्यय है। किन्तु आलंकारिक का अनुमान `स्वार्थ` में `घञ्` से निस्पन्न होता है --अनुमितेरेवानुमानम्।` यदि नैयायिक के सम्मत अर्थ` अनुमिति के करण को अनुमान ` मानें और करण का अर्थ ` ज्ञायमान लिंग` मानें, तो अलंकार केवल वाच्य में होगा और यदि `लिंगज्ञान` अर्थ लें तो वाच्य लक्ष्य दोनों रूपों में न हो सकेगा। अत: आलंकारिक दृष्टि से अनुमिति के `करण` को नहीं स्वयम् कवि प्रतिभा निर्मित अनुमिति को अलंकारत्व मानते हैं, फलत: वाच्य, लक्ष्य, व्यंग्य सभी अनुमिति हो पाती है।[2] अनुमिति का उल्लेख सर्वप्रथम रुद्रट ने किया और अन्य अलंकारिकों ने उसे माना।

---

१. रसगंगाधर, पृ० ६४०

२. ,, पृ० ६४२

यथासंख्य

यथासंख्य अत्यन्त प्राचीन अलंकार है । भामह ने उल्लेख किया है कि उनके पूर्ववर्ती आचार्य मेधावी इसे 'संख्यान' कहते हैं ।[1] भामह, साधर्म्यरहित अनेक पदार्थों के क्रमबद्धनिर्देश को 'यथासंख्य' मानते हैं ।[2] उद्भट ने इसी लक्षण का अनुकरण किया ।[3] दण्डी 'साधर्म्यरहित' विशेषण को छोड़ शेष भामह का ही अनुसरण करते हैं ।[4] वामन ने इसे 'क्रम' नाम दिया और उपमानोपमेय के क्रमिक वर्णन से संलग्न माना है ।[5] उद्भट और रुद्रट ने [6]दो या तीन असमान पदार्थों के अन्वय को भी यथासंख्या माना है । मम्मट,[7] रुय्यक,[8] विश्वनाथ [9] आदि ने भी इसी का अनुसरण किया । पण्डितराज ने इसी सरणि में लक्षण लिखा—

" उपदेशक्रमेणार्थानां सम्बन्धो यथासंख्यम् ।" [10]

अर्थात् नामग्रहण के क्रम से अर्थों का सम्बन्ध यथासंख्य है । रुय्यक ने समासरहित पदों का समास रहित पदों के आर्थ संबन्ध में शाब्द और समस्त वाक्य में समूह के साथ समूह के शब्दगत सम्बन्ध में आर्थ यथासंख्यमाना । पण्डित-राज भी इसे स्वीकार करते हैं ।

क्रम से अन्वयबोध पर विचार —यथासंख्य में क्रमिक अन्वयबोध के

---

१. काव्यालंकार, पृ० २।८८
२. ,, २।८९
३. काव्यालंकारसारसंग्रह, ३।
४. काव्यादर्श - २।२७३
५. काव्यालंकारसूत्रवृत्ति, ४।३।१७
६. काव्यालंकार
७. काव्यप्रकाश, पृ० ६६०
८. अलंकारसर्वस्व, पृ० १८७
९. साहित्यदर्पण, पृ० ३५६
१०. रसगंगाधर, पृ० ६४२

नियामक के सम्बन्ध में पण्डितराज ने दो मत रखे हैं —(१) योग्यताज्ञान ही नियामक है। (२) यथासंख्य पदार्थों का अन्यथा बोध होता ही नहीं, अत: बोध ही नियामक है।[1]

इसकी अलंकारता :— पण्डितराज कहते हैं कि यह अन्वयबोध चाहे जैसे हो, किन्तु इस लोकसिद्ध वस्तु में कविप्रतिभानिर्मितत्व की लेशमात्र भी उपलब्धि नहीं है, अत: यह पृथक् अलंकार नहीं है। यह क्रमभंग रूप दोष का अभाव मात्र है। अत: उद्भट मतानुयायियों का इसे पृथक् अलंकार मानना `कूटकार्षापण` सरीखा है और `क्रम` नाम से व्यवहार करते वामन के वचन की भी व्याख्या हो जाती है —

अतो पक्रमत्वंरूपदोषाभाव एव यथासंख्यम्। एवं चोद्भटमतानुयायिनामुक्तय: कूटकार्षापणावदाभणीया एव। एतेन यथासंख्यमेव `क्रमालंकार-संज्ञया व्यवहरतो वामनस्यापि गिरो व्याख्याता।`[2]

---

१. रसगंगाधर, पृ० ६४३-४४

२. ,, पृ० ६४४-४५

पर्याय

पण्डितराज ने पर्याय का लक्षण किया :—

"क्रमेणानेकाधिकरणकमेकमाधेयमेकः पर्यायः । क्रमेणाधेयकमेकाधिकरणमपरः ।" [1]

अर्थात् क्रम से अनेक अधिकरण वाला एक आधेय अथवा अनेक आधेय-वाला एक अधिकरण —इन दोनों में एक होना पर्याय है । इन दोनों लक्षण दलों में प्रथम के `क्रम` के सन्निवेश से विशेषालंकार में अतिव्याप्ति वारण होता है और द्वितीय दल में `क्रम` सन्निवेश से समुच्चय में अतिव्याप्तिवारण होता है ।

इस अलंकार का सर्वप्रथम रुद्रट ने उल्लेख किया । उन्होंने दो प्रकार के `पर्याय` का निरूपण किया, जिसमें दूसरा परवर्ती आचार्यों को मान्य हुआ[2]। आचार्य मम्मट ने इसे अनेक विषयक असंहत रूप आधार, अनेकविषयक संहतरूप आधार, अनेक विषयक असंहतरूप आधेय और अनेकविषयक संहतरूप आधेय — इन चार भेदों को बताया ।[3] रुय्यक ने भी यही माना ।[4] विश्वनाथ ने भी भिन्न प्रकार से चार भेद ही माने ।[5] पण्डितराज ने क्रम को आरोह-अवरोह रूप में मानकर चार भेद किया ।

पण्डितराज ने यह स्पष्ट कर दिया है कि जहां आधार, आधेय और उनके क्रम में कवि कल्पना की अपेक्षा हो, वहीं यह अलंकार होता है और सर्वांश में लोकसिद्धता हो वहां अलंकार नहीं होता ।[6]

----

१. रसगंगाधर, पृ० ६४५
२. काव्यालंकार, ७।४४
३. काव्यप्रकाश, १०।११७
४. अलंकार सर्वस्व, पृ० १८६
५. साहित्यदर्पण, १०।१०४
६. रसगंगाधर, पृ० ६४८

परिवृत्ति

पण्डितराज ने परिवृत्ति का लक्षण किया :—

परकीय यत् किंचिद्वस्त्वादानविशिष्टं परस्मैस्वकीययत्किंचिद्वस्तुसमर्पणाम् परिवृत्ति: । [१]

अर्थात् दूसरे की किसी वस्तु को लेने के सहित अपनी किसी वस्तु के दूसरे को समर्पित करने को परिवृत्ति कहते हैं । यह प्रथमत: सम और विषम भेद से दो प्रकार की है । इनमें प्रथम समपरिवृत्तिके भी दो भेद हैं —उत्तमों से उत्तमों की और न्यूनों से न्यूनों की । इसी तरह विषयपरिवृत्ति भी उत्तमों से न्यूनों और न्यूनों से उत्तमों की —दो प्रकार की होती है ।

पण्डितराजन की परिवृत्ति भामह से[२] पृथक नहीं है । दण्डी,[३] उद्-भट,[४] वामन,[५] मम्मट,[६] रुय्यक[७] और विश्वनाथ[८] भी इसका विवेचन करते हैं । पण्डितराज के वर्गीकरण में चार भेद मान कर कुछ नवीनता ला दी ।

---

१. रसगंगाधर, पृ० ६४८

२. काव्यालंकार-३।४१-४२

३. काव्यादर्श- २।३५५-५६

४. काव्यालंकारसारसंग्रह- ५/३१

५. काव्यालंकारसूत्रवृत्ति ४।३।१६

६. काव्यप्रकाश —१०।११३

७. अलंकारसर्वस्व, पृ० १६१

८. साहित्यदर्पण, १०।१०५

परिसंख्या

'परिसंख्या' मीमांसा का पारिभाषिक शब्द है। मीमांसा के अनुसार विधि तीन प्रकार की होती है --(१) अपूर्व विधि (२) नियमविधि (३) परिसंख्या विधि।[१] विधि पहले विहित न किये गये या प्रमाणान्तर से न जाने जा सकने वाले विधानों को उपस्थित करती है। नियमविधि दो या अधिक परस्पर निषेधपरक पदार्थों में एक में नियन्त्रित करता है। जहां दो पदा एक साथ प्राप्त हों, वहां एक का निषेध कर दूसरे को ग्रहण कराने वाली विधि 'परिसंख्या' कहलाती है। वैयाकरणों ने 'परिसंख्या' को नियम रूप में ही ग्रहण किया।[२] आलंकारिकों ने नियमविधि को परिसंख्या के अन्तर्गत माना। जिस प्रकार वैयाकरणों ने 'परिसंख्या' को अलग न मान कर 'नियम' में अन्तर्भुत किया, उस प्रकार आलंकारिकों ने 'नियम' को 'परिसंख्या' अन्तर्भुत किया।[३] पण्डितराज ने 'परिसंख्या' अलंकार की परिभाषा की —

सामान्यत: प्राप्तस्यार्थस्य कस्याच्चिद्विशेषाद् व्यावृत्ति: परिसंख्या

अर्थात् सामान्यत: प्राप्त वस्तु का किसी विशेषता के कारण

१— 'विधिरत्यन्तमप्राप्तै नियम: पाक्षिके सति।
तथा चान्यत्र च प्राप्ते परिसंख्येति गीयते।।' इति — तन्त्रवार्तिक-१।२।४२

अस्यार्थ: —प्रमाणान्तरेण प्राप्तको विधिरपूर्वविधि:। यथा-- यजेतस्वर्गकाम: इत्यादि :।....... पक्षे प्राप्तस्य प्रापको विधिर्नियमविधि:। यथा--' व्रीहीनवहन्ति इत्यादि :।.... उभयोश्च युगपत्प्राप्तावितरव्यावृत्तिपरो विधि: परिसंख्याविधि:। यथा--' पंच पंचनखाभक्ष्या :' इति।'

—— अर्थसंग्रह, पृ० १०४-१०६

२: महाभाष्य, उद्योत, पृ० ५२-५३

३ 'नियमोऽप्यस्मिन् दर्शने निरुक्तलक्षणाक्रान्तत्वात् परिसंख्यैव।'
रसगंगाधर, पृ० ६५०

अन्यों से पृथक् करना परिसंख्या कहलाता है। यह दो प्रकार की है -- शुद्धा और प्रश्नपूर्विका। इनमें से प्रत्येक पुन: शाब्दी और आर्थी दो, दो प्रकार की होती है।

इसका सर्वप्रथम उल्लेख रुद्रट ने किया और चार प्रकार की माना[१]। इन्हीं भेदों को पण्डितराज ने अपनी तरह से उपस्थित किया।

किन्तु पण्डितराज ने यह स्पष्ट कर दिया कि कुछ लोगों के अनुसार जब अन्यों से व्यावृत्ति आर्थी हो, तभी परिसंख्यालंकार होता है, अन्यथा तो शुद्ध परिसंख्या ही होती है, जैसे हेतु के आर्थ होने हेतु अलंकार होता है अन्यथा शुद्ध हेतु।

अत: इसके दो ही भेद हैं।

दूसरों के अनुसार व्यावृत्ति के आर्थी होने पर भी अलंकारता नहीं होती, अन्यथा `पंचपंचनखाभक्ष्या` और `रात्सस्य` (पाणिनि ८।२।२४) में भी अलंकारता होने लगेगी। किन्तु जहां पूर्वोक्त व्यावृत्ति कविप्रतिभानिर्मित हो वही परिसंख्या अलंकार होता है :-

`अन्ये तु व्यावृत्तेरार्थत्व एव परिसंख्यालंकार:, अन्यथा तु शुद्धा परिसंख्यैव। ..... अतो भेदद्वयमेवास्या:` इत्याहु:।

अपरे तु व्यावृत्तेरार्थत्वेऽपि नालंकारत्वम्। .... किं तु कविप्रतिभानिर्मिता या तादृशव्यावृत्तिस्तस्या:।`[२]

----

१. काव्यालंकार --७।७६

२. रसगंगाधर, पृ० ३५२-५३

अर्थापत्ति

पण्डितराज ने अर्थापत्ति अलंकार का लक्षण इस प्रकार किया --

" केनचिदर्थेन तुल्यन्यायत्वादर्थान्तरस्यापत्तिरर्थापत्तिः ।" [१]

अर्थात् किसी पदार्थ से न्यायसाम्य होने पर अन्य अर्थ के आपादन को अर्थापत्ति कहते हैं। यहां 'न्याय' का तात्पर्य 'कारण' से है। अतः कारण की समानता से दूसरी वस्तु स्वतः उपस्थित हो जाय वहां अर्थापत्ति होती है। यह प्रथमतः चार प्रकार की होती है -- प्रकृत से प्रकृत की, अप्रकृत से अप्रकृति की, प्रकृति से अप्रकृति की और अप्रकृति से प्रकृति की। इनमें से प्रत्येक के अर्थान्तर के साथ साथ समानता, न्यूनता और अधिकता, इन तीन भेदों के कारण बारह भेद हो जाते हैं। उनके भी भावत्व अभावत्व भेद होकर चौबीस भेद हो जाते हैं।

अर्थापत्ति की स्वतंत्रता -- इस अलंकार का मीमांसकों अर्थापत्ति में अन्तर्भाव नहीं हो सकता, क्योंकि मीमांसकाभिमत अर्थापत्ति में आपतित अर्थ के बिना आपादक अर्थ की अनुपपत्ति होती है, किन्तु यहां किसी की वैसी अनुपपत्ति नहीं होती। अनुमान से भी यह पृथक् है क्योंकि आपतित अर्थ और आपादक अर्थ के सामानाधिकरण्य न होने से उनके व्याप्यत्व और पक्षधर्मत्व का प्रश्न ही नहीं उठता, फिर अनुमानता कैसी ? यथर्थातिशयोक्ति में भी इसका अन्तर्भाव नहीं होता क्योंकि उसके दोनों अंशों का विराम विपरीत अर्थ में होता है, किन्तु यहां ऐसा नहीं है। [२]

प्राचीनों से मतभेद-- अर्थापत्ति में दूसरा अर्थ लोक में विद्यमान न होने पर भी यदि

---

१. रसगंगाधर, पृ० ६५३

२. ,, पृ० ६५५-६६

अपनी प्रतिभा से कल्पित होता है तो अलंकारता होती है, अन्यथा केवल कौमुतिकन्यायता होती है। अत: कुवलयानन्द का लक्षण – कैमुत्य न्याय से अर्थसिद्धि को काव्यार्थापत्ति कहते हैं[1] – ठीक नहीं, क्योंकि कैमुतिकन्याय न्यून अर्थ में ही होता है, अत: उसकी अधिकार्थवाली अर्थापत्ति में अव्याप्ति है।[2]

----

१. कुवलयानन्द, पृ० १६३

२. रसगंगाधर, पृ० ६५६

विकल्प

रुय्यक ने `विकल्प` अलंकार का सर्वप्रथम विवेचन किया । उन्होंने इसे `समुच्चय` का उल्टा बताया और कहा कि औपम्यगर्भित्ति होने के कारण ही इसमें चारुता है ।[1] पण्डितराज ने इसका लक्षण इस प्रकार लिखा:--

` विरुद्धयो: पाक्षिकी प्राप्तिर्विकल्प: ।

अर्थात् दो विरोधियों की पाक्षिक प्राप्ति को विकल्प कहते हैं । एक धर्मी में अपने अपने प्रापक प्रमाणों से प्राप्त, अतएव तुल्यबल विरुद्धों की, विरोधी होने के कारण ही, एक साथ प्राप्ति असंभव होने से अन्तत: पाक्षिक प्राप्ति होती है ।

यह अलंकार कहीं लुप्त समानधर्म लेकर सादृश्य के व्यंग्य होने पर भी होता है ।

रुय्यक द्वारा प्रदत्त उदाहरण `भक्तिप्रह्वविलोकनप्रणयिनी` इत्यादि में पण्डितराज ने विकल्प न मान कर श्लेषमूला उपमा ही माना ।[3]

---

१. अलंकारसर्वस्व, पृ० १९८

२. रसगंगाधर, पृ० ६५७

३. ,, पृ० ६५९-६०

समुच्चय

'समुच्चय' का सर्वप्रथम निरूपण रुद्रट ने किया। उनके मत में प्रथम जहां द्रव्य, गुण, क्रिया रूप अनेक पदार्थों का एक आधार में वर्णन हो, वहां 'समुच्चय' अलंकार होता है। द्वितीय 'समुच्चय' सुखदु:खादिपरक अनेक द्रव्यादि-रूप वस्तुओं के वर्णन में होता है। द्वितीय समुच्चय (१) सद्योग (२) असद्योग (३) सदसद्योग में होकर तीन प्रकार का होता है।[१] मम्मट ने केवल प्रथम प्रकार का समुच्चय मान कर, शेष का लक्षण नहीं किया है।[२] रुय्यक[३] और विश्वनाथ[४] रुद्रट का अनुसरण करते हैं। पण्डितराज ने इसका लक्षण लिखा —

'युगपत्पदार्थानामन्वय: समुच्चय:।'[५]

अर्थात् पदार्थों के एक साथ अन्वय को समुच्चय कहते हैं। पण्डित-राज ने कहा है कि कुछ कालभेद हो जाय तो भी समुच्चयालंकार में बाधा नहीं होती।

इसका दो भेद है - (१) भिन्नधार्मिक, (२) एकधर्मिक। प्रथम के पुन: दो भेद हैं —(१) कारणत्व से अतिरिक्त सम्बन्ध से एक धर्म में अन्वय (२) कारणतया एकधर्म में अन्वय। इस प्रकार तीन भेदों में पहले दो में गुणों, क्रियाओं और गुणक्रियाओं का तथा तीसरे में रमणीय, अरमणीय और रमणीया-

---

१. काव्यालंकार— ८/१०३

२. काव्यप्रकाश, १०।११६

३. अलंकारसर्वस्व, पृ० २००-०५

४. साहित्यदर्पण, पृ० ३६०

५. रसगंगाधर, पृ० ६३०

रमणीयों का समन्वय होता है। समुच्चय के इस तृतीय भेद में `खले कपोतन्याय` से एक कार्य संपादन में अनेक कारण अहमहमिका से एक साथ गिरते हैं, यही इसका `समाधि` अलंकार से भेदक ~~है~~ है।[१]

पण्डितराज ने केवलरमणीयों के समुच्चय के अरमणीयों के समुच्चय, रमणीयारमणीयों के समुच्चय में समालंकार तथा विषमालंकार से संकीर्णता कह कर इन भेदों के अस्वीकार को नहीं माना, प्रत्युत इनकी असंकीर्णता प्रतिपादित की। अतएव सद्योग, असद्योग, तथा सदसद्योग के कारण भेदकता न मानने वाले `अलंकाररत्नाकर-कार शोभाकर का मत भी खण्डित हो जाता है।[२]

१: रसगंगाधर, पृ० ६६१

२ ,, पृ० ६६३-६६४

समाधि

पण्डितराज ने 'समाधि' अलंकार की परिभाषा इस प्रकार की:-

'एककारणजन्यस्य कार्यस्याकास्मिक कारणान्तरसमवधानाहितसौकर्य समाधि:[1]।'

अर्थात् किसी एक कारण से उत्पन्न होने वाले कार्य में अन्य आकस्मिक कारण के आ जाने से उत्पन्न सौकर्य को समाधि कहते हैं। वह सौकर्य कहीं कार्य की अनायास ~~सिद्धि~~ सिद्धि और कहीं सांगसिद्धि के द्वारा सम्पन्न होकर अलंकार को दो प्रकार का बताता है।

दण्डी ने 'समाधि' को ही 'समाहित' नाम से कहा है।[2] मम्मट आदि इसी को समाधि कहते हैं।[3] रुय्यक,[4] विश्वनाथ,[5] अप्पय,[6] आदि ने भी इसका विवेचन किया है। वामन का 'समाहित'[7] दण्डी के समाहित और मम्मट आदि के समाधि से भिन्न है।

---

१. रसगंगाधर, पृ० ६६४

२. काव्यादर्श - २।२९८

३. काव्यप्रकाश, पृ० ७१६

४. अलंकारसर्वस्व, पृ० २०५

५. साहित्यदर्पण, पृ० ३६१

६. कुवलयानन्द, पृ० १६०

७. अलंकारसूत्रवृत्ति, ४।३।२९

प्रत्यनीक

'अनीक' शब्द का अर्थ सैन्य है। 'अनीकेन सदृशम्' इस विग्रह में अव्ययीभाव समास कर यह शब्द बनता है। 'यथा' के चार अर्थों में एक अर्थ 'सादृश्य' भी है, किन्तु 'सादृश्य' ग्रहण 'गुणीभूत सादृश्य' अर्थात् सादृश्यवान् अर्थ में भी समास ज्ञापित करता है, अत: उपर्युक्त समास होता है। लोक में प्रतिपक्ष के तिरस्कार के लिये सेना का प्रयोग होता है। यदि सेना उसे न दबा सकी, तो उससे संबद्ध किसी अन्य को दबाती है, इस तिरस्कार या दमन का भी सेना की ही भाँति प्रयोग होता है, अत: इसे सेना के सदृश कहते हैं। यहाँ शत्रुपक्ष की बलशालिता और आत्मपक्ष की दुर्बलता व्यंजित होती है —

'अनीकेन सदृशं प्रत्यनीकम्। सादृश्यस्य यथार्थत्वेनैव संग्रहे पुन: सादृश्याग्रहणाद् गुणीभूतेऽपि सादृश्येऽव्ययीभाव:। लोके प्रतिपक्षस्यतिरस्कायानीकं प्रयुज्यते। तदशक्तौ प्रतिपक्ष सम्बन्धिना कस्यचित्तिरस्कार: क्रियते। सा चानीकसदृशतया प्रयुज्यमानत्वात्प्रत्यनीकमुच्यते।'[1]

पंडितराज ने इसका लक्षण लिखा—

'प्रतिपक्षसम्बन्धिनस्तरस्कृति: प्रत्यनीकम्।'[2]

अर्थात् प्रतिपक्ष से सम्बद्ध के तिरस्कार को प्रत्यनीक कहते हैं।

इसका सर्वप्रथम उल्लेख रुद्रट ने किया। उन्होंने इसे उपमेय की उत्तमता को व्यक्त करने के लिये उसे जीतने की इच्छा से जहाँ विरोधी उपमान की कल्पना हो उसे प्रत्यनीक बतलाया।[3] मम्मट ने भी इसका विवेचन किया[4] और परवर्ती आचार्यों ने उन्हीं का अनुसरण किया।

हेमचन्द्र ने इसे उत्प्रेक्षा से भिन्न नहीं माना।[5] पण्डितराज ने भी यही स्थापना की कि यह हेतूत्प्रेक्षा से गतार्थ हो जाता है — 'हेतूत्प्रेक्षयैव गतार्थत्वन्नेदमलंकारान्तरम्।'[6]

----

१. रसगंगाधर, पृ० ६६५
२. ,, पृ० ६६५
३. काव्यालंकार, ८।९२
४. काव्यालंकार, १०।१२
५. हेमचन्द्र-काव्यानुशासन, पृ० ३५४
६. रसगंगाधर, पृ० ६६६

प्रतीप

पण्डितराज ने 'प्रतीप' का लक्षण इस प्रकार लिखा—

'प्रसिद्धौपम्यवैपरीत्येन वर्ण्यमानमौपम्यमेकं प्रतीपम् । उपमानोपमेययोरन्तरस्य किंचिद्गुणप्रयुक्तमद्वितीयतोत्कर्षं परिहर्तुं द्वितीयप्रदर्शनेन उल्लास्यमानं सादृश्यमपरम् द्विविधम् । उपमानस्य कैमर्थ्यं चतुर्थम् । सादृश्यविघटनं पंचमम् । १

अर्थात् प्रसिद्ध उपमा का वैपरीत्य से वर्ण्यभाव औपम्य प्रथम प्रतीप है। यहाँ विपरीतता प्रसिद्ध उपमा में उपमेय की और प्रसिद्ध उपमेय में उपमान की कल्पना द्वारा होती है, प्रकारान्तर से नहीं। किसी गुण के कारण उपमान की अद्वितीयता के उत्कर्ष को मिटाने के लिये किसी दूसरे के प्रदर्शन द्वारा उठाया जाने वाला सादृश्य इसी तरह किसी गुण के कारण उपमेय की अद्वितीयता के उत्कर्ष का परिहार करने के लिये किसे दूसरे के प्रदर्शन से उल्लसित किया जाने वाला सादृश्य। उपमान की कैमर्थ्य (वह क्यों है —यह बताता) । सादृश्य का विघटन ।

प्रथम भेद में प्रसिद्ध औपम्य में जो उपमेय था, उसके उपमान हो जाने से 'आधिक्य की प्रतीति और जो उपमान था उसके उपमेय हो जाने से' न्यूनता की प्रतीति' फल है। औपम्य के समान होने पर भी उपमालंकार से इसकी भिन्नता का यही बीज है। व्यतिरेक सादृश्य का निषेध किया जाता है, किन्तु यहाँ स्थापना

उपमान से उपमेय की साधारणता होने पर भी एक के आधिक्य और दूसरे की न्यूनता की प्रतीति का कारण यह है कि उपमान में साधारण धर्म के सम्बन्ध का अनुमान कर अर्थात् पहले से विद्यमान धर्म को पुन: कह कर उपमेय में विधान कर दिया जाता है। अनुवाद सिद्धत्वके कारण और विधान साध्यत्व के कारण होता है। अत: यहाँ प्रसिद्धोपमान में साधारणधर्म की साध्यता उसकी न्यूनता और प्रसिद्धोपमेय में साधारण धर्म की सिद्धता उसकी अधिकता का कारण बन जाता है।

---

१. रसगंगाधर, पृ० ६६८

उपमानेहि साधारणसंबन्धोनूद्यापमेये विधीयत इति तावत्र विवादम् । विध्यनुवादौच साध्यत्वसिद्धत्वाभ्याम् । ते च क्रमेण न्यूनत्वाधिक्ये उपमानोपमेययोः प्रयोज्यत: ।' [१] सिद्ध को साध्य और साध्य को सिद्ध कहने में कोई दोष नहीं है, क्योंकि वक्ता की इच्छा के अधीन है कि वह जिसे चाहे साध्य कहे और जिसे चाहे, उसे सिद्ध ।

प्रतीप के दूसरे और तीसरे भेद में अद्वितीयता के उत्कर्ष का परिहार फल है । चतुर्थ भेद का फल निषिध्यमान उपमान स्थित सकलगुणायुक्तता का बोध । पांचवें प्रकार का फल प्रथम की ही भांति है ।

प्रतीप का भी सर्वप्रथम उल्लेख रुद्रट ने किया । मम्मट ने उपमान की निन्दा, उपमान को उपमेय बनाने और असाधारणगुण के कारण भी उपमान न बनने वाले पदार्थ को उपमान रूप में वर्णित करने में प्रतीप का वर्णन कर उसके तीन प्रकार कहे । अप्पय दीक्षित तथा पण्डितराज ने पांच प्रकारों का वर्णन किया ।

प्रतीप की गतार्थता :— पण्डितराज ने प्रतीप का वर्णन प्राचीनों के अनुसार करके भी उसे अन्य अलंकारों से गतार्थ किया । फल की विलक्षणतामात्र से भिन्न अलंकार मानने पर तो प्रतीप का एक छटा भेद भी हो सकता है ।[२] उन्होंने कहा कि सामान्य लक्षण के अभाव में ये सारे भेद स्वतंत्र अलंकार बनते, किन्तु प्रतीप के प्रथम तीन भेद उपमा से गतार्थ हो जाते हैं, चौथा आक्षेप और पांचवां अनुक्तवैधर्म्य व्यतिरेक से :—

' तदेवं पंचविधं प्रतीपं प्राचामनुरोधान्निरूपितम् । वस्तुतस्तु-आद्यास्त्रयो ह्युपमायामेवान्तर्गता भेदा: । चतुर्थ: केषांचिदाक्षेप: । पंचमस्त्वनुक्तवैधर्म्ये व्यतिरेके ।' [३]

---

१. रसगंगाधर, पृ० ६६८

२. ,, पृ० ६७१

३. ,, पृ० ६६६

किं च त्वदुक्त प्रतीपभेदानामपि परस्परवैलक्षण्येन पृथक्पृथगलंकारत्वं स्यात् , न प्रतीपभेदत्वम् । प्रतीपस्य सकलप्रभेदसाधारणसामान्यलक्षणाभावात् ।[1]

---

१. रसगंगाधर, पृ० ६७१

नागेश ने एक सामान्य लक्षण की कल्पना की --

" तिरस्कारफलकोपमानापकर्षबोधानुकूलव्यापारस्य प्रतीप सामान्य-लक्षणत्वसंभवात् । स वाच्यो व्यंग्यो वेत्यन्यदेतत् । "

-- मर्मप्रकाश, पृ० ६७१

किन्तु पण्डितराज के प्रबल तर्क तो तदवस्थ ही हैं , अतः प्रतीप की स्वतंत्र अलंकारता तो खण्डित ही हो जाती है ।

प्रौढोक्ति

जयदेव[1] और अप्पय[2] द्वारा वर्णित प्रौढोक्ति की परिभाषा पण्डितराज ने इस प्रकार लिखी :—

" कस्मिंश्चिदर्थे किंचिद्धर्मकृतातिशयप्रतिपिपादयिषया प्रसिद्धतद्धर्मवता संसर्गस्योद्भावनं प्रौढोक्तिः ।" [3]

अर्थात् किसी पदार्थ में किसी धर्म के कारण अतिशय के प्रतिपादन की इच्छा से, जिसमें वह धर्म वह धर्म प्रसिद्ध है उसके साथ, इस पदार्थ के संसर्ग का उद्भावन प्रौढोक्ति है ।

'प्रौढोक्ति' और 'सम' का भेद — किसी धर्मी के संसर्ग से यदि अन्य धर्मी में रहने वाला अतिशय व्यंग्य हो, तभी यह अलंकार होता है, किन्तु अभिधा द्वारा तत्कार्यत्वेन कहा जाय, तो समालंकार का विषय होता है ।[4]

'मिथ्याध्यवसिति' का खण्डन :—एकत्र मिथ्यात्व–सिद्धि करने के लिये अन्य मिथ्या-वस्तु की कल्पना रूप 'मिथ्याध्यवसिति' अलंकार[5] 'प्रौढोक्ति' से ही गतार्थ हो जाता है :—

" एकस्य मिथ्यात्वसिद्ध्यर्थं मिथ्याभूतवस्त्वन्तरकल्पनं मिथ्याध्यवसित्य-लंकारान्तरमिति न वक्तव्यम्, प्रौढोक्त्यैव गतार्थत्वात् ।" [6]

पण्डितराज अप्पय द्वारा प्रदत्त उदाहरण को तो निदर्शना से ही गतार्थ बताया ।[7] यदि 'मिथ्याध्यवसिति' अलंकार पृथक् मानें, तो 'सत्याध्यवसिति' क्यों न मानें ? अतः इसे 'प्रौढोक्ति' से ही गतार्थ मानना चाहिये ।

---

१. चन्द्रालोक—५।४७
२. कुवलयानन्द, पृ० २१०
३. रसगंगाधर, पृ० ६७१
४. ,, पृ० ६७२
५. कुवलयानन्द, पृ० २१२
६. रसगंगाधर, पृ० ६७३
७. रसगंगाधर, पृ० ६७३

ललित

पण्डितराज ने `ललित` अलंकार की परिभाषा इस तरह प्रस्तुत की —
प्रकृतधर्मिणि प्रकृतव्यवहारानुल्लेखेन निरूप्यमाणो प्रकृतव्यवहारसंबन्धो ललितालंकार: ।`[1]

अर्थात् प्रस्तुत धर्मी में प्रस्तुत व्यवहार का उल्लेख न करके निरूपण किया जाने वाला अप्रस्तुतव्यवहार का सम्बन्ध ललित अलंकार होता है। ~~ललितपर विचा~~

ललितपर विचार:— अप्पयदीक्षित ने ललित अलंकार की प्रतिष्ठा करते हुए उसकी अन्य अलंकारों से भिन्नता प्रतिपादित की। यह भेद में अभेदरूपा अतिशयोक्ति से गतार्थ नहीं है, क्योंकि वहां पदार्थ से पदार्थ का ही अध्यवसान होता है, किन्तु यहां व्यवहार से व्यवहार का अभेदाध्यवसान होता है, जो अतिशयोक्ति का विषय ही नहीं है।

यह सादृश्यमूला अप्रस्तुतप्रशंसा से भी गतार्थ नहीं है, क्योंकि धर्मी के अंश में अप्रस्तुत का अभाव है। निदर्शना से भी इसकी गतार्थता नहीं है, क्योंकि निदर्शना में एक धर्मी में दो व्यवहारों का ग्रहण इष्ट है, किन्तु यहां प्रस्तुत व्यवहार गृहीत नहीं है। अत: काव्यप्रकाशकार को -`क्व सूर्यप्रभवो वंश:` इत्यादि में निदर्शना मानने की भ्रान्ति नहीं करनी चाहिये।[2]

किन्तु पण्डितराज ने `ललित` को निदर्शना से ही गतार्थ माना है। अप्पय दीक्षित ने जो यह तर्क किया कि निदर्शना का जीवन है` एक धर्मी में प्रस्तुत और अप्रस्तुत दो व्यवहारों का ग्रहण` और ललित में केवल अप्रस्तुत व्यवहार

---

१. रसगंगाधर, पृ० ६७४

२. कुवलयानन्द, पृ०२१४-१८

ग्रहण होता है, उसका पण्डितराज ने उत्तर दिया —

अलंकार प्रायश: श्रौत और आर्थ हुआ करते हैं, किन्तु उन्हें पृथक् अलंकार न मान कर पृथक् भेद ही माना जाता है, क्योंकि वे उस अलंकार के सामान्यलक्षण के अन्तर्गत ही आ जाते हैं।

वाक्यार्थनिदर्शना में दो व्यवहार वाले दो भिन्न धर्मी के अभेद के प्रतिपादन द्वारा आक्षिप्त दो व्यवहारों का अभेद होता है। वहां दो व्यवहारों से युक्त धर्मियों का अभेद प्रतिपादन श्रौत ही हो यह आवश्यक नियम नहीं है, किन्तु प्रतिपादन मात्र होना चाहिये। अत: आर्थ-प्रतिपादन में भी वाक्यार्थनिदर्शना होती है। पदार्थनिदर्शना में उपमानोपमेय के धर्मों के अभेदाध्यवसाय के आधार पर उपमेय में उपमान के धर्म का सम्बन्ध होता है, अत: वह पृथक् मानी जाती है। इनमें कोई एक होना निदर्शना का सामान्य लक्षण है। ऐसी स्थिति में यदि ललित को पृथक् अलंकार मानें, तो लुप्तोपमादि भी उपमा से पृथक् स्वतंत्र अलंकार हो जायेंगे —

'यदि ललितं पृथगलंकार: स्यात्, लुप्तोपमादिरप्युपमादे: पृथक् स्यात् त्वदुक्तयुक्तेस्तुल्यत्वात्।'[१]

यदि अभेदाध्यवसान को आर्थ माना जाय, तो अतिशयोक्ति का भी रूपक में विलय हो जायगा, यह आपत्ति नहीं की जा सकती, क्योंकि जहां शाब्द और आर्थ दोनों स्थानों पर अलंकारशरीर एक होता है, वहीं एक अलंकार कहा जाता है, अन्यत्र नहीं। रूपक का स्वरूप है — 'विषयतावच्छेदक (मुखत्व आदि) के रूप से प्रतीत होने वाले विषय में विषयितावच्छेदक (चन्द्रत्व आदि) से अवच्छिन्न चन्द्र आदि का अभेद। अतिशयोक्ति का स्वरूप है — विषयितावच्छेदक में प्रतीयमान विषय।' अत: दोनों के स्वरूप के ही भिन्न होने पर एकालंकारता कैसे होगी।

नवीनों के अनुसार 'विषय में विषयी का आहार्य निश्चय का विषयीभूत अभेद रूपक का स्वरूप है, उसमें विषयितावच्छेदक आदि का समावेश नहीं है,

---

१. रसगंगाधर, पृ० ६७६

क्योंकि इससे गौरव होता है। अत: निगरण कर अध्यवसानरूपा अतिशयोक्ति रूपक का भेद हो, इसमें कोई आपत्ति नहीं। इसी तरह अपह्नुति भी रूपक भेद होती हो तो हो। अत: ललित को निदर्शना से पृथक् मानना मनोरथ ललित मात्र है।

'आहार्यनिश्चयविषयीभूतो विषये विषय्यभेदो रूपकस्वरूपमुच्यते। न निवेश्यते च विषयतावच्छेदकादि, गौरवात्। एवं चातिशयोक्तिनिर्गीर्याध्यवसान रूपाया रूपकभेदत्वमस्तु नाम। का नो हानि:। एवमपह्नुतेऽपि। विषयतावच्छेदकनिह्नवानिह्नवनिगरणानि रूपकस्यैवान्तरविशेषा: इति तु नव्या:। एतन्मतरीत्या ललितस्य पृथगलंकारत्वं मनोरथललितमेवेति।' [1]

इस तरह 'तितीर्षुर्दुस्तरं मोहात् उडुपेनास्मि सागरम्' में निदर्शना ही है, क्योंकि 'क्व सूर्यप्रभवो वंश: क्वचाल्पविषया मति:' इस पूर्वार्ध द्वारा अपनी मति और सूर्यप्रभववंश की अनुरूपता बताने के बाद 'अप्रस्तुत उडुप द्वारा सागरसन्तरण की इच्छा के कथन से तादृशमति द्वारा तादृशवंश के वर्णन की इच्छा,' जो प्रकृत है, विदित होती है।

पण्डितराज ने अप्पय के उदाहरण की भी आलोचना की —
'अनायि देश: कतमस्त्वयाद्य वसन्तमुक्तस्य दशां वनस्य।'

में 'आपने कौन सा देश छोड़ा है?' इस प्रस्तुत अर्थ को न कह कर 'वसंत से छोड़े हुए वन की दशा को पहुंचाया' — इस उसके प्रति बिम्बभूत अर्थमात्र को रस ने से ललितालंकार है, यह दीक्षित का मत है। किन्तु पण्डितराज ने यहां 'वसंत से मुक्तवन की दशा का अर्थ 'शोभारहितता' माना। अत: इस अर्थ में शोभारहितत्व' रूपी कार्य द्वारा 'राजकर्तृकत्याग कर्मत्व रूपी कारण' का कथन पर्यायोक्त का विषय है। दोनों दशाओं की एकता का अध्यवसान पदार्थनिदर्शना का विषय है अथवा अतिशयोक्ति। अत: पदार्थ निदर्शना से उपबृंहित पर्यायोक्त

---

1. रसगंगाधर, पृ० - ६७०

का विषय है ललित का नहीं ।[१]

इस प्रकार उन्होंने `ललित` की गतार्थता सिद्ध कर दी ।

---

१. चन्द्रिकाकार वैद्यनाथ ने यहां पदार्थ निदर्शना का खण्डन किया है , क्योंकि यहां सादृश्यपर्यवसान तो पायाजाता है, पर प्रकृत वृतान्त का उपन्यास नहीं हुआ है, अत: पदार्थनिदर्शना नहीं है । पदार्थनिदर्शना में प्रकृत वृतान्त वाच्य होता है और `ललित` में व्यंग्य, अत: `ललित` में अधिक चमत्कार पाया जाता है," अतएव ललित को निदर्शना से भिन्न मानना चाहिये —

तत्र पूर्वार्धेन प्रकृतवृतान्तोपादानेन सादृश्यपर्यवसानरूप निदर्शनासत्वेऽप्यत्र तदनुपादानेन तदव्यंग्यताप्रयुक्तविच्छित्ति विशेषवत्वेन ललितालंकारस्यैवौचितत्वात् ।

— चन्द्रिका, पृ० १५०

प्रहर्षण

प्रहर्षण का लक्षण पण्डितराज ने इस प्रकार लिखा :—

साक्षात्तदुद्देश्यकयत्नमन्तरेणाप्यभीष्टार्थलाभ: प्रहर्षणम् ।[1]

वांछित अर्थ की प्राप्ति के उद्देश्य से साक्षात् प्रयत्न के बिना भी उसकी प्राप्ति प्रहर्षण अलंकार कहलाता है ।

यह तीन प्रकार का होता है (१) अकस्मात् वांछित अर्थ की प्राप्ति (२) वांछितार्थ की सिद्धि के लिये यत्न करते हुए उससे भी अधिक अर्थ की प्राप्ति (३) उपायसिद्धि के लिये किये जाने वाले यत्न से साक्षात् फल का लाभ ।

जयदेव ने प्रहर्षण अलंकार का वर्णन किया । अप्पयदीक्षित ने उसके तीन भेद किये ।[2] पण्डितराज ने उनके द्वितीय भेद के उदाहरण का आलोचन किया है । वांछित से अधिक अर्थ की प्राप्ति को द्वितीय प्रहर्षण मान कर दीक्षित ने उदाहरण दिया —

"चातकस्त्रिचतुरान् पयःकणान् याचते जलधरं पिपासया ।
सोऽपि पूरयति विश्वमम्भसा हन्त हन्त महतामुदारता ।।"

अर्थात् चातक पिपासावश जलधर से तीन चार कण मांगता है और वह विश्व को पूरित कर देता है, वाह, वाह यह है श्रेष्ठजन की उदारता ।

'संसिद्धि' से तात्पर्य तादृश लाभ से उत्पन्न संतोष की अधिकता से है । विश्व को पूरित करने से चातक को हर्षातिरेक प्रतिपादित न होकर, दाता का उत्कर्ष ही प्रतिपादित होता है, अत: अर्थान्तरन्यास से उसका ही पोषण हो रहा है ।[3] नागेश का मत है कि यहां अप्रस्तुत चातकवृत्तान्त का दाता और याचक के वृत्तान्त में पर्यवसान हो जाता है, अत: 'संतोषाधिक्य' का होना अनिवार्य है,[4] किन्तु याचक को वांछित से अधिक की प्राप्ति का वर्णन तो यहां किया गया नहीं । यदि संसार को खूब मिला, किन्तु याचक को उतना ही मिला तो प्रहर्षण का द्वितीय भेद यहां कैसे होगा ?

---

१. रसगंगाधर, पृ० ६८०
२. कुवलयानन्द, पृ० २१६-२१
३. रसगंगाधर, पृ० ३८१
४. मर्मप्रकाश, रसगंगाधर, पृ० ६८२

विषादन

अभीष्ट अर्थ से विरुद्ध के लाभ का नाम विषादन है —

' अभीष्टार्थविरुद्धलाभो विषादनम् ।'[1]

विषादन का विषय विषम से दो स्थानों पर पृथक् है —

(१) जहां अभीष्ट लाभ के लिए कारण का प्रयोग नहीं किया गया, इच्छामात्र की गयी और विरुद्ध वस्तु मिली ।

(२) अभीष्ट के लिये कारण प्रयुक्त होने पर भी उससे विरुद्ध वस्तु का लाभ नहीं हुआ, किन्तु विरुद्ध अर्थ के स्वतंत्र कारणवश ही उसकी प्राप्ति हो गयी । किन्तु जहां इष्ट के लिये प्रयुक्त कारण से ही विरुद्धार्थ लाभ हो , वहां तादृश कारण और उसके विरुद्ध अर्थ में जन्यजनक भाव संसर्ग की अननुरूपता के कारण विषम और वांछित से विरुद्ध वस्तु का लाभ होने से विषादन —इन दोनों का संदेह संकर है । इसके अतिरिक्त विषादन का स्वतंत्र क्षेत्र भी है, अत: उसके विषम से गतार्थ होने की आशंका नहीं करनी चाहिये ।[2]

' इष्टसाधनत्वरूप में निश्चित से अनिष्ट की उत्पत्ति' रूप विषम के भेद में' कार्य-कारण के संसर्ग की अननुरूपता रूपी विषम और विषादन दोनों सावकाश हैं । विषादन का विषय है विरुद्धलाभरूपी अंश और विषम विरुद्ध लाभ तथा इष्टार्थ में प्रयुक्त कारण के संसर्ग की अननुरूपता रूपी अंश । अत: ऐसे स्थल में दोनों का समावेश रहता है —

' तस्मादत्र किंचिदंशे विषमम्, किंचिदंशे विषादनमित्युभयोरपि समावेशो बोध्य: ।'[3]

विषादन का वर्णन भी जयदेव और अप्पय ने किया है ।[4] किन्तु पण्डितराज ने विषम से गतार्थता की आशंका का उत्तर देकर नवीन रूप में उसकी प्रतिष्ठा की ।

---

१. रसगंगाधर, पृ० ३८२ २. रसगंगाधर, पृ० ३८२
३. ,, पृ० ३८३ ४. कुवलयानन्द, पृ० २२२

उल्लास

जयदेव और अप्पय[1] द्वारा विवेचित उल्लास को पण्डितराज ने इस प्रकार परिभाषित किया --

" अन्यदीयगुणप्रयुक्तमन्यस्य गुणदोषयोराधानमुल्लास: ।"[2]

अर्थात् एक के गुणदोष के कारण दूसरे में गुण-दोष का आधान का नाम उल्लास है । पंडितराज ने उल्लास के चार भेद किये --(१) गुण से गुण का आधान (२) गुण से दोष का आधान (३) दोष से गुण का आधान (४) दोष से दोष का आधान ।

पण्डितराज ने कहा कि काव्यलिंग से गतार्थ होने के कारण यह स्वतंत्र अलंकार नहीं है, किन्तु लौकिक अर्थ से युक्त होने के कारण अलंकार ही नहीं मानना चाहिये --यह दूसरों का अभिमत है । वस्तुत: यही पण्डितराज का मत है :--

" काव्यलिंगेन गतार्थो यं नालंकारान्तरस्वभूमिमारोहति इत्येके । लौकिकार्थमयत्वादनलंकार एव इत्यपरे ।"[3]

बाद में नागेश ने भी उल्लास को काव्यलिंग या विषम से गतार्थ माना[4]।

----

१. कुवलयानन्द, पृ० २२-२५

२. रसगंगाधर, पृ० ३८३

३. ,, पृ० ३८५

४. उद्योत--नागेश, पृ० ५५४, ५८

अवज्ञा

पण्डितराज ने अवज्ञा की परिभाषा लिखी --

" तद्विपर्ययोऽवज्ञा । "[1]

अर्थात् उल्लास का विपर्यय अवज्ञा है । विपर्यय का अर्थ अभाव है । अत: एक के गुणदोष से प्रयुक्त अन्य में गुणदोष के आधान का अभाव ।

यह अतद्गुण से भिन्न है । किन्तु पण्डितराज ने यह मत प्रस्तुत किया है कि यह अलंकार विशेषोक्ति से गतार्थ है ---

" विशेषोक्त्यैव गतार्थत्वादवज्ञानालंकारान्तरमित्यपि वदन्ति । "[2]

जयदेव और अप्पय ने इसका विवेचन किया, किन्तु अन्तत: नागेश ने भी इसे विशेषोक्ति से ही गतार्थ माना ।[4]

----

१. रसगंगाधर, पृ० ६८५
२. ,, पृ० ६८६
३. कुवलयानन्द, पृ० २२६-२७

अनुज्ञा

अप्पय दीक्षित ने जहां किसी दोष की इच्छा इसलिए की कि उसमें किसी गुण की स्थिति है, वहां अनुज्ञा अलंकार माना ।[१] पण्डितराज ने अनुज्ञा को इस प्रकार परिभाषित किया --

'उत्कटगुणविशेषलालसया दोषत्वेन
प्रसिद्धस्यापि वस्तुनः प्रार्थनमनुज्ञा ।'[२]

अर्थात् किसी उत्कट गुण की लालसा से दोषरूप में प्रसिद्ध वस्तु की भी प्रार्थना अनुज्ञालंकार है ।

पण्डितराज ने अप्पय से यह अलंकार यथावत् ग्रहण कर लिया ।

---

१. कुवलयानन्द, पृ० २२७

२. रसगंगाधर, पृ० ६८७

तिरस्कार

पण्डितराज ने इस नवीन अलंकार को इस प्रकार परिभाषित किया ---

दोषविशेषानुबन्धाद् गुणात्वेन प्रसिद्धस्यापि द्वेषस्तिरस्कारः ।[1]

अर्थात् किसी दोष के सम्बन्ध से गुणारूप में प्रसिद्ध का भी द्वेष` तिरस्कार अलंकार है ।

पण्डितराज ने तिरस्कार अलंकार की प्रतिष्ठा करते हुए अप्पयदीक्षितके अनुज्ञा के उदाहरण के [2] एक अंश में तिरस्कार का भी स्फुरण माना । पण्डितराज ने इस श्लोक के पूर्वार्द्ध-उत्तरार्द्ध के क्रम को उलट कर उद्धृत किया है —

` भवद्भवनदेहली विकटतुण्डदण्डाहति-
स्फुटन्मुकुटकोटिभिर्मघवदादिभिर्भूयते ।
व्रजेम भवदन्तिकं प्रकृतिमेत्य पैशाचिकीं
किमित्यमरसम्पदं प्रमथनाथ नाथामहे ।

अर्थात् हे प्रमथनाथ, आपके भवन की देहली पर विकटतुंड के डंडों की चोटों से इन्द्रादि के मुकुट के किनारे टूटते रहते हैं, अत: पिशाचों की योनि प्राप्त करके आपके समीप पहुंच जायें, देवताओं की संपत्ति क्यों मांगें ?

` यहां किमित्यकर संपदं प्रमथनाथ नाथामहे ` अंश में `तिरस्कार` मानना चाहिये ।

यह आशंका नहीं करनी चाहिये कि अनुज्ञा और तिरस्कार एक साथ कैसे हो सकता है ? क्योंकि प्रार्थना का अर्थ है इच्छा और तिरस्कार का द्वेष, उनमें से दोष में इष्ट साधनता ~~इत्यादि~~ ज्ञानरूपी कारण का अभाव होने से इच्छा उचित नहीं है ।

---

१. रसगंगाधर, पृ० ६८७

२. कुवलयानन्द, पृ० २कु

किन्तु इसका उत्तर पण्डितराज ने यह दिया कि दोष में गुणांश को लेकर और गुण में दोषांश को लेकर इष्टसाधनताज्ञान और द्विष्टसाधनताज्ञान की सत्ता रहती है, अत: उक्त आपत्ति निर्मूल है :—

"दोषगुणयोर्दोषांशमादायेष्टद्विष्ट साधनताज्ञानयो:सत्वायुक्तं कारणं तावदव्यावहतम् ।"[1]

इसके अतिरिक्त गुण में इच्छा और दोष में द्वेष वाली विपरीतता का तर्क भी उचित नहीं है, क्योंकि उपाय वही यष्ट होता है, जो केवल इष्ट-साधन ही नहीं करता, अपितु द्विष्ट का अनुबन्धी भी न हो और इसी तरह द्विष्ट-साधन करने वाला ही नहीं, अपितु इष्ट का अननुबन्धी कहने वाला ही उपाय वांछित नहीं होता, जैसे कलंज, दधि आदि स्वादिष्ट होने से इष्ट होते हैं और हरीतिकी भक्षण आदि विरस होने से द्विष्ट होते हैं, किन्तु कलंज भक्षण करना बुद्धिमान नहीं चाहते और हरीतकी सेवन चाहते हैं। हां इतना अवश्य है कि इनके साथ पुरुष और काल का सम्बन्ध भी जोड़ लेना चाहिये। अर्थात् उस पुरुष के उस काल में उत्कट द्विष्ट से सम्बन्ध न रखने वाली उस पुरुष के तात्कालिक इच्छा के विषम फल की साधनता का ज्ञान उस पुरुष के उपाय की इच्छा के प्रति कारण होता है, इसके विरुद्ध होने पर द्वेष के प्रति कारण होता है।

इस तरह यह सिद्ध होता है कि उपर्युक्त उदाहरण में अनुज्ञा और तिरस्कार दोनों एक साथ हो सकते हैं। यहां पिशाचयोनि अन्तत: इष्ट, अनुज्ञा और अमरसंपदा के अन्तत: इष्ट- दोषयुक्त होने द्विष्ट होने के कारण तिरस्कार अलंकार है।

----

1. रसगंगाधर, पृ० ६८८

लेश

'लेश' नामक एक अलंकार की अलंकारता का अस्वीकार भामह ने किया है।[1] दण्डी ने लेशमात्र (चिह्न) से प्रकट हो सकने वाले गोप्य विषय के स्वरूप को छिपाने में लेश अलंकार माना।[2] उन्होंने कुछ लोगों के मत का भी उल्लेख किया है, जो लेशतः की गयी निन्दा या स्तुति में लेश मानते हैं।[3] रुद्रट ने भी लेश स्वीकार किया।[4] अप्पयदीक्षित ने दण्डी के द्वितीय लेश को इस प्रकार रखा — जहाँ गुण और दोष को क्रमशः गुण और दोष रूप में कल्पित किया जाय।[5]

पण्डितराज ने लेश को इस प्रकार परिभाषित किया —

गुणस्यानिष्टसाधनतया दोषत्वेन, दोषस्येष्टसाधनतया गुणत्वेन च वर्णनं लेशः[6]।

अनिष्टसाधन होने के कारण गुण का दोषरूप में और इष्ट साधन होने के कारण दोष का गुण रूप में वर्णन लेशालंकार कहलाता है।

लेश और व्याजस्तुति में विभेद :- लेश निन्दा से स्तुतिरूप और निन्दा से स्तुतिरूप व्याजस्तुति से गतार्थ नहीं है, क्योंकि यहाँ सर्वत्र ऐसा नहीं होता कि आरंभ में वही बात पर्यवसित रूप में विपरीत हो जाय —

"न चायमलंकारो व्याजस्तुत्य उभयरूपया गतार्थ इति शङ्क्यम्, मुखप्रतिपादितार्थवैपरीत्येनाम सर्वत्र पर्यवसानात्।"[7]

अतएव पण्डितराज ने लेश को स्वतंत्र अलंकार रूप में ग्रहण किया है।

---

1. काव्यालंकार -- "हेतुश्चसूक्ष्मो लेशोथ नालंकारतया मतः।
   समुदायाभिधानस्य वक्रोक्त्यनभिधानतः ।।२।८६
2. -- "लेशो लेशेननिर्भिन्नवस्तुरूपनिगूहनम्। उदाहरणएवास्य रूपमाविर्भविष्यति ।।
   राजकन्यानुरक्तं मां रोमोद्भेदेन रक्षकाः। अवगच्छेयुराः ज्ञातमहो शीतानिलंवनम्।।"
   —काव्यादर्श— २।२६५-६
3. -"लेशमेके विदुर्निन्दां स्तुतिं वा लेशतः कृताम्।"
   — काव्यादर्श — २।२६८
4. काव्यालंकार—
5. कुवलयानन्द, पृ० २२६
6. रसगंगाधर, पृ० ६६०
7. रसगंगाधर, पृ० ६६०

तद्गुण

पण्डितराज ने तद्गुण को इस प्रकार परिभाषित किया —

"स्वगुणत्यागपूर्वकं स्वसन्निहितवस्त्वन्तरसम्बन्धिगुणग्रहणं तद्गुणः ।"[1]

अर्थात् अपने गुण का त्याग करके समीपवर्ती अन्य वस्तु से सम्बन्ध रखने वाले गुण के ग्रहण को तद्गुण कहते हैं ।

इस अलंकार का सर्वप्रथम उल्लेख रुद्रट[2] ने किया । उन्होंने दो प्रकार के तद्गुण माने, किन्तु प्रथम तद्गुण सामान्यालंकार से भिन्न नहीं है । मम्मट ने वहीं तद्गुण माना जहां अप्रकृत के गुण को प्रकृत ग्रहण करता है ।[3] इसी का अनुसरण रुय्यक,[4] जयरथ,[5] विद्याधर[6] आदि ने किया । किन्तु जयदेव ने इस नियम को त्याग कर कि यहां प्रकृत ही प्रकृत के गुण को ग्रहण करता है, यह प्रतिपादित किया कि जहां कोई पदार्थ अपने गुण को छोड़कर दूसरे के गुण को प्राप्त करता हुआ वर्णित हो वहां तद्गुण होता है ।[7] पण्डितराज ने इसी सरणि का अवलम्बन किया ।

उल्लास से तद्गुण का भेद:—यद्यपि उल्लास में भी एक गुण से दूसरे में गुणाधान होता है किन्तु पहले का गुण ही यथावत् दूसरे में आहित होता है । यही तद्गुण और उल्लास में अन्तर है :—

"यद्यप्युल्लासेऽप्यन्यदीयगुणेनान्यस्य गुणाधानमस्ति, तथापि तत्रान्यदीय गुणप्रयुक्तं गुणान्तरं चूर्णादिदारताप्रयुक्तं हरिद्रादेः शोभत्वमिवाधीयते । प्रकृते तु जपाकुसुमलौहित्यं स्फटिक इवान्यदीयगुण एवान्यत्रेति भेदः ।"[8]

---

१. रसगंगाधर, पृ० ६६२
२. काव्यालंकार—६।२२
३. काव्यप्रकाश, पृ० ७६५
४. अलंकारसर्वस्व, पृ० २१३
५. विमर्शिनी, पृ० २१३
६. एकावली, पृ० ३२०-२२
७. चन्द्रालोक—५।१०२
८. रसगंगाधर, पृ० ६६२

अतद्गुण

तद्गुण का विपर्यय अतद्गुण अलंकार कहलाता है --

'तद्विपर्ययो तद्गुण: ।'[1]

आशय यह है कि सन्निहित अन्यवस्तु के सम्पर्क में रह कर भी अपने गुण का त्याग और परगुण का ग्रहण न करने पर अतद्गुण अलंकार होता है ।

इस अलंकार का सर्वप्रथम निरूपण आचार्य मम्मट ने किया ।[2] अपने ही तद्गुण के विपरीत उन्होंने अतद्गुण को माना - जहां अप्रकृत न्यूनगुणसम्पन्न और प्रकृत उत्कृष्ट गुण सम्पन्न हो । रुय्यक,[3] विश्वनाथ[4] आदि भी इसी का अनुसरण करते हैं । किन्तु जयदेव ने [5] अतद्गुण का पंडितराजाभिमत स्वरूप निर्धारित किया ।

रुय्यक के अनुसार अतद्गुण दो प्रकार का होता है -- गुणग्राहक की अपेक्षा संविहित गुणवान् की उत्कृष्टता में और समत्व में । इसका आशय यह है कि अप्रकृष्ट के गुण का ग्रहण न करना ही स्वभावसिद्ध है, अत: उससे गुण ग्रहण करने में तृतीय भेद , भेद वैचित्र्यभाव के कारण वांछनीय नहीं है । किन्तु अन्य विद्वान् अवान्तर चमत्कारविशेष के अभाव में ये दोनों भेद भी नहीं मानते ।

विशेषोक्ति में अन्तर्भाव का प्रश्न :- पण्डितराज कुछ अन्य विद्वानों के मत का भी उल्लेख किया है, जो इसे विशेषोक्ति का ही अवांतर भेद मानते हैं । उत्कृष्ट वस्तु का संविधान ही गुणाधानका हेतु है, उसके रहने पर भी 'तद्गुणग्रहण' रूपी कार्य का अभाव होने से यह विशेषोक्ति का ही भेद है यदि यह कहा जाये कि

---

१. रसगंगाधर, पृ० ६६३

२. काव्यप्रकाश, पृ० ७४७

३. अलंकारसर्वस्व, पृ० २१४

४. साहित्यदर्पण, पृ० ३६३

५. चन्द्रालोक, ५।१०५

यहाँ कार्यकारणभाव विवक्षित नहीं है, अपितु 'संनिधान में भी उसके गुण ग्रहण का अभाव ही विवक्षित है, अत: अतद्गुण विशेषोक्ति से भिन्न है। तो इसका उत्तर है — 'संविधान में भी' यह कहने से प्रतीत होता है कि केवल 'संविधान में भी यह कहने' 'संनिहित के गुणग्रहण का अभाव ही नहीं, दोनों में विरोध भी विवक्षित है, और विरोध ही अतद्गुण का प्राण है, यह विरोध कार्यकारणभाव की अविवक्षा में हो ही नहीं सकता। अत: इसे विशेषोक्ति से भिन्न मानना ठीक नहीं —

'संविधानेऽपीत्यादिना--विरोधोऽपि विवक्षित इति गम्यते। अन्यथा जीवातोरभावादलंकारतैव न स्यात्। सच कारणकार्यविवक्षणे न भवतीति कथमुच्यते न विवक्षित इति।'[१]

अप्पयदीक्षित ने भी इसके विशेषोक्ति भेद होने की ओर संकेत किया है, किन्तु उल्लास और तद्गुण के विरोधी होने के कारण ही अवज्ञा और अतद्गुण को पृथक् अलंकार माना गया है —

'यद्यप्यवज्ञालंकृतिरतद्गुणश्च विशेषोक्तिविशेषावेव, 'कार्याजनिर्विशेषोक्ति: सति पुष्कलकारणे' इति तत्सामान्यलक्षणाक्रान्तत्वात्। तथाप्युल्लास-तद्गुणप्रतिद्वन्द्विता विशेषालंकारेणालंकारान्तर तया परिगणितावितिध्येयम्।'[२]

पण्डितराज ने विशेषोक्ति में अवज्ञा और अतद्गुण के अन्तर्भाव का मत जिस प्रकार उपस्थित किया है, उससे यही प्रतीत होता है कि केवल अलंकार प्रतिद्वन्द्वी होने से ही अलंकारान्तरता उन्हें अभिमत नहीं है।

---

१. रसगंगाधर, पृ० ६६४

२. कुवलयानन्द, पृ० २३८

मीलित

पण्डितराज ने 'मीलित' की परिभाषा इस प्रकार लिखी :-

'स्फुटमुपलभ्यमानस्य कस्यचिद्वस्तुनो लिंगैरतिसाम्याद्भिन्नत्वेन गृह्यमाणानां वस्त्वन्तरलिंगानां स्वकारणाननुमापकत्वं मीलितम् ।'[1]

अर्थात् स्पष्टतः उपलभ्यमान, किसी वस्तु के लिंगों (ज्ञापकों) से अत्यन्त समानता के कारण भिन्न रूप में न प्रतीत होने वाले वस्त्वन्तर के लिंगों द्वारा अपने कारण के अनुमान न सम्पन्न करने को मीलित कहते हैं । पण्डितराज ने इस लक्षण का संग्रह श्लोक इस प्रकार दिया —

'भेदाग्रहणेन लिंगानां लिंगैः प्रत्यक्षवस्तुनः ।
अप्रकाशोऽन्यनध्यक्षवस्तुनस्तद्धि मीलितम् ।।'[2]

अर्थात् प्रत्यक्ष वस्तु के लिंगों से (अनुमेय वस्तु) भेद का ज्ञान न होने के कारण अप्रत्यक्ष वस्तु के अप्रकाशन को मीलित कहते हैं ।

यहाँ 'अनध्यक्ष' या 'अप्रत्यक्ष' विशेषण का सामान्यालंकार में अतिव्याप्ति वारण के लिये दिया गया, क्योंकि मीलित में अप्रत्यक्ष वस्तु का लिंगों द्वारा ग्रहण नहीं होता किन्तु सामान्य में तो बलवान् सजातीयमिश्रण के कारण प्रत्यक्ष वस्तु का भी ग्रहण नहीं हो पाता । इसी प्रकार तद्गुण में भी अन्यवस्तु के गुणों का भिन्न रूप में ग्रहण न होने पर भी अन्य वस्तु का ज्ञान तो रहता ही है, पर मीलित में तो वस्तुज्ञान होता ही नहीं ।[3]

मीलित का भी सर्वप्रथम उल्लेख रुद्रट[4] ने ही किया और मम्मट, रुय्यक आदि ने उनका अनुसरण किया । पण्डितराज ने भी उन्हीं से प्रेरणा ग्रहण की ।

---

१. रसगंगाधर, पृ० ६६४
२. ,, ,,
३. ,, ,,
४. काव्यालंकार, ७।१०६

सामान्य

पण्डितराज ने सामान्य का लक्षण इस प्रकार लिखा—

'प्रत्यक्षविषयस्यापि वस्तुनो बलवत्सजातीयग्रहणां तद्भिन्नत्वेनाग्रहणां सामान्यम् ।'[1]

अर्थात् प्रत्यक्षविषय वस्तु का भी बलवान् सजातीय ज्ञान के कारण उस (सजातीय) वस्तु से भिन्न प्रतीति न होने को सामान्य अलंकार कहते हैं। कुछ लोग लक्षण में 'भिन्नत्वेनाग्रहणां' के स्थान पर 'भिन्नसजातीयत्वेनाग्रहणाम्' सन्निवेश करना चाहते हैं, अत: व्यक्तिभेदप्रतीत होने पर भी सामान्यालंकार ही होता है।

मीलित, सामान्य और तद्गुण पृथक्-पृथक् स्वतंत्र अलंकार— मीलित, सामान्य और तद्गुण--तीनों में साधारण रूप से विद्यमान 'भेदाग्रह' नामक अलंकार होना चाहिये। मीलित में प्रकृताप्रकृतधर्मियों के गुण का भेदाग्रह होता है। सामान्य में कुछ लोगों के मत में गुण-गुणी के भेद का अग्रहण होता है और कुछ के मत में कहीं यह और कहीं जातिमात्र के भेद का अग्रहण होता है। तद्गुण में रक्त (गुणप्रभावित) में रंजक (प्रभावित करने वाले) के गुण के भेद का अग्रहण है। अत: तीनों को 'भेदाग्रह' नामक अलंकार में अन्तर्भूत कर देना चाहिये।

किन्तु पण्डितराज ने इसका उत्तर दिया कि इस तरह तो 'अभेद' नामक एक अलंकार में रूपक, परिणाम और अतिशयोक्ति का अन्तर्भाव किया जा सकता है—

'एवं तद्व्यभिदो(ऽ)प्येकोऽलंकार: । तदवान्तरभेदा रूपकपरिणामातिशयोक्ति-प्रमुखा इत्यपि शक्यते वक्तुम् । विच्छित्तिभेदस्तु प्रकृते पि तुल्य: ।'[2]

उन्मीलित और विशेषक का खण्डन :— अप्पयदीक्षित ने कहा है, 'मीलित अलंकार के ढंग से दो वस्तुओं के सादृश्य के कारण भेदतिरोधान होने पर किसी कारण विशेष से भेद प्रतीति हो जाय, तो वहां मीलित का प्रतिद्वन्द्वी उन्मीलित अलंकार होता है। इसी तरह सामान्यन्यायेन वैशिष्ट्यज्ञान के तिरोहित होने पर भी किसी कारण से

---

1. कुवलयानन्द, पृ० २४४
2. चन्द्रिका, पृ० १६६

वैशिष्ट्यप्रतीति हो जाय, तो वहाँ विशेषालंकार होता है।' [१]

पण्डितराज ने इन दोनों स्थलों पर अनुमान अलंकार माना है। उन्होंने 'अनुमिति' का अर्थ 'व्याप्तिविशिष्टपक्षधर्मताज्ञानजन्य ज्ञान' स्वीकार किया है, अत: यहाँ विशेषदर्शन रूप हेतु वाला प्रत्यक्ष ही 'व्याप्तिविशिष्टपक्षधर्मताज्ञानजन्य ज्ञान' हो जाता है। अत: प्रत्यक्ष सामग्री होने पर भी अनुमिति अलंकार होता है। आलंकारिकों की सरणि नैयायिकों से भिन्न है, इसका प्रतिपादन पंडितराज ने भलीभाँति कर ही दिया है।

पण्डितराज के इस मत के खंडन का प्रयास वैद्यनाथ ने किया है। उनके अनुसार यहाँ भेदप्रतीति और विशेष प्रतीति हो रही है, अत: ये अनुमान से भिन्न हैं। किन्तु वैद्यनाथ यह जानते है कि ये अनुमिति से गतार्थ हो सकते हैं, अत: जिस तरह उल्लास और तद्गुण के प्रतिद्वन्द्वी रूप में अवज्ञा और अतद्गुण को मानते हैं, उसी तरह मीलित का प्रतिद्वन्द्वी रूप में उन्मीलित और सामान्य का प्रतिद्वन्द्वी विशेष मानने का तर्क देते हैं :-

'अथापि स्वकपोलकल्पितपरिभाषयानुमानालंकारता ब्रूषे तथापि सादृश्यमहिम्ना प्रागनवगतयोर्भेदवैजात्ययो:स्फुरणात्मना विशेषाकारेण मीलित-सामान्यप्रतिद्वन्द्विता युक्तमेवालंकारान्तरत्वम्। अतद्गुणावज्ञयोरिवविशेषोत्प्य-लंकारादिव।' [२]

किन्तु हम देख चुके हैं कि अलंकार की प्रतिद्वन्द्विता मात्र की कल्पना करके पण्डितराज नये अलंकारों की सृष्टि के पक्षपाती नहीं हैं, अत: वैद्यनाथ का यह प्रयास उनकी दृष्टि में व्यर्थ ही है।

पण्डितराज ने दीक्षित के इस कथन का भी खण्डन किया कि तद्गुण

---

१. कुवलयानन्द, पृ० २४४

२. चन्द्रिका, पृ० १६६

के ढंग से भी भेद के अनध्यवसाय प्राप्त होने पर भी उन्मीलित देखा जाता है।[1] तद्गुण में दो गुणों का अभेदग्रहण होता है, दो वस्तुओं का नहीं। पण्डितराज ने उनके दिये उदाहरण में इस प्रकार तद्गुण का विषय दिखा दिया है।[2] अतएव पण्डितराज ने स्पष्ट कहा—

"अत: प्राचीनै: कृतविभागैरलंकारैर्विषयै: प्रथमोत्प्रेक्षितस्य भावदलंकारस्य शक्योऽन्तर्भाव: कर्तुम्। न तावत्पृथगलंकारत्ववाचोयुक्त्या विगलितशृंखलत्वमात्मनो नाटयितुं साम्प्रतं मर्यादावशंवदैरार्यै:।"[3]

पण्डितराज ने काव्यप्रकाश के सामान्य के उदाहरण 'वैत्रत्वचा तुल्यरुचां वधूनाम्' पर की गयी टिप्पणी का आलोचन किया और वहाँ उत्तरकालिक प्रतीति को ही चमत्कारी मान कर तदनुसार अलंकारव्यपदेश का समर्थन किया है।[4]

----

१. कुवलयानन्द, पृ० २४४

२. नागेश ने यहाँ भी दीक्षित के समर्थन की चेष्टा की किन्तु यह प्रयास भी सफल नहीं रहा है। देखिये — टिप्पणी, हिन्दी रसगंगाधर भाग३, पृ० ३५७-५८

३. रसगंगाधर, पृ० ६९९

४. रसगंगाधर, पृ० ७००

उत्तर

पण्डितराज ने उत्तर की परिभाषा इस प्रकार प्रस्तुत की :—

'प्रश्नप्रतिबन्धकज्ञानविषयीभूतो र्थ उत्तरम् ।'[1]

अर्थात् प्रश्न के प्रतिबन्धक ज्ञान के विषयीभूत अर्थ का नाम उत्तर है ।

प्रश्न का अर्थ है 'जीप्सा ।' वह ज्ञानविषयिणी इच्छा ही है । वह इच्छा उत्तरवाक्य से विषयीभूतज्ञानके उत्पन्न हो जाने पर निवृत्त हो जाती है —

'प्रश्नश्च जीप्सा । भावे नङो विधानात् । सा ज्ञानविषयेच्छा । सा चोत्तरवाक्याद्विषयीभूते ज्ञाने जाते निवर्तते ।'[2]

पण्डितराज ने उत्तर अलंकार के प्रथमत: उन्नीतप्रश्न और उत्तर में एक अथवा दोनों की साभिप्रायता और निरभिप्रायता के आधार पर पुन: चार-चार भेद कर कुल आठ भेद माने ।

भेदों के सम्बन्ध में एक आशंका हो सकती है । इस अलंकार का जीवन 'प्रश्न और उत्तरों का अनेकश: उपनिबन्धन । अत: एक बार प्रश्न का एक बार उत्तर अलंकार का विषय नहीं है और तब उन्नीत प्रश्न उत्तरालंकार में अव्याप्ति हो जायगी, क्योंकि यहां प्रश्न और वह पद्य में निबद्ध भी नहीं होता, उत्तर तो एक होता ही है ।

किन्तु इसका उत्तर यह है कि यहां 'प्रश्न की उन्नीतता का' अर्थ उत्तर द्वारा आक्षिप्त होना नहीं है, किन्तु प्रश्नोत्तर की परंपरा में प्राचीन उत्तर के सुनने मात्र से उत्पन्न होता है अर्थात् उस प्रश्न से पूर्व भी कोई प्रश्न होना चाहिये, अत: अनेकता आ जाती है । प्रथम प्रश्न तो उन्नीत न होने पर भी 'उत्तर उल्लसित करने के लिये लिख दिया जाता है । इस मत के अनुसार प्रथम दो भेद 'उन्नीत प्रश्न' और 'निबद्धप्रश्न' न होकर 'उन्नीतप्रश्न' और 'अनुन्नीतप्रश्न' नाम से होने चाहिये :—

१: रसगंगाधर, पृ० ७०१

प्रश्नगतमुन्नीतत्वमत्रोत्तरेणाक्षिप्तत्वं न विवक्षितम् । किं तु प्रश्नोत्तर-परम्परायां प्राचीनोत्तरश्रवणाजन्यत्वमात्रम् । .. .. एवं चास्मिन् मते प्राग्दर्शिता-न्युन्नीतप्रश्नोदाहरणान्यनुदाहरणान्येव । अलंकारस्यद्वैविध्यमपि न प्रश्नस्योन्नी-तत्व-निबद्धत्वाभ्याम् । किन्तून्नीतत्वानुन्नीतत्वाभ्यामिति ज्ञेयम् ।'[1]

पण्डितराज के मत में तो प्रश्न और उत्तर यदि अभिप्रायगर्भ हो तो उतने से ही चमत्कारी हो जाता है, प्रश्नोत्तर के बार बार ग्रहण की कोई अपेक्षा नहीं है । यदि प्रश्नोत्तर अभिप्रायगर्भ न हो, तो 'निबद्धप्रश्न भेद में प्रश्नोत्तर के बार बार ग्रहण करने उत्पन्न चमत्कार अपेक्षित है । किन्तु' आक्षिप्तप्रश्न' में यदि प्रश्न के आक्षेप से उत्पन्न चमत्कार को सहृदय मानें, तो उसे मानने में कोई आपत्ति नहीं है :—

' प्रश्नोत्तरयोराकूतगर्भत्वे तावतैव: चमत्कारात्रासकृदुपादानापेक्षा । आकूतविरहे त्वसकृदुपादानकृतश्चमत्कारोऽपेक्ष्यते निबद्धप्रश्ने । आक्षिप्तप्रश्ने तु प्रश्नाक्षेपकृतं चमत्कारं मन्यन्ते यदि सहृदयास्तदा सकृदुपादानेऽपि अलंकारत्वमस्तु ।'[2]

पण्डितराज ने प्रकारान्तर से भी भेद बताये । प्रश्नोत्तर के पद्य के अन्तर्गत और बहिर्गत होने से दो भेद । पद्यान्तर्वर्ती प्रश्नोत्तर वाला भेद पुन: दो प्रकार का हो सकता है —(१) प्रश्नोत्तर दोनों ही एक वाक्यगत (२) भिन्न-भिन्न वाक्यगत । पद्यान्तवर्ती तथा पद्यबहिर्वर्ती प्रश्नोत्तरवाले दोनों भेदों में भी अनेक भेद फिर किये जा सकते हैं —(१) सकृच्छब्दश्रुति पर्याप्त (२) शब्दावृत्तिपर्याप्त (३) अनेक प्रश्नों का एक उत्तर इत्यादि ।[3]

आचार्य रुद्रट ने[4] इस अलंकार का उद्भावन किया और आचार्य मम्मट ने भी इसका सम्यग्विवेचन किया । उन्होंने उत्तर के बाद ही जहां पूर्ववाक्य

---

१. रसगंगाधर, पृ० ७०४
२. ,, ,,
३. ,, पृ० ७०४-०५
४. काव्यालंकार, ७।६३

कल्पित किया जाय और जहां प्रश्न के अनन्तर लोकातिक्रान्तगोचरतावश असंभावनीय उत्तर हो --ऐसे दो भेद बताये । उन्होंने यह भी स्पष्ट किया कि इनके एक बार उपादान में कोई चारुताप्रतीति नहीं है, अत: अनेक बार उपादान होना चाहिये।[१] रुय्यक [२] और विश्वनाथ[३] ने भी मम्मट का ही अनुसरण किया । अप्पय ने कुछ आकूतसहित गूढ उत्तर में उत्तरालंकार माना और इसके उन्नेयप्रश्न और निबद्ध-प्रश्न भेद स्वीकार किये । उन्होंने प्रश्न तथा अन्य उत्तर से मिश्रित होने पर एक अन्य भेद 'चित्रोत्तर' भी स्वीकार किया ।[४]

पण्डितराज ने पूर्ववर्ती वर्गीकरण को स्वीकार कर भी नवीन वर्गीकरण प्रस्तुत किया । उत्तर के स्वरूप विश्लेषण में भी उन्होंने पाण्डित्य का परिचय दिया । रसगंगाधर इसी अलंकार पर्यन्त का उपलब्ध है और इस तरह बीच में टूटा है कि उनके प्रकारान्तर से प्रस्तुत वर्गीकरण का उदाहरणस्वरूप प्रथम श्लोक ही अधूरा रह गया है ।

---

१. काव्यालंकार काव्यप्रकाश, पृ० ७०८-१०

२. अलंकारसर्वस्व, पृ० २१६-१७

३. साहित्यदर्पण, पृ० ३५८

४. कुवलयानन्द, पृ० २४५-४७

सन्दर्भग्रन्थ

अग्निपुराण—आनन्दाश्रम, संस्कृत सीरीज़, ४१, पूना, १९००

अभिधावृत्तिमातृका—निर्णयसागर प्रेस, बाम्बे, १९१६

अर्थशास्त्र— त्रिवेन्द्रम संस्कृत सीरीज़, १९२६

अलंकारकौस्तुभ—कविकर्णपूर, कविकर्णपूर, वारेन्द्र रिसर्च सोसाइटी, राजशाही, १९२

अर्थसंग्रह, —पूना, ओरियण्टल बुक एजेन्सी, १९३२

अलंकार शेखर—शौद्धोदनि, केशवमिश्र—निर्णयसागर प्रेस, १९६५

अलंकारसर्वस्व—विमर्शिनी—काव्यमाला ३५, १९३९

अलंकारसर्वस्व—संजीवनी—मेहरचन्द लक्ष्मणदास, दिल्ली, १९६३

अलंकारसर्वस्व—समुद्रबन्ध—त्रिवेन्द्रम संस्कृत सीरीज, १९१५

अलंकाररत्नाकर—शोभाकर मित्र, पूना, १९४२

अलंकारकौस्तुभ—विश्वेश्वर, काव्यमाला, ६६, १८९८

आख्यातवाद—रघुनाथ शिरोमणि, बिब्लोथेका इण्डिका, एशियाटिक सोसाइटी,
आफ बंगाल, कलकत्ता—१९०१

ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी—भाग १,२, काश्मीर संस्कृत सीरीज, १९१८, २१

एकावली—के०पी० त्रिवेदी, बाम्बे, १९०३

औचित्यविचार चर्चा—काव्यमालागुच्छक—१

काव्यानुशासन—हेमचन्द्र, काव्यमाला—७०, बाम्बे, १९०१

,, —हेमचन्द्र, महावीर जैन विद्यालय, बाम्बे, १९३८

काव्यालंकार—भामह, बाल मनोरमा प्रेस, मद्रास १९५६

काव्यालंकार—भामह, बालमनोरमा प्रेस।

काव्यालंकार—रुद्रट, नमिसाधु—काव्यमाला २, १९२८

काव्यालंकारसारसंग्रह—उद्भट, प्रतीहारेन्दुराज, पूना, १९२५
तिलक—विवृति—गायकवाड़ ओ०सीरीज़, १९०६

काव्यालंकारसूत्रवृत्ति (हिन्दी)—आचार्य विश्वेश्वर, दिल्ली, १९५४

काव्यप्रकाश—वामनाचार्य फलकीकर, भांडारकर ओरियण्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट,
पूना, १६५०
काव्यप्रकाशदीपिका—सरस्वतीभवन, टेक्स्ट्स ४६, १६३३
काव्यप्रकाश — प्रदीपोद्योत, आनन्दाश्रम सीरीज़, १६२६
काव्यप्रकाश — प्रदीप, काव्यमाला, २४, १८६१
काव्यप्रकाश—साहित्य चूडामणि—त्रिवेन्द्रम संस्कृत सीरीज़, १६२६
काव्यप्रकाशप्रवेशिका— ,, ,, १६३०
सुधासागर, चौखम्बा सं०सीरीज़, १६२७
२६ सम्प्रदायप्रकाशिनी—त्रिवेन्द्रम संस्कृत सीरीज़, १६२६
२७ संकेत, गवर्नमेण्ट ओरिएन्टल लाइब्रेरी, सीरीज, ६०, मैसूर, १६२२
काव्यमीमांसा—हरिदास, संस्कृत ग्रन्थमाला, १६३४
काव्यादर्श—कमलमणि ग्रन्थमाला—७, काशी, सं० १६८८
काव्यदर्पण—राजचूडामणिदीक्षित
कवीन्द्राभरण—विश्वेश्वर
किरणावली—न्यायसिद्धान्तमुक्तावली
कुवलयानन्द—डा० भोलाशंकरव्यास—चौखंम्बा संस्कृत सीरीजग्रन्थमाला, २४, १६५६
कुवलयानन्द—चन्द्रिका, विद्यानाथ, (तत्सत्, निर्णयसागर प्रेस, १६१७
कुमारसंभव—कालिदास, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई
चन्द्रालोक — बाम्बे, १६२३
चन्द्रालोकसुधा—पंचम मयूख, गोरखपुर, १६६१
चित्रमीमांसा—'सुधा' सहित, वाणीविहार, वाराणसी—१६६५
चित्रमीमांसा—काव्यमाला, ३८, १८६३
चित्रमीमांसा खण्डन—काव्यमाला, ३८, १८६३
तन्त्रवार्तिक—कुमारिल
तत्वचिन्तामणि—शब्दखण्ड, भाग ४, वाल्यूम—२, बिब्लोथिका, इंडिका, १६०१
दशरूपक—डा० भोलाशंकर व्यास, चौखम्भा, विद्याभवन, बनारस, १६५५

ध्वन्यालोक-लोचन--- काशी संस्कृत सीरीज, १३५, बनारस, १९४०
संoसं० महामहोपाध्याय कुप्पुस्वामी, शास्त्री, मद्रास, १९४४
नाट्यशास्त्र-काव्यमाला-४२, बाम्बे, १९४३
नाट्यशास्त्र-गायक ओरियण्टल सीरीज, १९५६, ३४,४५
नाट्यदर्पण-रामचन्द्र गुणचन्द्र-गा०ओ०सी० ४८, १९३९
निरुक्त, बाम्बे
नीतिशतक-भर्तृहरि
न्यायसिद्धान्तमुक्तावली-ज्योतिष, प्र० प्रेस, बनारस, १९४०
न्यायकोश-महामहोपाध्याय भीमाचार्य, फलकीकर, बाम्बे, १८९३
पण्डितराजकाव्यसंग्रह-डा० आर्येन्द्र शर्मा, उस्मानिया वि०वि०, संस्कृत परि०
१९५८
प्रमाणवार्तिक-राहुलसांकृत्यायन, इलाहाबाद
प्रतापरुद्रयशोभूषण-बालमनोरमासीरीज, १९१४
प्रत्यभिज्ञाहृदय-अड्यार लाइब्रेरी, १९३८
भगवद्भक्तिरसायन-टीका मधुसूदन, सरस्वती
भारतीय साहित्यशास्त्र और काव्यालंकार-डा० भोलाशंकरव्यास, चौखम्भा विद्या-
भवन, वाराणसी, १, १९६५
महाभारत, कुम्भकोणम्, चित्रशाला प्रेस तथा भं०ओ०रि०इं०- ३० वां संस्करण
महाभाष्य-निर्णयसागर प्रेस, १९५१
योगसूत्र-आनन्दाश्रम, सीरीज, ४७, पूना, १९०४
रसगंगाधर-टी०जी० सिद्धप्पराध्यो, बंगलौर, १९६५
रसगंगाधर, सं० गंगाधर शास्त्री, बनारस, संस्कृत सी०, १८८९
रसगंगाधरचन्द्रिका सहित, चौखम्बसंस्कृत सीरीज, , १९५५
रसगंगाधर (हिन्दी) पुरुषोत्तम चतुर्वेदी, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी
रसगंगाधर -मधुसूदन शास्त्री, हिन्दूयूनिवर्सिटी, २०२०
रसगंगाधर (मराठी अनुवाद) प्रो० रा०व०आठवले , तिलक महाराष्ट्र विद्यापीठ,
पूना।
रसगंगाधर-~~टी०जी० सिद्धप्पराध्यो, १९५३~~ निर्णय सागर प्रेस, षष्ठ संस्करण,

रसगंगाधर का शास्त्रीय अध्ययन—डा० प्रेमस्वरूप गुप्त, भारत प्रकाशन मन्दिर अलीगढ़, १९६२

रसगंगाधरमर्मप्रकाशमर्मोद्घाटनम् — जग्गूवेंकटाचार्य, बंगलौर, १९३३

रघुवंश—कालिदास

रसतरंगिणी—भानुमिश्र, वेंकटेश्वर, प्रेस , बाम्बे, १९३४

रामायण—कुम्भकोणम्

लिंगपुराण—बाम्बे, १९०६

वाक्यपदीप—हेलाराज, बनारस, १९०५

वाक्यप्रदीप—काण्ड ३, भाग १, के०ए० सुब्रणियार अय्यर, पूना, १९६३

वक्रोक्तिजीवित (हिन्दी) दिल्ली, १९५५

वक्रोक्तिजीवित, एस०के० दे, कलकत्ता, १९२८

वाग्भटालंकार—निर्णयसागर प्रेस, १९१५

विक्रमोर्वशीय—कालिदास

वेदान्तसार—ओरियण्टल बुकएजेन्सी, १९२९

वैयाकरणसिद्धान्तलघुमंजूषा—पं० सभापति शर्मोपाध्याय, १९२९

वृत्तिवार्तिक—काव्यमाला—३६, १९१०

व्यक्तिविवेक—त्रिवेन्द्रम सं० सीरीज, १९०९

व्यक्तिविवेक—काशीसंस्कृत सीरीज, १२१, बनारस, १९३६

शक्तिवाद—वेंकटेश्वरप्रेस, बम्बई, १९७०

शबरभाष्य—जैमिनि सूत्र

सरस्वतीकण्ठाभरण—काव्यमाला, ९५—१९२५

साहित्यदर्पण—शालग्राम शास्त्री, मोतीलाल बनारसीदास, १९५६

साहित्यरत्नाकर—अड्यार लाइब्रेरी, अड्यार, १९५९

साहित्यरत्नाकर—धर्मसूरि, सं०टी०टी०ताताचार्य

ए वाल्यूम आफ ईस्टर्न एण्ड इण्डियन स्टडीज—इन आनर आफ एफ०डब्ल्यू टामउ,
बाम्बे, १९५९

भोजाज शृंगारप्रकाश—डा० वी० राघवन्, मद्रास, १९६३

कान्सेप्ट आफ रीति एण्ड गुण—पी०सी० लाहिड़ी

इण्डियन एस्थेटिक्स—वाल्यूम १।३ कान्तिचन्द्र पाण्डेय,बनारस, १९३५

हिस्टरी आफ इण्डियन फिलासफी, सुरेन्द्रनाथ दास गुप्त

हिस्ट्री आ संस्कृत पोइटिक्स—महामहोपाध्याय पाण्डुरंग वामन काणे, दिल्ली,६१

हिस्ट्री आफ संस्कृत पोइटिक्स—सुशीलकुमार दे, कलकत्ता, १९६०

जगन्नाथ पण्डित- वी रामस्वामी शास्त्री, अन्नामलाई, १९४२

आउटलाइन्स आफ अलंकार लिटरेचर, इण्डियन एन्टिक्वेरी, १९१२

साइकालाजिकल स्टडीज इन रस—डा० राकेश,१९५०

ऋग्वेदिक रिपटीशन्स—एम ० ब्लूम फील्ड, कैम्ब्रिज,१९१६

वैदिक वैरिएन्ट्स, ब्लूमफील्ड, एडगर्टन, फिलाडेल्फिया, १९३०-३४

सम आस्पेक्ट्स आ लिटरेचरी क्रिटिसिज्म आर थियरी आफ रस एण्ड ध्वनि,
—ए संकरन्, मद्रास, १९२९

सम कान्सेप्ट आफ अलंकारशास्त्र, डा० वी० राघवन्, मद्रास, १९४२

स्टडीज इन संस्कृत पोइटिक्स, शिवप्रसाद भट्टाचार्य, कलकत्ता, १९६४

द नम्बर आफ रसाज, डा० पी० राघवन् , मद्रास, १९४०

द एस्थैटिक एक्स्पीरिएन्स एकार्डिंग टु अभिनव गुप्त —आर ग्नोली, रोम, १९५६

कलकत्ता ओरियण्टल जर्नल—वाल्यूम—३, नं० ३ पृ० ४१-५१

जर्नल आफ अन्नामलाई युनिवर्सिटी, वाल्यूम, २,३,४